श्रीहरिः

महाकवि 'नंददास' प्रणीत

भ्रमर-गीत

(टिप्पणी और समभाव-द्योतक सूक्तियोंसहित)

संपादकः

जवाहरलाल चतुर्वेदी

प्रकाशक :

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

महाकवि 'नंददास' प्रणीत

भ्रमर-गीत

मुद्रक तथा प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१९ प्रथम संस्करण १०,०००

मूल्य १.५० (एक रुपया पचास नये पैसे)

"श्रीहरिः"

संपादकीय

हिंदी-जननी "व्रजभाषा-साहित्य" में "भ्रमर-गीत", वा "भँवर-गीत"-रूप काव्य-सृजनकी परंपरा उस "श्रीमद्भागवत महापुराण" से आयी, जिसके प्रति—

"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं,
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतं ।
पिबत भागवतं रसमालयं,
मुहुरहो रसिका भुविभावुकाः ॥"

—भा० १, १, ३,

जैसी लोकानंददायिनी अनेक सरस-सूक्तियाँ स्तुति-रूपमें कही-सुनी जाती हैं। अतः हिंदी-साहित्यमें संस्कृतसे उधार लिया गया यह साहित्य मौलिक रूपमें उस मूलसे कहीं अधिक फला-फूला, यह निस्संदेह कहा जा सकता है। भक्त-कवियोंने तो इस हीरे-जैसे उजले विषयमें अपनी-अपनी प्रतिभा-द्वारा "चार चाँद" ही लगा दिये। उदाहरणके लिये यह "श्रीनंददासजी"-प्रणीत "भ्रमर" वा "भँवर-गीत" प्रस्तुत है। यों तो इस स्तुत्य विषयपर 'अष्टछाप' के सुप्रसिद्ध साहित्य-सूर्य "सूरदासजी" एवं "परमानंददासजी"के साथ-साथ रीति-कालके और भी महामान्य कवियोंने, जिनकी संख्या उँगलियोंपर नहीं गिनायी जा सकती, कलम चलायी है, इस पावन विषयको उन्होंने चमकाया भी खूब है, किंतु जैसा श्रीनंददासजीने गुननगरूले नये छंदकी गागरमें सम्पूर्ण भावोंका 'सागर' भरा है, वैसा दूसरे कवियोंसे नहीं बन पड़ा है। सच तो यह है कि यह विरह-विभूषित-काव्य-विषय श्रीनंददासजीकी नवरसमयी मुहावरेदार व्रजभाषाको पाकर सुगठित-रूपमें इतना ऊँचा उठा हुआ है कि उसकी समसरि कोई भी कवि नहीं कर सका है। तभी तो साहित्य-मर्मज्ञोंने आपके प्रति—

और कवि गढ़िया नंददास जड़िया ।

कहा है। वास्तवमें महाकवि श्रीनंददासजी शब्दों और भावोंके सच्चे 'जड़िया' ही थे ' ''''।

"श्रीनंददासजी-कृत ग्रंथ"

महाकवि श्रीनंददासजीकृत निम्नलिखित ग्रंथ देखने और सुननेमें आते हैं—"पाँच मंजरियाँ (रसमंजरी, विरहमंजरी, रूपमंजरी, अनेकार्थ-मंजरी, नाममंजरी), रासपंचाध्यायी, भ्रमर-गीत, रुक्मिणीमंगल, भागवत-दशमस्कंध पूर्वार्द्ध, (अनुवाद), श्यामसगाई सिद्धांतपंचाध्यायी, गोवर्धनलीला, जोगलीला, दानलीला, वेणुगीत, सुदामाचरित्र, कृष्णमंगल, ध्यानमंजरी, नासकेत पुराण, प्रबोध चंद्रोदय नाटक, फूलमंजरी रानी मंगो विज्ञानार्थ प्रकाशिका, हितोपदेश (राजनीति हितोपदेश—भाषा) और फुटकल पदावली '।" इस नामावलीमें—"पाँचों मंजरियाँ, रास-पंचाध्यायी, भ्रमर-गीत अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और अनेक स्थानोंसे अनेक बार प्रकाशित भी हुए हैं। बाकीके आपके ग्रंथ-रत्न यत्र-तत्र बिखरे हुए पड़े थे, जिन्हें संपादकने बड़े परिश्रमसे संग्रह किया है। अतएव इन सभी रम्य रचनाओंमें भाषाका लालित्य, कहनेका ढंग, विषयानुकूल स्थानकोंकी उठान, "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्—रसनिष्पत्ति" अर्थात् रसोंका सरस रूप, अलंकार, ध्वनि-व्यञ्जना—इत्यादिका उद्भव और विकास आपके पद-पद और शब्द-शब्दमें फूटा पड़ता है।

"कवि-जीवनी"

अष्टछापके श्रीसूरदास इत्यादि प्रात स्मरणीय महाकवियोंकी भाँति भाषा-सम्राट् श्रीनंददासजीका "जीवन-वृत्त" भी अभी तथ्य रूपसे सामने नहीं आया है। वह समयके धुँधले पृष्ठोंपर खेल रहा है, फिर भी श्रीगोकुलनाथजीकृत वार्ता तथा उसपर श्रीहरिरायजीकृत "भाव-प्रकाशिका" टीकाके अनुसार कहा जा सकता है कि आपका जन्म 'सोरों' (पुराण-प्रसिद्ध—सूकरक्षेत्र) के पास 'रामपुर' ग्राममें प० आत्मारामजी शुक्ल सनाढ्य ब्राह्मणके घर सं० "१५९० वि०" के आसपास हुआ था

और लीलाप्रवेश (निधन) "सं०—१६७२ वि० में "गोवर्धन"—व्रज···। संप्रदाय-प्रवेशका समय भी "सं०—१६०६ वि०" कहा-सुना जाता है। अस्तु, ये आपके जन्मादि-सूचक संवत् जब आपकी रचनाओंका अंतरंग-अनुशीलन करते हैं तो वे कुछ उचित प्रतीत नहीं होते—आगे-पीछे हटते-से नजर आते हैं, किंतु, जन्मादि-समय कुछ इधर-उधर भले ही हो, पर यह निश्चित-सा है कि आप "सोरों—रामपुर" के निवासी, सनाढ्य ब्राह्मण आत्मारामजीके पुत्र, भाई प्रसिद्ध साहित्य-शशि गो० तुलसीदासजी, तथा आपके पुत्र "कृष्णदास" थे—इत्यादि······। हम यहाँ उपर्युक्त जन्मादि-सूचक विवरणके साथ आपके पुरातन प्रशंसक "श्रीनाभादासजी," तथा "श्रीध्रुवदासजी" की वे सरस सूक्तियाँ देनेका लोभ-संवरण नहीं कर पा रहे हैं, जो उन्होंने श्रीनंददासजीके जन्मादिके प्रति ही नहीं, उनके कृत्वके प्रति भी कहीं हैं, जैसे—

"लीला-पद-रस-रीति-ग्रंथ-रचना में आगर।
सरस उक्ति रस-जुक्ति, भक्ति-रस-गाँन उजागर॥
प्रचुर पयोध-लों सुजस, 'राँमपुर' ग्राँम-निवासी।
सकल 'सुकुल' संवलित, भक्त-पद-रेंन-उपासी॥
'चंद्रहास-अग्रज' सुहृद, परँम-प्रेम-पद्‌ में पगे।
'श्रीनंददास' आँनंद-निधि, रसिक सु तँन-मँन रँगमगे॥"

—"नाभादास"

"'नंददास' जो कछु कह्यौ, राग-रंग में पागि।
अच्छर सरस सनेह के, सुँनत स्रवँन उठ जागि॥
रँमन-दसा अदभुत हती, करत कवित्त सुढार।
बात प्रेंम की सुनत-ही बहत नेंन-जल-धार॥
सरस बावरौ-सौ फिरै, खोजत नेहिँ न-बात।
आछे रस की बात सुँनि, बेगि बिबस ह्वै जात॥"

—"ध्रुवदास"

—इत्यादि···। श्रीनंददासजीके इस जीवन-संबंधके प्रति एक बात और,

वह यह कि जैसा ऊपर लिख आये हैं —"आप (नंददास) प्रसिद्ध "श्रीरामचरितमानस"-रचयिता भक्त-प्रवर गो० तुलसीदासजी"के छोटे भाई थे।" इस बातकी पुष्टि "भक्तमाल"-रचयिता नाभादासजीसे आदि लेकर अन्य सभी भक्त-जीवनी लेखकोंने की है। श्रीगोकुलनाथ-कृत 'वार्ता' तथा उसपर टीका-कर्ता श्रीहरिरायजी भी यही कहते हैं। साथ ही ये सभी पुष्टिकर्ता श्रीनंददासजीके सम सामयिक भी हैं, अतः उन्हें अपनी कल्पनासे झुठलाता हुआ आजका संकुचित हृदय साहित्यिक इसे स्वीकार नहीं करता! क्यों? इसका समुचित उत्तर उसके पास नहीं है। वह इन सत्य-समुन्नत साक्षियोंको न मानकर बिना आधारके अपनी असत्य-मान्यताको प्रश्रय देता चला आ रहा है।

"भ्रमर-गीत"

भ्रमर-गीत, एक विरह-विभूषित काव्य-कथाका विषय है, किन्तु उसे विशेष-रूपसे भक्ति, शृंगार और करुण रसोंका रम्य आगार, निर्गुण-सगुण-उपासना-तत्त्वोंका प्रभावशाली विस्तृत सागर तथा ज्ञान-भक्तिका भव्य भंडार भी कहा जा सकता है। कारण, भक्त-कवियोंने जहाँ इस 'देव-दुर्लभ' मिश्रणके सहारे "अनेकजन्मसंसिद्धि"-रूप "मुक्ति-चतुष्टय" जैसे महान् पदार्थको ठुकराकर अपने उपास्यसे "विरहविकांक्षे" की याचना की है, वहाँ 'रीति-कवियों' ने इस विषयके द्वारा शृंगार रसको पूर्ण बनानेका अत्युत्तम उपक्रम किया है। अस्तु, जैसा पूर्वमें कहा है, इसका मूल-कथानक 'श्रीमद्भागवतमें' इस प्रकार है—

"ब्रजमें जब अपनी अनेक रस-भाव-भरी ललित लीलाएं रचकर— "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" कंस के बुलावेपर अक्रूरके साथ निष्ठुर भावापन्न हो मथुरा पधारे और कंसादिक-असुरोंका संहार कर अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवजीको बंदी-गृहसे छुड़ा महाराज उग्रसेनको पुनः मथुराकी राजगद्दीपर बैठाल दिया, तब अपनेसे बिछुड़े उन प्यारे ब्रजवासियों तथा "प्रेमपुंजा-रसरूपनी" ब्रज-ललनाओंकी याद आयी, जिन्होंने—

"संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलं"

रूप मूल-मंत्रको निरंतर जपकर अपने जीवनोंको आपपर उत्सर्ग कर दिया था, अतः तद्भाव-विभोर होकर आपने—

"वृष्णीनां प्रवरो मंत्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥"

—भा० १०, ४६, १,

को उन लोगोंके सान्त्वनार्थ, वा अपने इस निर्गुणवादी नये सखाको अपने-जैसा रस-सगबगा बनाने, कोरे ज्ञान-गर्वीले उद्धवको पुनीत प्रेममें परिणत करनेके लिये व्रज भेजा…। अतः व्रज पहुँचकर श्रीउद्धवने पहले बाबा श्रीनंद और माता यशोदा तथा ग्वाल-बालोंके साथ मिले और उन्हें भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय संदेश दिया। उसके बाद आप 'व्रजबालाओं'से मिले और उन्हें आप भगवत्प्राप्त्यर्थ ज्ञानादिके कड़वे काढ़ेको प्रिय-संदेशकी मिसरीमें मिलाकर पिलाना चाहा तो बात बढ़ गयी, फलस्वरूप ज्ञान और भक्तिका संघर्षमय संवाद चल पड़ा। जब वह जय-पराजयकी तुलामें इधर-उधर लुढ़क ही रहा था कि कहींसे उड़ता हुआ एक रस-लंपट भँवरा, जो अपने रूप-गुणोंके कारण गोपियोंको कृष्णके समान, जैसे—

"तेरौ तन घनस्याँम, स्याँम घनस्याँम उतै सुनि।
तेरी गुंजन सुरलि, मधुप उत मधुर मुरलि-धुनि ॥
पीत-रेख तव कटि-बसै, उत पीतांबर चारु।
बिपिँन-बिहारी दोउ लसत, एकै रूप सुभाउ ॥

—जुगल रस के चखा,"

—वहाँ आ पहुँचा और बिरह-विलुलित व्रज-वनिताओंके अरुण-कमल-दलके समान पाद-पद्मोंपर गुन गुन करता हुआ बैठने, अथवा उन्हें चूमनेको मँड़राने लगा तो प्रेम-रस-विह्वला गोप-ललनाओंके श्रीमुख खुल गये तथा उस उपस्थित भ्रमरकी ओटमें छिपे प्रेमका ढोंग रचनेवाले मथुरिया कृष्णके प्रति जो-जो तीखे, फिर भी मधुरसे मधुरतर तीर छोड़े गये, वही "भ्रमर"

वा "भँवर गीत" के विषय रूपमें वर्णनीय बना। अस्तु " " जड़िया नंददासजीने इस भागवत-वर्णित शृंगार-रसमें सिंचित भक्ति वा प्रेम अथवा ज्ञानके विस्तृत चौगानमें ज्ञानी उद्धव और प्रेम-योगिनी गोपियों-द्वारा निर्गुण-सगुणकी गोटोंमें खेले गये इस खेलको अपने ढंगसे अपनाया और उसे बेहद सजाया—तर्क-वितर्कके हृदयहारी बटखरोंसे तोल-तोलकर संपूर्ण सरस वर्णन इस अनोखी भाँतिसे प्रस्तुत किया कि जन जनके चुटीले हृदयोंका हार बन गया।

संपादन कथा

इस "प्रेम लपेटे अटपटे"-भव्य भावोंसे भरे "भ्रमर-गीत"-संपादन-प्रकाशनकी भी अनेक दुःख-सुखोंसे पगी एक विशद कथा है, जिसे चिर-प्रेक्षित प्रकाशनके समय कहना नहीं चाहता, फिर भी उस गाँठ-गठीली अकथ-कथाके प्रति इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि 'श्रीनंददासजी'के इस गुननगरूले ग्रंथका प्रकाशन आज दो युगोंके बाद हो रहा है। प्रेस-कापी वर्षों इधर-उधर अनेक मान्य विद्वानोंके करकमलोंमें खेलती हुई उनके सद्विचारोंसे भी अलंकृत और पल्लवित होती रही। इन मान्य महानुभावोंमें पहलेके "बाबूजी" और अबके "राजर्षि" श्रीपुरुषोत्तमदासजी टंडन, श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय, पंडितप्रवर श्रीझाबरमल्ल शर्मा तथा डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल प्रमुख हैं, अतः संपादक—

"अन्ये चापि महाभागाः सहाया ग्रथ-निर्मितौ।
ते सर्वे सुप्रसीदन्तु नामतो न स्मृता मम॥"

के साथ इनका अति ऋणी है। साथ-ही परम भक्त विद्वद्वर श्रीहनुमान-प्रसादजी पोद्दार संपादक—"कल्याण", जिन्हें हम जैसे क्षुद्र लोग प्रेम-वश "अपना" बनानेके लिये "भाईजी" कहा करते हैं, के भी अति आभारी हैं, जिन्होंने अनेक-बार कड़वे उलाहनोंको सहकर भारतके सुप्रसिद्ध प्रेस—"गीताप्रेस"में मुद्रित करा सुंदर रूपमें प्रकाशित किया है।

संपादनकी आधार-भूत बीसों हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियोंका लेखा-जोखा भी आज प्रकाशनके समय स्मृति-पटलसे ओझल हो गया है,

जिसका हमें खेद है। न मालूम कितने स्थानोंसे अमूल्य हस्त-लिखित तथा मुद्रित प्रतियाँ एकत्रित की गयी थीं। उनमें तीन जैसे— "भरतपुर-राज्य पुस्तकालयकी सबसे प्राचीन और शुद्ध प्रति तथा बा० राधाकृष्णदास संपादित "हरिश्चंद्र-चंद्रिका" में और बा० बालमुकुंद गुप्त संपादित "भारत-मित्र" प्रेस कलकत्तासे प्रकाशित प्रतियोंको नहीं भुलाया जा सकता। अंतिम दोनों आदरणीय मुद्रित प्रतियाँ ब्रजभाषाके सौष्ठवसे—व्याकरणसे अलग हैं, फिर भी नमन-योग्य हैं, क्योंकि आप लोगोंने इसे मुद्रणका अमृत पिलाकर विकृत-रूपमें सही,—जीवित रक्खा है। साथ-ही संपादक उन महानुभावों, कवियों तथा ग्रंथ-रचयिताओंका भी बहुत-बहुत ऋणी हैं, जिनकी कोमलकांत पदावलियों एवं विद्वत्ताभरे विचारोंसे विभूषित कर इसे इतना पल्लवित किया गया है। और, अंतमें यह भी कि मुद्रणसे पूर्व प्रेस-कापी देखनेमें न आयी, सो न आयी। प्रूफ भी, विशेषकर आगेके तीन फर्मोंका जिनमें मूल छपा है, तब देखनेमें आया जब संपादक अधिक रुग्ण था, अतः उसमें गलतियोंका रह जाना कोई आश्चर्य-जनक नहीं। उदाहरणके लिये पृ०—"३५" पर मूलकी अंतिम पंक्ति "सुँनों नँद-लाड़िले" के स्थानपर "सुनों नँद-लड़िले", तथा पृ०—८३, पं० ११—पर "धोंधी" के स्थानपर—"नैधी" तथा इसी भाँति पृ०—२३९, पं०—७ पर "छ्वै छिगुनी" के स्थानपर "ह्वै द्विगुनी" छप गया है। इस प्रकारकी और भ्रांतियाँ भी होना संभव हैं, अतः संपादक उनके लिये क्षमा-प्रार्थी है, विज्ञ-पाठक उन्हें उचित रूपमें परिष्कृत कर लेंगे ऐसी आशा है।

मथुरा
"राम-नवमी"
संवत् २०१९ वि० } —जवाहरलाल चतुर्वेदी



अनुक्रमणिका

उद्धृत पद-सूची

श्रीहरिः

उद्धृत पद-सूची

"संस्कृत"

"श्री"

उद्धृत पद-सूची

"हिंदी"

उद्धृत पद-सूची

"उर्दू"



श्रीः

भ्रमर-गीत

(महा-कवि 'नंददास' प्रणीत)

१

ऊधौ कौ उपदेस सुनों ब्रज-नागरी।
रूप, सील, लावन्य सबै गुँन-आगरी॥
प्रेम-धुजा रस-रूपनीं, उपजावँन सुख-पुंज।
सुंदर-स्याँम-बिलासिनीं, नव बृंदावँन कुंज॥
—सुनों, ब्रज-नागरी॥

२

कहँन-स्याँम-संदेस-एक मैं तुम्ह पै आयौ।
कहत समैं संकेत कहूँ औसर नहिं पायौ॥
सोचत-ही मन मैं रह्यौ, कब पाऊँ इक-ठाँउँ।
कहि-सँदेस नँदलाल कौ, बौहौरि मधुपुरी जाँउँ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी॥

३

सुनति स्याँम कौ नाँम, काँम, घर की सुधि भूलीं[1],
भरि आँनद-रस हृदै, प्रेम-बेली-द्रुम-फूलीं।
पुलकि-रोम सब अँग छए, भरि आए जल-नैंन,
कंठ-घुटौ गद-गद-गिरा बोले आत न बैंन॥
—विवस्था-प्रेम की॥

४

अरघासँन बैठाइ बौहोरि-परिकंमा दीन्ही,
स्याँम-सखा-निज-जाँनि, बहोत हित-सेवा कीन्ही[2]।
बूझति सुधि नँदलाल की, बिहँसति-मुख ब्रज-बाल,
नीके हैं बल-बीर जू, बोलत-बचँन-रसाल॥
—सखा सुन स्याँम के॥

५

कुसल स्याँम औ रांम, कुसल संगी सब उन्हके,
जदु-कुल सिगरे कुसल, परँम-आँनंद सबँन्ह के।
बूझँन-ब्रज-कुसलात कौं, हौं आयौ तुम्ह-तीर[3],

पाठान्तर—

३—१. (क) सुनँत स्यॉम कौं नाम धाँम घरकी सुधि भूली।
(च) सुँनति स्यॉम कौ नाँम धाँम, गृहकी सुधि भूली।
—अति हृदय[1] ......।

४—२. (ग) सखा-स्यॉम कौं जानि बहुरि सेवा पुनि कीनी।

५—३. (घ) ०......मैं पठयौ तुम्ह०...... ।

मिलि हैं थोरे-दिनँन मैं जिन्ह जिय होहु अधीर ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

६

सुनि-मोंहँन-संदेस, रूप-सुमरँन ह्वै आयौ[1],
पुलकित-आँनन-कँमल, अंग-आवेस जनायौ[2]।
बिहवल ह्वै धरनीं परीं, ब्रज-बनिता मुरझाइ,
दै जल-छींट-प्रबोध-हीं, ऊधौ-बैंन-सुनाइ[3] ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी[4] ॥

७

वे तुम ते नहिं दूरि, ग्याँन की आँखिन-देखौ,
अखिल-बिस्व-भरपूर, रूप सब उनहिं बिसेखौ[5] ।

पाठान्तर—

६—१. (त) सुनत स्याँम कौ नाँम०..........
(प) मोंहन-सुनि संदेस..............,
२. (च) पुलकत आनन-अलक............
अथवा—
(त) पुलकत आनन अंग-अंग आवेस जनायौ ।
(प) ....अंग सकल............
३. (क) ऊधव-बात सुनाय,
४. (प)—प्रैंम जुत ग्यान मैं ।
७—५. (ख), (प), (च), ब्रह्म में रूप बिसेखौ,
अथवा—
(ट) ब्रह्म सब रूप बिसेखौ,

लोह, दारु, पाखाँन में, जल, थल, मही, अकास,
सचर-अचर बरतत सबै, जोति-ब्रह्म-परकास।
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

८

कौन ब्रम्ह, को जोति, ग्यॉन कासों कहं ऊधौ, ?
हमरें सुंदर-स्याँम, प्रेम कौ मारग-सूधौ।
नैंन, बैंन, स्रुति, नासिका मोंहँन-रूप लखाइ,
सुधि-बुधि-सब मुरली-हरी, प्रेम-ठगोरी लाइ ॥
—सखा, सुन स्याँम के ॥

९

यै सब सगुँन उपाधि, रूप-निरगुँन है उँन्ह कौ,
निरबिकार, निरलेप, लगत नहिं तीन्हों-गुँन्ह कौ।
हाथ-पाँइ नहिं नासिका, नैंन, बैंन नहिं काँनें,
अच्युत जोति प्रकास हीं, सकल बिस्व के प्राँनें ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

पाठान्तर—

९—१. (क) प, द, न—सगुँन सबै उपाधि रूप-निर्गुन है उनकौ, ...

२. (ख) निराकार, निर्लेप, लगैं ना तीनौं-गुन कौ।

३. (ग) पाँइ न हाथ न नासिका, बैंन नैंन नहिं कान,

४. अच्युत ज्योति प्रकासिका, सबै बिस्वुके प्रान।

अथवा—

ज्योति-हि-ज्योति प्रकास कै अखिल बिस्व के प्रान।

१०

जो मुख नाहिंन हुतो, कहौ किन्ह-माँखन-खायौ,
पाँइन-बिन गो-संग कहौ, बन-बन को धायौ।
आँखिन में अंजन दियौ, गोवरधँन लियौ हाथ,
नंद-जसोदा पूत है, कुँवर काँन्ह ब्रज-नाथ ॥
—सखा, सुन स्यामके ॥

११

जाहि कहौ तुँम्ह कान्ह! ताहि कोउ पिता न माता,
अखिल-अंड-ब्रम्हंड सकल उन्ह-हीं सौं जाता।
लीला कौ अवतार लै, धरि आए तँन-स्याम,
जोग-जुगति ही पाइऐ, परब्रम्ह-पुर-धाँम ॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी ॥

पाठान्तर—

११—१. (च) (प) कहौ जाहि तुम कान्ह, ताहि कोउ पितु नहिं माता।

२. (छ) सकल अंड ब्रम्हंड बिस्वउनहीं तैं जाता,

अथवा—

(छ) सबै अंड ब्रम्हंड-लोक उनहीं सौं जाता,

३. (त) जुगति-जोग की पाइयै पारब्रम्हं-पद-धाम।

अथवा—

(क) (प) जोगै-जौगै पाइयत, परब्रह्म-पद-धाम

१२

ताहि बताओ जोग, जोग ऊधौ जहाँ पावौ,[1]
प्रेम-सहित हम-पास, नंद-नंदन-गुन गावौ।[2]
नैन, बैन, तन, प्रान में, मोहन-गुन रह्यौ पूरि,[3]
प्रेम-पियूषै छाँड़िकैं कौन समेटै धूरि॥
—सखा, सुन स्याम के॥

१३

धूरि बुरी जो होइ, ईस क्यों सीस-चढ़ावै,
धूरि-छेत्र में आइ, करँम-करि हरि-पद पावै।
धूरहिं ते यै तँन भयौ, धूरहिं तें ब्रम्हंड,
लोक-चतुरदस धूरि ते, सात-दीप नौ-खंड॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी॥

१४

करँम-धूरि की बात, करँम-अधिकारी जाँनैं।
करँम-धूरि क्यों आँनि, प्रेम-अंमृत में माँनैं॥

पाठान्तर—

१२—१ (क)(च) वाहि बतावौ जोग, जोग ऊधत्र जेहि भावै,
२. ,, ,, प्रेम-सहित जो पास, स्याम-सुंदर गुन गावै।
३. (६) ,, बैन, नैन, मन, प्रान मैं, मौहन-गुन भरि-पूरि,
१३—४. (क)(च)(प) लोक—चतुर्दस धूरि तैं, सप्त-दीप, नव-खंड।

तब हीं लौं सब करम हैं, जब लौं हरि उर नाहिं ।
करँम-बंध सब बिस्व के, जीव-बिमुख ह्वै जाहिं ॥
—सखा, सुन स्याँम के ॥

१५

करँमहिं निंदौ कहा ? करँम सों सदगति होई[1] ।
करँम-रूप ते बली नाहिं, त्रिभुवँन में कोई[2] ॥
करँमहिं ते उतपत्ति है, करँमहिं ते सब नास ।
करँम-करे ते मुक्ति होइ, परब्रम्ह-पुर-बास[3] ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

१६

करँम पाप औ पुन्न, लोह-सोंने की बेरी ।
पाँइन बंधँन दोऊ, कोऊ मानों बौहतेरी ॥
ऊँच-करँम ते सरग है, नीच-करँम ते भोग ।
प्रेंम-बिनाँ सब पचि मरे, बिषै-बसनाँ-रोग[4] ॥
—सखा, सुन स्याम के ॥

पाठान्तर—

१५—१. (प) (६) तुम कर्महिं कस निन्दत, जासौं सद्गति होई,
अथवा—(ट) (च) कस तुम कर्मैं निन्दति, सद्गति जासौं होई ।
अथवा—(त) तुम निन्दति का कर्मैं सद्गति जातैं होई ।
२. (प) (त) बली कर्म तैं नाहिं अहो त्रिभुवन में०···
३. ,, ,, कर्म किए तैं मुक्ति है पारब्रम्ह-पुर-बास ।
१६—४. (क) (प), बिनाँ प्रेंम सब पचि मुए, विषय-बासना-रोग,
अथवा—(च) बिना प्रेंम पचि सब मरैं ········

१७

करँम बुरे जो होहिँ, जोग क्यों फिरि कोउ धारै[1] ।
पदमाँसन सों द्वारि-रोकि, इंद्रिँन्ह कों मारै[2] ॥
ब्रम्ह-अगिन सों सुद्धि ह्वै, सिद्धि-समाधि लगाइ[3] ।
लीन होइ सायुज्ज में, जोति-हिं-जोति समाइ[4] ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

१८

जोगी जोगहिं भजै, भक्त-निज-रूपहि जाँनैं,[5]
प्रेम-पीयूषहिँ प्रघट, स्याँम-सुंदर-उर-आँनैं ।
निरगुँन गुॅन जो पाइऐ, लोग कहैं यै नाँहिं,
घर-आऐं-नाग-न-पूंजिऐ, बाँमी-पूंजँन जाँहिं[6] ॥
—सखा, सुन स्याँम के ॥

पाठान्तर—

१७—१. (त) (प) कर्म बुरो जौ होइ जोग कोउ काहे धारै,
अथवा—(क) (ग) बुरे करम जौ होइँ जोग काहे कोउ धारै,
२. ,, ,, पद्मासन सब द्वार-मूंदि इन्द्रिन क्यों जारै ।
३. (ख) ब्रह्म-अग्नि-जरि सुद्ध ह्वै...... ...
४ (ग) होइ लीन साजुज्य में जोतै-जोति जगाइ ।
१८—५ (ट) (उ) (त) जोगी जोतै भजै, भक्त निज रूपै जानै ।
अथवा—(च) (ठ) (प) जोतहिं जोगी भजहिं भक्त निज रूपहि जानै ।
६ (क) (ख) नाग न घर आऐं पूंजै पुनि बाँबी पूँजै जाहिं ।

तरनि-चंद्रके रूप कौ गुन नहिं पायौ जाँनं,[1]
तौ उनकौ कहा जानिऐं, गुनाँतीत-भगवाँनं ।।[2]
—सुनौं, ब्रज-नागरी ।।

२४

तरँनि, अकास-प्रकास, जाहि मैं रह्यौ दुराई,[3]
दिव्य-दृष्टि-बिन कहौ कौंन पै देख्यौ जाई[4] ।
जिनकें वे आँखें नहीं, देखें क्यों वै रूप,[5]
तिन्हें साँच क्यों ऊपजै, जे परे करँम के कूप[6] ।।
—सखा, सुन स्याँम के ।।

२५

वे करिऐ नित करँम, भक्ति हू जामें आई,[7]
करँम रूप तें कहौ कोंन पै छूट्यौ जाई ।

पाठान्तर—

१. (ठ) तरन-चन्द्र के रूप कौ नहिं पायौ गुन जान।
२. (घ) उनकौं तौ जानै कहा, गुनातीत भगवान ।।
अथवा— (ख) जानैं उनकौं कोउ कहा ....
२४—३. (च) (प) तरनि प्रकास अकास तेज मैं रह्यौ दुराई,
४. ,, ,, दृष्टि-दिव्य बिनु नाहिं काहु पै देख्यौ जाई ।
५. ,, ,, जिनकी वे आँखै नहीं कब देखैं वह रूप,
६. ,, ,, क्यों उपजै बिस्वास जे परे कर्म के कूप ।
२५—७. (च) (ट) (प) जब करियै नित कर्म,
अथवा— (क) (फ) करियै नित वह कर्म......

२१

माया के गुँन और, औंर गुँन हरि के जानौं,
उँन्ह गुँन कौं इँन्ह माँहिं आँनि काहें कौं साँनौं।
जाके गुँन औ रूप कौं, जाँनि न पायौ भेद,
तासौं निरगुँन-ब्रंम्ह कौं, बदत उपनिषद्-वेद॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी॥

२२

वेदहु हरिके रूप, स्वाँस-मुख सौं जो निसरे,
करँम-क्रिया-आसक्ति सबै पिछली-सुधि बिसरे।
करँम-मध्य ढूंढति सबै, किन्हूँ न पायौ देखि;
करँम-रहित ही पाइए, तासौं प्रेंम-बिसेखि॥
—सखा, सुन स्याँम के॥

२३

प्रेंम जु कोइ वस्तु, रूप देखत लौं लागै,
वस्तु-दृष्टि-बिन कहौ, कहा प्रेंमी अनुरागै।

पाठान्तर—

२१—१. (च) तातैं निरगुन ब्रह्म कहि बदैं उपनिषद्-वेद,॥
२२—२ (क) (ग) (प) वेद जु हरि के रूप, स्वाँस-मुख तैं निकरे,
३ ,, ,, ,, करम-मध्य ढूँढैं सकल तबहूँ न पायौ देखि,
४ (च) (ट) (ग) कर्म-रहित ह्वै पाइएँ तातैं प्रेंम-बिसेखि।
२३—५ (ख)(ग)(ट) प्रेंम न कोउ वस्तु, जु देखत में कछु लागै,
अथवा—(ड) प्रेंमहिं का कोउ वस्तु,……………

२१

माया के गुँन और, और गुँन हरि के जानों,
उँन्ह गुँन कों इँन्ह माँहिं आँनि काहेँ कों सॉनों ।
जाके गुँन औ रूप कौ, जाँनि न पायौ भेद,
तामों निरगुँन-ब्रंम्ह कों, बदत उपनिषद-बेद ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

२२

बेदहु हरिके रूप, स्वाँस-मुख सों जो निसरे,
करँम-क्रिया-आसक्ति सबैं पिछली-सुधि बिसरे ।
करँम-मध्य ढूंढति सबै, किन्ह-हूँ न पायौ देखि;
करँम-रहित ही पाइऐ, तासों प्रेंम-बिसेखिं ॥
—सखा, सुन स्याँम के ॥

२३

प्रेंम जु कोहू बस्तु, रूप देखत लौं लागैं,
बस्तु-दृष्टि-बिन कहाँ, कहा प्रेंमी अनुरागैं ।

पाठान्तर—

२१—१ (च) तातैं निरगुन ब्रह्म कहि बदैं उपनिषद-बेद, ॥

२२—२. (क) (ग) (घ) बेद जु हरि के रूप, स्वाँस-मुख तैं निकरे,
३ ,, ,, ,, करम-मध्य ढूंढैं सकल तबहुँ न पायौ देखि,
४ (च) (ट) (ग) कर्म-रहित ह्वै पाइऐं तातैं प्रेंम-बिसेखि ।

२३—५. (ख)(ग) (ट) प्रेंम न कोउ बस्तु, जु देखत मैं कछु लागैं,

अथवा—(ठ) प्रेंमहिं का कोउ बस्तु,..................

तरनि-चंद्रके रूप कौ गुन नहिं पायौ जाँनं,[1]
तौ उनकौ कहा जानिऐं, गुनाँतीत-भगवाँनं[2] ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

२४

तरँनि, अकास-प्रकास, जाहि मैं रह्यौ दुराई,[3]
दिव्य-दृष्टि-बिन कहौ कौंन पै देख्यौ जाई[4] ।
जिनकें वे आँखें नहीं, देखें क्यों वै रूप,[5]
तिन्हें साँच क्यों ऊपजै, जे परे करँम के कूप[6] ॥
—सखा, सुन स्याँम के ॥

२५

वे करिऐ नित करँम, भक्ति हू जामें आई,[7]
करँम रूप तें कहौ कोंन पै छूट्यौ जाई ।

पाठान्तर—

१. (ठ) तरन-चन्द्र के रूप कौ नहिं पायौ गुन जान।
२. (घ) उनकौं तौ जानै कहा, गुनातीत भगवान ॥
अथवा— (ख) जानैं उनकौं कोउ कहा………………

२४—३. (च) (प) तरनि प्रकास अकास तेज मैं रह्यौ दुराई,
४. ,, ,, दृष्टि-दिव्य बिनु नाहिं काहु पै देख्यौ जाई ।
५. ,, ,, जिनकी वे आँखै नहीं कब देखैं वह रूप,
६. ,, ,, क्यों उपजै बिस्वास जे परे कर्म के कूप ।

२५—७. (च) (ट) (प) जब करियै नित कर्म,
अथवा— (क) (फ) करियै नित वह कर्म……

क्रम-क्रम करँम-हिं किएँ तें करँम-नास ह्वै जाँइ,[1]
तब आतम निहकरम सों निरगुन-ब्रंम्ह समाइ ॥[2]
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

२६

जो हरि के नहिँ करँम, करँम-बंधँन क्यों आवैं,[3]
तौ निरगुन ह्वै बस्तु मात्र, परमाँन बतावैं[4] ।
जो उन्ह कौ परमाँन है, तौ प्रभुता कछु नाहिँ,[5]
निरगुन भए अतीत के, सगुन सकल जग माहिं ॥
—सखा, सुन स्याँम के ।

२७

जे गुन आवैं दृष्टि माँहिँ नस्वर ते सारे,[6]
इन्ह सबहिंन तें बासुदेव अच्युत हैं न्यारे[7] ।

पाठान्तर—

१. (क) (फ) क्रम-क्रम कर्मं किये तैं, नास करम ह्वै जाइ ।
२. „ „ आतम तब निष्कर्म ह्वै ब्रम्हहि-ब्रम्ह समाइ ।
२६—३. (क) (प) हरि कैं जो नाहिं करम, करम-बंधन क्यों आयौ,
४ „ „ तौ निरगुन इक बस्तुमात्र परमान बतायौ ।
५ „ „ उनकौ जदि परमान हैं प्रभुता फिरि कछु नाहिं,
२७—६. (ट) (प) गुन आवैं जो दृष्टि माँहिं ते नस्वर सारे,
७. (ट) (त) इन सब ही तैं बासुदेव अच्युत हैं न्यारे ।

इंद्री-दृष्टि-विकार ते रहित अधोछज-जोति,[1]
सुद्ध-सरूपी-ग्याँन की प्रापति तिन्ह कों होति[2] ॥
—सुँनों, ब्रज-नागरी ॥

२८

नास्तिक हैं जो लोग, कहा जानें निज रूपै,[3]
प्रघट भाँनु कों छाँड़ि गहैं परछाँही-धूपै ।
हम कों तौ वा रूप बिन और न कछू सुहाइ,[4]
ज्यों करतल-आभास के कोटँन ब्रंम्ह दखाइ[5] ॥
सखा, सुँन स्याँम के ॥

२९

ऐसे में नँद्लाल-रूप नैंनन के आगें,
आइ गयौ छबि-छाइ, बने बरु पियरे-बागें[6] ।
उधौ सों मुख-मोरि कें, कहति तिन्हहिं सों बातँ,
प्रेम-अँमृत मुख सों स्रवत, अंबुज-नेंन-चुचात ॥
—तरक रस-रीति की ॥

पाठान्तर—

१. (ट) (त) इन्द्रि-दृष्टि-बिकार तैं परैं अधोक्षज-जोति,
२. ,, ,, सुद्ध सरूपी जानि जिय तृप्ति जु तातैं होति।
२८—३. (च) (प) हैं नास्तिक जो लोग न जानत कछु वह रूपै,
अथवा— (फ) जो नास्तिक हैं लोग कहा जानत हित रूपै,
४. ,, हम कौं बिनु वा रूप के कछू न और सुहाइ,
५. ,, ज्यों करतल-आमलकके ब्रह्म-हि-ब्रंह्म दिखाइ।
२९—६. (ठ) (त) आइ गए छवि-छाइ, बने बीरी अरु बागे,
७. ,, ,, ऊधव तैं मुख-मोरि कैं, बैठि सकुच कहि बात,

३०

अहो नाथ, अहो रमानाथ, जदुनाथ, गुसाँईं,[1]
नंद-नँदन बिड़राति फिरति तुम्ह बिन सब गाँईं[2]।
काहे न फेरि कृपाल ह्वै, गो-ग्वालँन सुख देहु,[3]
दुख-जलनिधि हम बूड़िहीं, कर-अवलंबँन-लेहु[4]॥
—निठुर ह्वै का रहे !

३१

कोहू कहै, अहो दरस देति पुनि लेति छिपाई,[5]
यँ छल-विद्या कहौ कौंन पिय ! तुम्हें सिखाई[6]।
हम परबस आधीन हैं, ता सों बोलत—दीन,
जल-बिन कहौ कैसैं जिऐं, पराधीँन जे मींन॥
—बिचारौ रावरे !

पाठान्तर—

३०—१. (क) अहो नाथ ! रमानाथ और जदुनाथ, गुसाँईं,
२ ,, नंद नँदन बिडराति सकल तुम बिनु बन गाँईं।
३ ,, काहे न फेर कृपाल बन गो-ग्वालन-सुधि लेहु,
४ (ग) दुख-जल-निधि सब बूडहीं बन अवलंबन देहु।

३१—५. (च) (ट) कोऊ कहे क्यौं दरस देति फिरि लेति छिपाई,
६ ,, ,, छल-बल विद्या कहौ कौन पिय तुम्हैं सिखाई।
७. ,, ,, जल-बिनु कहौ कैसैं परमातुर जे मीन।
अथवा—(प) बिनु जल कैसैं कहु जिएँ, गहरे-अत की मीन।

३२

कोहू कहै, पिय दरस देहु औ बैंन बजावौ,[1]
दुरि-दुरि बन की ओट, कहा हिय लोंन लगावौ।
हम कों पिय तुम एक हौ, हम-सी तुम्ह कों कोरि;[2]
बहुताइत की रावरे! प्रीति न डारौ तोरि[3] ॥
—एक ही वार यौं ॥

३३

कोहू कहै, अहो स्याँम! कहा इतराइ गए हौ,[4]
मथुरा कौ अधिकार पाइ, महाराज भए हौ।
ऐसें कछु प्रभुता अहौ जानत कोऊ नाहिं;[5]
अबला-बध सुनि डर गए, वली जगत के माँहिं[6] ॥
—पराक्रम जाँनि कैं ॥

पाठान्तर—

३२—१. (ज) (ड) कोऊ कहै पुनि दरस देहु पिय बैंनु-बजावौ,
अथवा— (त) कोऊ कहै अहो दरस देहु पुनि बैंनु-बजावौ,
२. ,, हम कौं तुमसे एकु हौ, तुमकौं हमसी कोरि,
३. (च) बहुत भाँतिके रावरे! यौं प्रीति न डारौ तोरि।
३३—४. (ख) (ग) कोऊ कहै कहौ स्याम! कहा इतराइ गये...,
५. ,, ,, ऐसी कछु प्रभुता हुती जानत कोऊ नाहिं,
अथवा— (च) कछु ऐसी प्रभुता तौ अहो कहत जगत कोऊ०...,
अथवा— (छ) ऐसी तौ प्रभुता कछू अहो कहत कोउ नाहिं,
६. ,, अबला-बुधि हम डर गईं बली डरैं जग-मोहिं।

३४

कोऊ कहै अहो स्याम ! चँहत माँरन जो ऐसैं,[1]
गिरि-गोवरधँन-धारि करी रच्छा तुम कैसैं[2] ।
व्याल-अनल बिप-ज्वाल तैं, राखि लई सब-ठौरैं[3];
अब बिरहानल दहत हौ, हँसि-हँसि नंद-किसोरैं[4] ॥
—चोरि चित लै गयौं ॥

३५

कोऊ कहै ए निठुर, इन्हैं पातक नहिं व्यापै,
पाप-पुंन के करँनहार ए आप-हि-आपैं[5] ।
इन्ह के निरदै-रूप मे, नाहिँन कोऊ-चित्रैं[6];
पै-प्यावत-प्राँनन-हरे, पुतनाँ बाल-चरित्रैं[7] ॥
—मित्र ए कौंन के ?

पाठान्तर—

३४—१ (क) (च) कहैं कोऊ कहौ स्याम, चँहत जो मारन ऐसैं,
२. „ „ गोबरधन-कर-धारि, करी तुम रक्षा कैसैं,
३. (च) (ट) व्याल-अनल औ ज्वाल सौं लई राखि सब ठौर,
४. „ „ बिरहानल अब दाहि हौ ········ ····।
अथवा— (ख) बिरह-अनल अब दाहि हौ ········ ········

३५—५ (क) (ट) पाप-पुन्य के करनहार ये ही हैं आपै,
६. „ „ इनके निरदय रूप मैं नाहिंन कछू विचित्र,
७. „ „ पय पीवत ही पूतना मारी बाल-चरित्र ।

३६

कोहू कहै री, आजु नाहिं आगें चलि आई,
रामचंद के रूप माहिँ कीन्हीं निठुराई[1]।
जग्य करावन जात हे बिस्वामित्र समीप[2];
मग में मारी तारका रघुबंसी—कुल-दीप[3]॥
—बाल-ही रीति यें[4]॥

३७

कोहू कहै, ए परँम-धरँम स्त्री-जित पूरे[5],
लछ-लाघव-संधाँन धरें आयुध अति सूरे[6]।
सीताजू के कहे ते, सूपनखा पै कोपि;
छेदे-अंग विरूप करि, लोगँन-लज्जा-लोपि॥
—कहा ताकी कथा !

पाठान्तर—

३६—१. (ज) (क) रामचंद्रके धरम-रूप में हीं निठुराई,
२. ,, ,, मख-राखन बन जात है, बिस्वामित्र समीप;
३. ,, ,, मारी मग में तारिका रघुबंसी-कुलदीप
४. ,, ,, —प्रथम हीं रीति यह।
३७—५. (ख) (ठ) कोऊ कहैए परम-धर्म इन्द्रीजित पूरे,
६. ,, (छ) लाघव-लछ-संधान, धरैं आयुध के सूरे।

विशेष—

सैंतीसवें छन्दमें दो सूक्तियों (२, ४) के पाठान्तर और मिलते हैं—"हत्यौ बालि-बलवान बान आयुध लै सूरे" तथा "तब लछमन के बान तैं करी-नासिका लोपि" आदि, पर ये पाठान्तर प्रसंगानुसार विरुद्ध हैं—कथानकके बिगाड़नेवाले हैं, शब्द-संगठनसे भी विपरीत हैं, विज्ञ पाठक विचारें।

३८

कोहू कहै गी, और सुनौं गुन इन्ह के आली,[1]
बलि-राजा पै गए भूमि-माँगन बनमाली[2]।
माँगी बाँमन-रूप-धरि, परबत भए अकाइँ[3];
सत्त, धरँम सब छाँड़ि कैं, धर्‍यौ पीठ पै पाँइँ[4]।।
—लोभ की नाव ए !

३९

कोहू कहै, इन्ह परसराँम ह्वै माता—मारी,
फरसा-कंधा-धारि भूमि-छत्रिँन्ह संघारी।
सोंनित-कुंड़-भराइ कैं, पोखे अपने पित्र;
इन्ह के निरदै-रूप में कछु-हू नाहिं बिचित्र[5]।।
—बिलग कहा मानिऐं।।

पाठान्तर—

३८—१. (थ) (भ) कोऊ कहै अहो, और सुनौ इनके गुन आली,
२. ,, ,, राजा-बलि पै गए भूमि-माँगन बनमाली।
३. (प) ,, माँगत बामन-रूप धरि, नाँपत करौ कुदाव;
४. ,, (च) सत्य, धर्म इन छाँड़ि सब, धर्‍यौ पीठ पै पाँव।

३९—५. (क) (ठ) (ड) इनके निर्दयरूप मैं नाहिंन कोऊ चित्र,

विशेष—

उक्त उन्तालीसवें छन्दका अन्तिम चरण और पूर्वमें उद्धृत पैंतीसवें छन्दका तीसरा चरण—दोनोंका पाठ एक ही है।

४०

कोहू कहै री, कहा हिरँनकच्छप तें त्रिगर्यौ,[१]
परम-ढीठ-प्रहलाद, पिता के सनमुख झगर्यौ।
सुत अपने कों देति हो, सिच्छा-दंड बँधाई;[२]
इन्ह वपु-धरि नरसिंघ कौ नखँन-विदार्यौ जाइ ॥
—बिनाँ अपराध ही !

४१

कोहू कहै अहो, कहा दोष सिसुपाल नरेसै,[३]
व्याह-करँन कों गयौ नृपति भीषँम के देसै[४]।
दल-बल जोरि वरात कों ठाढ़ौ हो छवि-बाढ़ि[५];
इन्ह छल करि दुलही हरी, छुधित-ग्रास-मुख काढ़ि[६] ॥
—आपने स्वारथी ॥

पाठान्तर—

४०—१. (ध) (प) कोउ कहै कहु कहा ? हिरनकस्यप तैं बिगर्यौ,
अथवा— (क) कोऊ कहै अहो कहा—........
२. (ध) (प) सुत अपने कौं देति हो सिच्छा खंभ-बँधाइ;
अथवा— (क) अपने सुत कौं देत हो सिच्छा दंड बताइ;

४१—३. (क) (ख) कोऊ कहै सखि ! दोष कहा सिसुपाल-नरेसै,
४. ,, ,, करन-व्याह हित गयौ नृपति-भीषम के देसै।
५. ,, ,, जोरि-बटोरि बरात कौं ठाढ़ौ हो छबि-बाढ़ि;
६. (ग) ,, छल-बल करि दुलही हरी, ग्रास छुधित-मुखकाढि

४२

या विधि भर-आवेस, परॅम प्रेंम-हिं अनुरागीं,[1]
औंर रूप, पिय-चरित तहाँ सब देखँन्ह लागीं।
रोंम-रोंम रह्यों ब्यापि कें, मोंहँन-रूप-अनूप[2];
तिन्ह के भूत-भविष्य कों, जाँनें कोंन सरूप[3] ॥
—रँगीली प्रेंम की ॥

४३

देखति इन्ह कौं प्रेंम, नेंम, ऊधौं कौ भाज्यौ,
तिमिर-भाव-आवेस, बाँहोंत अपने जिय लाज्यौं[4]।
मन में कहि 'रज' पाइ कें लै माँथें निज धारि;
मैं तौ कृत-कृत ह्वै गयौ, त्रिभुवन-आँनद-वारि[5] ॥
—चंदनाँ जोग ए !

४४

कबहूँ कहैं, गुन-गाइ-साँम के इन्हें रिझाऊँ,
प्रेंम-भक्ति तौं भलें साँमसुंदर की पाऊँ[6]।

पाठान्तर—
४२—१. (क) यह बिधि वर आवेस, परम-प्रेमी—अनुरागी,
अथवा— (घ) इहि बिधि होइ आवेस अतुल-प्रेमी अनुरागी,
२. (क) रोंम-रोंम रह्यौ ब्यापि कैं जिनकैं मोहन आइ;
३. " उनके भूत-भविष्य कों, जानन कीं न दुराइ।
४३—४. (ज) भाव-तिमिर-आवेस बहुत मन अपने लाज्यौ।
५. " परम-कृतारथ ह्वै रह्यौ, आँनद-त्रिभुवन वारि ॥
४४—६. (झ) (प) तातैं प्रेमाभक्ति, स्याम-सुन्दर की पाऊँ।

जा-बिधि मो पै रीझि-हीं, सो हौं करौं उपाइ[1];
ताते मो-मन सुद्धि होइ, दुविधा-ग्याँन-मिटाइ[2] ॥
—पाइ रस प्रेंम कौ ॥

४५

ताही-छिन इक भँमर, कहूँ ते उड़ि तहाँ आयौ,[3]
ब्रज-बनितँन्ह के पुंज माँहिँ, गुंजत छबि-छायौ[4] ।
बैठ्यौ चाँहत पाँइ पै, अरुन-कँमल-दल जाँनि;[5]
मँनु मधुकर ऊधौ भयौ, प्रथमहिं प्रघट्यौ आँनि[6] ॥
—प्रेंम कौ भेष-धरि ?

४६

ताहि भँमर तें कहति सबै प्रति-उत्तर-बातें,[7]
तरक-वितरकँन्ह-जुक्त, प्रेंम-रस-रूपी-घातें ।

पाठान्तर—

४४—१. (झ) (प) जिहि किहि विधि ए रीझिही, हौं सौ करौं उपाइ;
२. ,, ,, जातैं मन-मो सुद्धि ह्वै दुविधा-ग्यान मिटाइ ।
४५—३. (ध) (प) वाही छिन एकु भँवर कहूँ सौं तहँ उड़ि आयौ,
४. ,, ,, चाँहत बैठ्यौ पगन पर अरुन-कमल-दल जानि;
अथवा— (च) चह्यौ चँहत पद-कमल पै सुभग अरुन-दल जाँनि
५. ,, मनु मन ऊधौ कौ तबै, प्रगट्यौ प्रथमहिं आनि ॥
६. —मधुप कौ भेष धरि ॥
४६—७. (क) ताहि भँवर सौं कहैं सुघर, प्रति-उत्तर-बातैं,

जिनि परसौ मम-पाँइ हो, तुम्ह-माँनत हम-चोर;[1]
तुम्ह-हीं सौ कपटी हुतो, नागर-नंद-किसोर[2] ॥
—यहाँ तें दूरि होउ ॥

४७

कोहू कहै अहो मधुप, तुम्हैं लाज-हु नहिँ आवत,[3]
स्वाँमी तुँम्हरौ काँन्ह, कूबरी-दास कहावत[4] ।
यहाँ ऊँच-पदवी हती, गोपी-नाथ कहाइ;
अब जदु-कुल पावन भयौ, दासी-जूठंन खाइ ॥
—मरत कहा बोल कौं !

४८

कोहू कहै रे मधुप, कौन कहै तोहि मधुकारी,[5]
लियें फिरत विप-जोग-गाँठि प्रेमी-बधकारी[6] ।

पाठान्तर—

४६—१. (क) जनि परिसै मो-पाँइ रे ! गयौ आँनद-रस-चोर;
२. ,, तोही सम कपटी हुतो, नटवर-नंद-किसोर ।
४७—३. (ख) (ट) कोउ कहै री मधुप, तोहि लाजौ नहिं आवतु,
४. ,, ,, तेरौ स्वामी हाइ ! कूबरी-दास कहावतु ।
अथवा—(छ) कहत कोऊ रे मधुप, तोहि लज्जा नहिं आवै,
,, सखा तिहारौ स्याम ! कूबरी नाथ कहावै ।
अथवा—(ड) स्वामी तुम्हरौ स्याम, कुबरिया-दास-कहावै ।
४८—५ (क) कहत कोऊ अहो मधुप, कहैं तुम कौं को मधुकर,

रुधिर-पाँन कियौ बौहौत कै अधर-अरुन-रँगरातं;
अब ब्रज में आए कहौ करँन कौन-सी घात ॥
—जात किन्ह पातकी ?

४९

कोहू कहै री मधुप, भेप उन्ह कौ क्यों धार्‍यौ,
स्याँम, पीत, गुंजार-बैंनु-किंकिनि झँनकार्‍यौ।
वा-पुर गोरस-चोरि कैं फिरि आयौ इहि देस[1];
इन्ह कौं जिन्ह मानों कोऊ, कपटी इन्ह कौ भेप ॥
—चोरि जिन्ह जाइ कछु ॥

५०

कोहू कहै रे मधुप, कहा मोंहन-गुन-गावै,[2]
हृदै-कपट सौं परँम-प्रेंम नाहिंन छवि पावै[3]।

पाठान्तर—

४८—६. (क) लिएँ फिरत विष-गाँठि प्रेंम-मिसि, मानौं बँधकर।

अथवा—(च) लएँ फिरत मुख जोग-गाँठि काटन बेकारी।

अथवा—(फ) फिरत लएँ अति जोग-गाँठि, काटन जु कटारीं।

विशेप—

उक्त छन्द (क) प्रतिमें (५२) नंवर पर और (च) (त) में चौवंन (५४) नंबर पर है।

४९—१. (ञ) वा पुर कौ रस चोरि कैं आयौ फिर इहि देस,

विशेप—

उक्त छन्द (च) प्रतिमें अड़तालीस नंबर पर और (प) में इक्यावन नंवर पर है।

५०—२. (ठ) (त) कोऊ कहै अहो मधुप! कहा गुन-मौंहन-गावौ,

३. „ „ कपट-हृदय सौं नाँहिं परम-प्रेमिन-छवि पावौ।

जाँनति हौं सब-भाँति कैं, सरबसु लियौ चुराइ;
ऐसें कहु ब्रज-बासिनी, को जु तुम्हैं पतियाइ ॥
—लहे सब जानिकैं[3] ॥

५१

कोहू कहै रे मधुप, कहा तू रस कौं जानैं,[4]
बौहौत कुसुम पै बैठि, सबै आपुँन-रस मानैं[5] ।
आपुन-सी हम कौं कियौ चाँहति है मति-मंद[6];
दुबिधा-रस उपजाइ कैं, दुखित-प्रेम-आँनंद[7] ॥
—कपट के छंद सौं ॥

पाठान्तर—

१. (ठ) (प) हौं जानति हरि भाँति कै सब कछु लयौ चुराइ,
अथवा—(थ) जानति हौं हरि भाँति सब सरबसु लियौ चुराइ;
२. (ठ) (त) ऐसैं बहु ब्रजबासिनी को जु तुमैं पतियाइ ।
अथवा—(न) ए बौरी ब्रजबासिनी नाहि तुम्हैं पतियाँइ ।
३. —लये हम जानिकैं ।
५१—४ (च)(छ)(ज) कोउ कहत अहो मधुप नाहिं तू रस कौं जानत
५ ,, [illegible]
अथवा—(प) (।) [illegible]
अथवा—(ठ) [illegible]
६ (क) (ग) आपुन सौ हम कौं कियौ चाँहतु तू मति-मंद;
अथवा—(फ)...सम अपने हमकौं कियौ चाँहत क्यौं मति-मंद;
७. ,, दुविध-ग्यान उपजाइ चित दुखित प्रैम-आनंद ।
अथवा—(च)...ग्यान दुविध उपजाइ मन, पारि प्रैम के फंद ॥

विशेष—

पचासवाँ छन्द (छ) प्रति मे इक्यावन नंबर पर और इक्यावन नंबर-वाला पचास नंबर पर है, इसी तरह (क) प्रति मे पचासवाँ छप्पन नंबर पर और इक्यावनवाँ उनचास नंबर पर उद्धृत है ।

५२

कोहू कहै रे मधुप, नाँहिँ पट-पद-पसु देख्यौ,[1]
अबलों या ब्रज-देस माँहिं कोहु नाहिं बिसेख्यौ[2] ।
द्वै-सिंघ आँनन-ऊपरैं, कारौ, पीरौ—गात;[3]
खल अंमृत सब मानहीं, अंमृत—देखि डरात[4] ।।
—वाद ये रसिकता[5] ।।

५३

कोहू कहै रे मधुप, बौहोत निरगुन इन्ह जान्यों,[6]
तरक-वितरकँन जुक्ति बौहोत उन्ह-हीं में मान्यों[7] ।

पाठान्तर—

५२—१. (ठ) (प) कोऊ कहै अहो मधुप, प्रेम-पद कौ सुख देख्यौ,
अथवा— (च) कोऊ कहत रे मधुप, प्रेम-पट-पद-पसु देख्यौ,
अथवा— (प) कहै कोऊ अहो मधुप, कहूँ पसु षट्-पद देख्यौ,
२. ,, अब लौं याहि बिदेस माँहिं कोउ नाहिं बिसेख्यौ।
३. ,, तैसोई सुरँग अति, कारौ, पीरौ गात;
अथवा— (क) द्वै-सिंघ आनन पर जमे, पीरौ कारौ गात;
४. ,, अमृत-सब खल मानहीं पेखि जु अमृत डरात ।
अथवा— (ब) खल अमृत सब पानहीं, अमृत देखि डरात ।
५. —वाद यह रस-कथा ।
५३—६. (ख) (घ) कोऊ कहै अहो मधुप, बहुत निरगुन-हम मान्यौं,
अथवा—(च) कोऊ कहत अहो मधुप, निगुन इन बहु करि जान्यौं
७. ,, तर्क-वितर्कनि जुक्ति बहुत उनहीं यह आन्यौं ।

पै इतन्हों नहिं जानि-हीं, बस्तु-बिनाँ गुन नाहिं;[1]
निरगुन भए अतीत के, सगुन सबै जग माहिं[2] ॥
—बूझि जो ग्याँन होइ[3] !

५४

कोहू कहै रे मधुप, होंहिं तुम्हसे जो संगी,[4]
क्यों न होहि तँन स्याँम सकल बातँन चतुरंगी[5] ।
गोकुल में जोरी कोहू, पाई नाँहिं मुरारिः[6]
ज्यों जु त्रिभंगी आपु है, त्यों करी त्रिभंगी-नारि[7] ॥
—रूप, गुन, सील की ॥

अथवा— (ङ) *तरक बितरक्न जुगति जु करि उनहीं तैं मान्यौं ।*

१. (क) ये इतनी नहिं जानही बिनाँ बस्तु गुन नाँहिं,

२. ,, निरगुन सबै अतीत के सकल सगुन जग माँहि ॥

अथवा— (प) *निरगुन-सक्ति जु स्याम की, लखी सगुनता माँहि ।*

३. *—सखा सुन स्याम के ।*

विशेष—

तिरपन नंबर का चौथा चरण और छब्बीस नंबर का चौथा चरण दोनों एक-से हैं ।

बावन नंबरवाला छन्द—"कोऊ कहै रे मधुप नाहिं षट्पद-पसु देख्यौ" (घ) प्रतिमें तिरपन नंबर पर और तिरपन नंबर वाला छन्द उसी प्रतिमें पचपन नंबर पर लिखा है ।

५४—४ (म)(म) *कोऊ कहै अहो मधुप, होंहि जो तुम सौं संगी,*

५ ,, ,, होहि न क्यौं तन-स्याम, सबै बातन चतुरंगी ।

६. ,, ,, जोरी गोकुल मैं कोऊ पाई नहीं मुरारि,

७. ,, ,, मनौं त्रिभंगी आपु हैं करी त्रिभंगी नारि ॥

अथवा—(च) मदन-त्रिभंगी आप हैं, करी त्रिभंगी-नारि ।

अथवा—(छ) ललित-त्रिभंगी आपु ज्यौं करी *त्रिभंगी-नारि* ॥

५५

कोहू कहै रे मधुप, स्याँम—जोगी तू चेला,[1]
कुबजा—तीरथ जाइ कियौ इंद्रिन कौ मेला[2]।
मधुबन-सुधि-बिसराइ कैं, आए गोकुल माँहिं;[3]
यहाँ सबै प्रेमी बसें, तुम्हरे गाहक नाँहिं[4]॥
—पधारौ रावरे ?

५६

कोहू कहै-री सखी, साधु मधुबन के ऐसैं,[5]
औरु यहाँ के सिद्ध-लोग, ह्वै हैं धौं कैसे[6]।

पाठान्तर—

५५—१. (द) (प) कोऊ कहै अहो मधुप, स्याम-जोगी, तुम चेला,
२. ,, ,, कुब्जा-तीरथ भलौ कियौ इन्द्रिन कौ मेला।
अथवा— (च) तीरथ-कुबजा जाइ करौ इन्द्रिन कौ मेला।
३. ,, मधुबन सुबहिं बिसारकैं, आए गोकुल माँहिं।
अथवा— (क) मधुबन सिद्ध कहाइ कैं, आए गोकुल माँहिं;
अथवा— (ख) सुधि-मधुबन बिसराइ कैं पहुँचे गोकुल-माँहिं,
४. (भ) (म) इत सब प्रैमी बसत हैं, तुमरौ गाहक नाहिं।
अथवा— (च) प्रैमी इत सब बसत हैं गाहक तुमरे नाँहिं।

विशेष—

चौवनवाँ छन्द (क) प्रतिमें उनसठ नंबर पर, (च) प्रति में साठ नंबर पर और इसी तरह (प) प्रति में अट्ठावन नंबर पर हैं तथा पचपन नंबरवाला छन्द (त) प्रति में छप्पन नंबर पर, (ध) प्रति में बावन नंबर पर है।

५६—५. (च) (त) कोऊ कहै रे मधुप, साधु मधुवन जो ऐसे,
६. ,, ,, फेरि तहाँ के सिद्ध, कहौ धौं ह्वै हैं कैसे।

औगुन-हीं गहि लेति हैं, औ गुन डारैं मेंटि;[1]
मोंहन निरगुन होंहिं क्यों न, उँन्ह साधुंन कों भेंटि[2] ॥
—गाँठि कौ खोइ कें ॥

५७

कोहू कहै रे मधुप, ग्यांन उलटौ लै आयौ,
मुक्ति परे जे लोग, तिन्हैं फिरि करँम बतायौ[3] ।
वेद उपनिषद-सार जो, मोंहन-गुन गहि लेति;
तिन्ह कों आतम-सुद्धि करि, फिर-फिरि संथा देति ॥
—जोग-चटसार में !

५८

कोहू कहै सखि, बिस्व-माँहिं जेतक हैं कारे,[5]
कोटि-कपट की खाँन, कुटिल-माँनस बिषहारे[6] ।

पाठान्तर—
१. (ज) (त) औगुन-गुन गहि लेति हैं गुन कों डारत मैटि,
२. ,, (प) मौंहन-निरगुन कौं गहे तुम साधुन कों भैंटि ।
५७—३. (ग) (प) कोऊ कहै अहो मधुप, ग्यान कौं उलटौ लायौ,
४ ,, ,, भए मुक्ति जे लोग, करम फिरि तिन्हैं बतायौ ।
अथवा— (च) मुक्ति भए जो रसिक ! तिन्हैं क्यों करम सिखायौ ।
विशेष—छप्पन नंबरवाला उक्त छन्द (घ) प्रति में अट्ठावन नंबर पर और सत्तावन नंबर का छन्द उक्त प्रतिमें चौवन नंबर पर उद्धृत है।
५८—५. (फ) ''कोऊ कहै री, बिस्व माँहि हैं जेतिक कारे,
६ ,, कपट कोटि के परम-कुटिल मानुष बिषहारे ।
(ब) कपट कुटिल की कोटि परम-मानुष फँसिहारे ।
(म) कुटिल कपट की कोटि परम-मानुष मसिहारे ।

एक स्याँम-तँन परसि कें जरत आजलों अंग;
ता पाछें यै मधुप फिरि, लायौ जोग-भुअंग[1] ॥
—कहा इन्ह कों दया ?

५९

कोऊ कहै रे मधुप, कहत अनुरागी तुम्ह कों;[2]
कौंनें गुनधों जानि ? परँम-अचरज है हम कों[3] ।
कारौ-तँन अति पातकी, मुख-पियरौ जग-निंद[4];
गुन-औगुन सब आपुने आपु-हिं जाँन अलिंद[5] ॥
—देखि, लै-आरसी[6] ॥

६०

या विधि सुंमरि गुबिंद, कहतिं ऊधौ-प्रति गोपीं,[7]
भृँग-संग्या करि बदत सकल कुल-लज्जा-लोपीं[8] ।

पाठान्तर—

१. (म) ता पाछैं यह मधुपहू, लायौ जोग-भुवंग ।
५९—२. (च) (ज) कोऊ कहौ अहो मधुप, कहैं अनुरागी तुम्हकौं,
३. ,, ,, कौंनैं गुन कौं जान यहै अचरज है हमकौं ।
४. ,,.........कारौ-मन बहु पातकी, पियरौ-मुख जग-निंद;
५. (छ)......अवगुन-गुन सब आपुने आपी जान मलिंद ॥
६. ,, —देखि गहि आरसी !

विशेष—

अट्ठावन नंबरवाला यह छन्द (थ) प्रति में सैंतालीस नंबर पर और उनसठ नंबरवाला छन्द उनचास नंबर पर (क) प्रति में उद्धृत मिलता है ।

६०—७. (ख) या विधि सुमिरि गुबिंद, कहैं ऊधव प्रति गोपीं,
८. ,, संग्या भृँग करि कहत सबै लज्जा कुल लोपीं ।

ता-पाछैं इक बार-हीं रोइ उठीं ब्रज-नारि;[1]
हा करुनाँ-मै नाथ हो, केसौ, कृष्ण, मुरारि[2] ॥
—फाटि हियरौ चल्यौ[3] ॥

६१

उँमग्यौ जो तहँ सलिल, सिंधु-सौ तन की धारँन,
भींजे अंबुज-नीर, कंचुकी, भूषँन, हारँन।
ताही प्रेंम-प्रवाह में, ऊधौ चल्यौ बहाइ;
भली ग्याँन की मैंड़ि-सी, ब्रज में प्रघट्यौ आइ ॥
—कूल कौ तृन भयौ[7] !

पाठान्तर—

१. (ध) ता पीछैं एक बारही उठी रोइ ब्रज-नारि,
अथवा— (म) तन-मन तें छबि स्यामकी, ऐसी दई दिखाइ;
२. „ जिमि गोरसगोरस मिलैं, नैंकु न बिलग जनाइ।
३ „ —अधिकता प्रेंम की ?
६१—४. (ख) (ग) उँमगै ज्यौं कोउ सलिल-सिन्धु तनकी करि धारन,
अथवा—(ठ) उँमगी कोउ जे सलिल अम्बु नैंननि की धारा,
५. „ भिजवति औ बहि जाति कौतुकी सिन्धु-अपारा।
६. „ ताहि प्रेंम-मय सिन्धु में ऊधव चले बहाइ;
७ (छ) —कूल-तारन भए ॥
(द) —सकल कुल तरि गयौ !
(प) कूल के तृन भए ॥

६२

प्रेंम-बिबस्था देखि, सुद्धि अति भक्ति-प्रकासी,[1]
दुबिधा-ग्याँन-गिलाँन मंदता सिगरी नाँसी।
कहति अहो निसचै यहैं, हरि-रस की निज-पात्र;[2]
हों तौं कृत-कृत ह्वै गयौ, इन्ह के दरसँन मात्र ॥
मेंटि मल-ग्याँन कौ !

६३

पुनि-पुनि कहि 'हरि' कहँन बात एकांत पठायौ,[3]
मैं इन कौ कछु मरँम जाँनि एकौ नहिं पायौ[4]।
हों कहों निज-मरजाद की, ग्यानें-करँमनि रोपें[5];
ए सब प्रेंम-असक्त ह्वै, रही लाज-कुल-लोपें[6] ॥
—धन्न ए गोपिका !

पाठान्तर—

६२—१. (त) (न) प्रेंम-प्रसंसा करति सुद्ध जो भक्ति-प्रकासी;
२. ,, कहति भयौ निसचै येही हरि-रस की निज पात्र।
अथवा— (भ) निसचैही ए हैं अहो, हरि-रस की सब पात्र।
६३—३. (क) ...पुनि मन मैं कहि कहन बात एकान्त पठायौ;
४. ,, पै इन कौ मैं मरम जानि एकौ नहिं पायौ।
अथवा— (ज्ञ) इन कौ हौं कछु मरम जानि नहिं एकौ पायौ।
५. (च) हौं तौ निज मरजाद सौं ग्यान, कर्म कह्यौ रोपि
६. ,, ये सग प्रेंमासक्ति हैं कुल-लज्जा दई लोपि।

६४

जो ऐसैं मरजाद-मेटि मोंहन कों ध्यावैं,[१]
क्यों न परँम-आँनंद-प्रेंम-पदवी कों पावैं[२] ।
ग्यॉन, जोग सब करँम तें, प्रेंम-परे जोइ साँच;[३]
हों इन्ह पटतर देति हों, हीरा-आगे काँच ॥

—विषमता बुद्धि की !

६५

धन्न-धन्न ए लोग, भजत जो हरि कों ऐसें,[४]
और कोहू विन रस-हिं प्रेंम-पावत कहौ कैसैं[५] ।
मेरें या लघु-ग्यॉन कौ, रह्यौ जु मद ह्वै ब्याधि;[६]
अब जान्यों ब्रज-प्रेंम कौ, लहति न आधों-आधि ॥

—वृथाँ स्रॅम करि मरयौ !

पाठान्तर—

६४—१ (क)……ऐसैं जे मरजाद-मेटि मोहन कौं ध्यावैं,
२. ,, …… काहे न परमानंद प्रेंम-पदवी कौ पावैं ।
अथवा— (छ) काहे न प्रैमानंद-प्रैम पद पी कौं पावै ।
अथवा— (प) काहे न परमानंद प्रैम-पदवी सुचु पावैं ।
३. ,, ध्यान, जोग सब करम सौं प्रैम-पगे जे साँचु;
६५—४ (घ)(ब)(भ) धन्न, धन्न, ऐ धन्न, भजैं हरि कौं जो ऐसैं,
५ ,, और जु पारस प्रैम-बिना पावत कहु कैसैं ।
६ ,, ,, ‥ मेरे या लघु ग्यान कौं उर-मद रह्यौ उपाधि;
अथवा— (च) या लघु मेरे ग्यान कौ मन मैं मद रह्यौ बाधि ;

६६

पुनि कहै परसि जु पाँइ, प्रथँम हौं इन्हें निवार्यौ,[1]
भृँग-संग्या करि कहत, निंद सबहिंन तें डार्यौ[2] ।
अब ह्वै रहौं ब्रज-भूमि के, मारग में की धूरि;[3]
बिचरत पग मो पै परें, सब-सुख-जीवन-मूरि[4] ।।
—मुनिन्ह दुरलभ अहै[5] ।।

६७

कै ह्वै रहौं द्रुम-गुल्म, लता, बेली बन-माँहीं,[6]
आवत-जात सुभाइ परै मो पै परछाँहीं[7] ।

पाठान्तर—

६६—१. (च) (म) पुनि कहि परसत पाँइ, प्रथम मैं इनैं निवार्यौ,
अथवा— (ध) कहि पुनि परसत पाँइ सबनि हौं प्रेम हि वारौं,
२. ,, भृंगी-संग्या करत बिसद-गुन-गुन विस्तारौं ।
३. ,, अब रहि हौं ब्रज-भूमिकी ह्वै पग-मारगधूर;
अथवा— (न) तब अति ह्वै कृत-कृत्त ह्वै भूँव बसै सह पाँइ;
४. ,, उद्धव तैं मधुकर भयौ मुद्रा-जोग मिटाइ ।
५. (क) —मुनिनहूँ दुरलभै !
अथवा— —मुनिन दुरलभै जो !
६७—६. (क) कैसैं हौंहूं द्रुम, लता, बेलि, वल्ली वन माँहीं,
७. (ख) परै सुआवत-जात सदाँ मो पै परछाँहीं ।

सोऊ मेरे बस नहीं, जो कछु करौं उपाई;
मोंहन होंहिं प्रसन्न जो, यै बर माँगों जाई ॥
—कृपा-करि देंहि जो !

६८

पुनि कहि सब तें साधु-संग, उत्तम है भाई[३] !
पारस-परसें लोह, तुरत कंचँन ह्वै जाई[४] ।
गोपी-प्रेंम प्रसाद सों, हों-हीं सीख्यौ आई;
ऊधौ ते मधुकर भयौ, दुबिधा-ग्यान मिटाई[६] ॥
—पाइ रस प्रेंम कौ[७] !

६९

ऐसें मग–अभिलाखि करत मथुरा फिरि आयौ,
गद्गद, पुलकित अंग-अंग आवेस जनायौ[८] ।

पाठान्तर—

१. (ख) मेरे यह हू बस नहीं, करौं जु कछुक उपाइ,
२. „ मौंहन होंहिं प्रसन्न जौ बर-बर माँगौं जाइ ॥

विशेष—

छाछठवाँ छन्द (च) प्रतिमे सडसठ नंबरपर और अडसठवाँ छन्द छाछठ नंबरपर मिलता है।

६८—३. (ख)..... कहि पुनि सब तैं संग-साधु उत्तम है भाई,
४. „ ..... परसैं-पारस लोह, छिनक कंचन ह्वै जाई।
५. (ग) (ङ) स्वाँति-बूँद सीपहि मिलैं मुकता होत सुभाइ;
६. „ „ नीर-छीर सँग के मिलैं बिसद-रूप दरसाइ ॥
७ „ „ —सग को गुन लखौ ॥

६९—८ (घ) (भ) इहि बिधि मन अभिलाष करत मथुरा पुनि,

गोपी-गुन-गावँन लग्यौ, मोंहन-गुन-गयौ भूलि[1];
जीवँन कौ लै का करों, पायौ जीवँन-मूलि ॥
—भक्ति कौ सार जो[2] ॥

७०

ऐसें सोचत, स्याँम जहाँ राजत तहँ आयौ,[3]
परकंमा, डंडौत, प्रेंम सों हेत जनायौ[4] ।
लखि निरदइता स्याँम की, करि क्रोधित दोहु नेंन[5];
पुनि ब्रज-बनिता-प्रेंम सों बोलत रस-भरे बेंन[6] ॥
—सुनों, नँद-लड़िले !

पाठान्तर—
१. (प) (भ) गद-गद, पुलकित रौंम अंग आवेस जनायौ,
२. ,, ,, —भक्ति कौ सार यह ?
अथवा— (च) —भक्ति कौ मूल ये,

विशेष—
अड़सठवाँ छन्द (क) प्रतिमें छाछठ नंबरपर उद्धृत मिलता है । इस छन्दका चौथा चरण जैसे—"ऊधौ तें मधुकर भयौ दुविधा-ग्याँन-मिटाइ" सड़सठवें-छन्दके पाठान्तरमें उद्धृत किया जा चुका है । यथा—
तब अतिसै कृत-कृत्य ह्वै भूंव बसे सहि पाइ;
"उद्धव तैं मधुकर भयौ मुद्रा-जोग मिटाइ !"
—लही यह संपदा !

अथवा—
"ऊधौ तैं मधुकर भयौ दुविधा-जोग मिटाइ" ॥

७०—३. (क) (ट) एसैं सोचत जहाँ स्याम तहँ आयौ-धायौ,
४. ,, ,, परिकरमा, दंडौत जुकरि आवेस जनायौ ।
५. (च) (छ) कछु निरदयता की लखि, करि क्रोधित दोउ नैंन;
अथवा— (झ) निरदयता लखि स्यामकी, क्रोधित कारे दोउ०;
६. (च) (छ) कछु ब्रज-बनिता प्रेंमकी, बोलत रसभरे बैंन ॥

७१

करुनामई-रसिकता है तुम्हरी सब झूंठी,[1]
तब हीं लों कहौ लाख, जभी लों बँध रही मूंठी[2]।
मैं जॉन्यों ब्रज जाइकैं, निरदै तुम्हरो-रूपै;[3]
जो तुम्ह कों अवलंब-ही, तिन्ह कों मेलौ कूपैं[4]॥
—कोंन यै धरँम हैं[5]!

७२

पुनि-पुनि कहै अहो स्यॉम, चलौ वृंदाबँन रहिऐ,[6]
परँम-प्रेंम कौ पुंज जहाँ गोपिँन्ह-सँग लहिऐं[7]।

पाठान्तर—

६—अथवा—(झ) ब्रज-बनितन कछु प्रैंम लखि, रस-भरे बोलत बैंन॥
अथवा— कछु निरदयता स्याम की सोच सजल दोउ नैंन;

७१—१. (क) (ख) करुनामै औ रसिक-प्रकृति, तुमरी सब झूंठी,
अथवा—(प) करुनामयी रसिकता सब तुम्हरी अति झूंठी,
२. „ जब ही लौं नहिं लखी, तबहिं लौ बाँधी मूंठी।
अथवा—(फ) ब्रज-बनितन दुख-दयौ सबन-मन करि निज मूंठी।
३. (क) (ख) जान्यौं मज मैं जाइ कैं तुम्हरौ निरदै-रूप;
४ „ „ तुमकौ जो अवलंब ही, मेलौ तिन कौं कूप॥
५. —कौंन सौ धरम यह!

७२—६. (ठ) (ड) पुनि-पुनि कहै हे स्याम, जाइ वृंदावन रहियै,
७. „ „ प्रैंम-पुंज तैं तनक-प्रैंम गोपिन-सँग लहियै।

और संग सब छाँड़ि कें, उंन्ह-लोगँन्ह सुख-देहु;[1]
नातरु टूट्यौ जात है, अब-हीं नेह-सनेहु[2] ॥
—करौगे फिरि कहा ?[3]

७३

सुनति सखा के बेंन, नेंन भरि आए दोऊ,
बिवस प्रेंम-आबेस रही नँहिंन सुधि कोऊँ[4] ।
रोंम-रोंम-प्रति-गोपिका, भई साँवरे-गातें;[5]
कलप-तरोरुह-साँवरौ, ब्रज-बनिता हीं पातँ[6] ॥
—उलहि अँग-अँग ते ॥

७४

ह्वै सचेत, कहि भले सखा, पठए सुधि ल्यावनँ,[7]
औगुन हमरे आँनि, तहाँ ते लगे दिखावनँ[8] ।

पाठान्तर—

१. (ठ) (प) औरु काम सग छाँड़िकैं, ब्रज-बनितन सुख देहु;
२. (च)...... नातरु टूटहि जाइगौ, सबै जु नेह-सनेहु ॥
३. —करौगे तौ कहा ?
७३—४. (क)...बिवस प्रेंम के भऍं रही सुधि नाहीं कोऊ,
५. ,, रौंम-रौंम मैं गोपिका, भई साँवरे-गात;
अथवा— (ख) रौंम-रौंम प्रति गोपिका, ह्वै गई साँवरे गात;
अथवा— (छ) रौंम-रौंम सब गोपिका ह्वै रहीं साँवल-गात;
६. (थ) काम-तरोवर साँवरौ ब्रज-बनिता भई पात ॥
अथवा— (भ) काम-तरोवर रस भरौ, ब्रज-बनितनके पात ॥
७४—७. (प) (फ) (भ) ह्वै सुचेत कहि भल्यो सखा पठयौ सुधि लावन,
८. ,, ,, ,, अवगुन सगरे आँनि तहाँ सौं लगे बतावन।

उन में, मो में हे सखा, रंचक-अंतर नाँहिं[1];
ज्यों दीखत मो-माँहिं वे, त्यों होंहूँ उँन्ह माँहिं[2] ॥
—तरँगनि-बारि ज्यों !

७५

गोपी-रूप दिखाइ तबै मोंहन, बनवारी,[3]
ऊधौ-भ्रमहिं निवारि, डारि पुनि मोह की जारी[4] ।
अद्भुत-रूप विहार कौ, लीन्हों बहुरि दुराई[5];
"नंददास" पावन भयौ, मो यै लीला गाई[6] ॥
—प्रेम-रस-पुंजनी[7] !



पाठान्तर—

१. (च) (फ) (भ) मो मैं उन मैं अंतरौ एकौ छिन भरि नाहिं;
अथवा— (ज) उन मैं, मो मैं अहो सखा ! छिन भरि अंतर आहीं;
२. ,, ज्यौं देख्यौ मो मॉहि वे, हौं हूँ उनहीं माँहिं ॥
अथवा— (त) ज्यौं देखौ मो-मॉहिं वे, त्यौं मैं उनहीं माँहिं ॥
७५—३. (क) गोपी आप दिखाइ, एकु-करि कैं बनवारी,
४. ,, ऊधौ के भरे नैंन डारि व्यामोहक-जारी ।
अथवा— (च) ऊधव-भ्रम जु निवार डार सुख मोह की जारी ।
५ ,, अपुनौं रूप बिहार कौ, लीन्हौं बहुरि दुराइ;
अथवा— (द) अपनौं रूप दिखाइ कैं, लीन्हो पुनहिं दुराइ;
अथवा— (ण) हम ऊधव जानी नहीं, ओछी करि हैं प्रीति;
६. ,, भली भई प्रभु सौं चली जग मैं उलटी रीति ॥
अथवा— (द) "जन-मकुन्द" पावन भए, रस-लीला हरि गाइ ॥
७. (ण) —कहयौं रौंमांच है !

टिप्पणी

और

सम-भावद्योतक सूक्तियाँ



टिप्पणी

और

सम-भावद्योतक सूक्तियाँ



कथानककी पूर्व-पीठिका—'उद्धवका गोपियों से कृष्ण-संदेश कहने आना।'

उद्धव—(ऊधौ) (ऊधव) यादव-वंशी श्रीकृष्णके सखा, मित्र, यार, दोस्त वा भक्त। जैसे—

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥
(श्रीमद्भा० १०।४६।१)

उद्धव, देवमीढ अर्थात् शूरसेनकी स्त्री 'मारिषा' से उत्पन्न 'देवभाग' के पुत्र थे।

देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत्।
तस्यां स जनयामास दश पुत्रानकल्मषान्॥
वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम्।
सृञ्जयं श्यामकं कङ्कं शमीकं वत्सकं वृकम्॥
(श्रीमद्भा० ९।२४।२७—२९)



टिप्पणी
और
सम-भावद्योतक सूक्तियाँ

कथानककी पूर्व-पीठिका—'उद्धवका गोपियों से कृष्ण-संदेश कहने आना।'

उद्धव—(ऊधौ) (ऊधव) यादव-वंशी श्रीकृष्णके सखा, मित्र, यार, दोस्त वा भक्त। जैसे—

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥
(श्रीमद्भा० १०।४६।१)

उद्धव, देवमीढ अर्थात् शूरसेनकी स्त्री 'मारिषा' से उत्पन्न 'देवभाग' के पुत्र थे।

देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत्।
तस्यां स जनयामास दश पुत्रानकल्मषान्॥
वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम्।
सृञ्जयं श्यामकं कङ्कं शमीकं वत्सकं वृकम्॥
(श्रीमद्भा० ९।२४।२७—२९)

अथवा—

'शूरस्यापि मारिषा नाम पत्न्यभवत् । तस्यां चासौ दश-पुत्रानजनयद्वसुदेवपूर्वान् ...... । तस्य च देवभागदेवश्रवोऽष्टककुचकवत्सधारकसृञ्जयश्यामशमिकगण्डूषसंज्ञा नव भ्रातरोऽभवन् ॥'

(विष्णुपुराण, चतुर्थ अंश १४ । २६, २७, ३०)

अस्तु—

उद्धवो देवभागस्य महाभागः सुतोऽभवत् ।
पाण्डितानां परं प्राहुर्देवश्रवसमुद्धव ॥

(हरिवंशपुराणे)

'देवभाग' का दूसरा नाम 'उपग'[१] भी था । श्रीसूर ने कई जगह उद्धव को—'उपग-सुत' के सरस-सम्बोधन से सम्बोधित किया है—

हरि ! गोकुल की बात चलाई ।
सुनो "उपँग-सुत" मोहि न बिसरत, ब्रज-बासी सुखदाई ॥

अथवा—

पाती लिखि, ऊधो-कर दीन्हीं ।
नंद-जसोदा-हित कहि दीजो, हँस 'उपंग-सुत' लीन्हीं ॥

(भ्रमरगीत, सूरसागर)

---

१ उपग शब्द 'उपगु' से बना है, अतएव उद्धव को श्रीसूर ने 'उपग-सुत' 'उपँग-सुत' कहकर सम्बोधन किया-कराया है, उसी प्रकार श्रीशुकने भी उद्धव को 'औपगवि' के सुन्दर-सम्बोधनसे सम्बोधित किया है—

इति सह विदुरेण विश्वमूर्तेर्गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः ।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्तां समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात् ॥

(श्रीमद्भा० ३ । ४ । २७)

उद्धव शब्दका एक मनोहर अर्थ और मिलता है—

कल्पोऽथ क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः

(अमरकोश नाट्यवर्ग ७ । ३८)

अर्थात्—क्षणः, उद्धर्षः, महः, उद्धव और उत्सव, ये उत्सव वा खुशी के नाम हैं। इस अनुपम अर्थके सहारे श्रीजीवगोस्वामी भगवान् के प्यारे सखा 'उद्धव' पर एक सरस टिप्पणी जड़ते हुए कहते हैं—

'द्वयोरपि भ्रात्रोरुद्धवनामानौ पुत्रौ कथ्येते तथाप्ययं देवभागसुत एव ज्ञेयः, महाभागत्वं खलु तादृशश्रीकृष्णकृपायोगत्वं न तु पण्डितमात्रत्वं तदेवमेव कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः इति स एष व्रजेश्वरेण तथा सम्बोधयिष्यते श्लेषेण साक्षादुद्धवः 'मूर्तिमानुत्सव' इति।'

(वैष्णव-तोषिणी टीका, भागवत)

उद्धव, ऊधव और ऊधौ सम्बोधनों के प्रयोग—

ततस्ताः कृष्णसंदेशैर्व्यपेतविरहज्वराः।
उद्धवं पूजयांचक्रुर्ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम्॥

(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ५३)

'उद्धव' वेगि हीं ब्रज जाहु।
सुरति-सँदेस सुनाइ मेटौ, बल्लभिँन्ह कौ दाहु॥

(भ्रमरगीत-सार पृ० ३ । ८)

"भेजि कैं भाँमती-भौन भलें अब 'उद्धव' प्रेम कौ पंथ सिखाइयै।'

(गोपी-प्रेम-पीयूष-प्रवाह पृ० ७)

ऊधव—

'ऊधव' के चलत गुपाल उर-माँहिं चला०—

(उद्धव-शतक ! रत्नाकर २०)

ऊधौ—

'ऊधौ' सबँन समोधि, बाँचि स्याँम की पत्रिका।'

(नवनीत कवि)

(उपदेश)—शिक्षा, दीक्षा, हित-कथन, सिखावन, सीख, नसीहत। व्रज, सं०—व्रज—गो-स्थान, मथुरा-मण्डल, समूह—

"समूह-निवह-व्यूह-संदोह-विसर-व्रजाः"

(अमरकोश २। ५। ३९)

नागरी—नगरमें रहनेवाली, प्रवीण, चतुर स्त्री। यहाँ 'नागरी' शब्दका अर्थ इससे सम्बन्धित 'व्रज' का वाक्काटकर श्रीवियोगी हरिजीने अपने पहले संस्करण 'व्रज-माधुरी-सार' में और श्रीबाबू व्रजरत्नदासजीने स्वसम्पादित 'भ्रमर-गीत' में (नागरीका अर्थ) 'नगरवासिनी' अथवा 'नगर-निवासिनी' किया है, जो उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि व्रज में नगर निवासिनी स्त्रियाँ नहीं रहती थीं—निवास नहीं करती थीं। अपितु यहाँ दोनों अर्थात् 'व्रज और नागरी' का अर्थ एक साथ ही होगा। व्रज-नागरी—व्रज की चतुर वा प्रवीण स्त्री, या स्त्रियाँ।

रूप—किसी का वह गुण जो चक्षुरिन्द्रिय-द्वारा जाना जाता हो, अथवा पदार्थों के वर्णों व आकृति का योग जिसका ज्ञान नेत्रोंको होता हो। रूप, आकार, आकृति और सुन्दरताका भी नाम है।

पदार्थोंमे एक शक्ति सन्निहित रहती है जिससे द्रष्टाको उन पदार्थोंकी आकृति और वर्णादिका ज्ञान वा बोध होता रहता है, इसलिये इस शक्तिको 'रूप' कहते हैं; क्योंकि दर्शन-शास्त्रकारोंने

रूपको चक्षुरिन्द्रियका ही विषय माना है। वैशेषिक-दर्शनकार इसे (रूप) गुण मानते हैं।

'रूपं' शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी'।

(अमरकोश १।५।१६)

सांख्यकार इसे पञ्चतन्मात्राओंमें एक तन्मात्रा और बौद्ध-दर्शनकार रूपको पाँच स्कन्धोंमें पहला स्कन्ध कहते हैं। वेदान्तदर्शनमें इसको एक उपाधि नामसे उद्घोषित किया है, अतएव 'रूप' सोलह प्रकारका होता है—"ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुरस्र, वृत्त, शुक्ल, कृष्ण, नीलारुण, रक्त, पीत, कठिन, चिक्कण, श्लक्ष्ण, पिच्छल, मृदु और दारुण।

सील वा शील—उत्तम-स्वभाव, चाल-व्यवहार, वृत्ति, चरित्र, उत्तम-आचरण, अच्छा चाल-चलन आदि-आदि ········ ।

बौद्ध-शास्त्रकारोंने 'शील' के हिंसा, स्त्येन, व्यभिचार, मिथ्या-भाषण, प्रमाद, अपराह्न-भोजन, नृत्य-गीतादि, माला-गन्धादि, उच्चासन-शय्या, द्रव्य-संग्रह और इन सबका त्याग इत्यादि दस प्रकार माने हैं। कहीं-कहीं 'पञ्चशील' भी कहे जाते हैं, पर यह शील छः या दस पारमिताओंमेंसे एक है, जो कि तीन प्रकारका कहा जाता है—सम्भार, कुशल-संग्राह और सत्त्वार्थ-क्रिया।

(हिंदी-शब्द-सागर ३३३१)

पर—

'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते सस्ये हेतुकृते फलम्।

अर्थात्—सुस्वभाव, प्रकृति, अच्छा यश आदिको ही "शील" कहते हैं।

शुचौ तु चरिते "शीलम्" ... ... ।

(अमरकोश १ । ७ । २६)

लावन्य (लावण्य)—नमकीन, अत्यन्त सुन्दर, लुनाई। सबै—सबका, सम्पूर्णका बहुवचन । गुन आगरी—गुणोंकी खान, समूह । गुण—वह धर्म वा भाव अथवा सिफत जो किसी वस्तुके साथ सम्बन्धित हो—लगी हो ।

'सांख्यकार तीन गुण मानते हैं, सत्त्व, रज और तम । इन तीनोंकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं । जिससे कि सृष्टि उत्पन्न होती है—विकसित होती है । सतोगुण हल्का और प्रकाश करनेवाला, रजोगुण चञ्चल व प्रवृत्तिकर तथा तमोगुण भारी और रोकनेवाला कहा जाता है । इन तीनों गुणोंका यह स्वाभाविक धर्म है कि वे परस्पर एक दूसरेको दबाते हुए अपना-अपना प्रभाव दिखाते और एक दूसरेके आश्रयमें रहते, एक-दूसरेको उत्पन्न करते रहते हैं । जिससे जाना जाता है कि सांख्यमें गुण एक प्रकारका द्रव्य है—तरल पदार्थ है, जो विविध धर्मोंमें धूसरित है और जिससे विविध पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं । विज्ञान-भिक्षुका अभिमत है कि जिसमें आत्माके बन्धनार्थ महत्तत्त्व आदि रमणीय रज्जु तैयार होती है उसीको सांख्यकार "गुण" कहते है । वैशेषिक गुणको द्रव्यके आश्रित मानते हैं और उसकी परिभाषा इस प्रकार लिखते हुए कहते हैं कि—'जो द्रव्यमें रहनेवाला हो, जिसमें कोई गुण न हो और जो संयोग-विभागका कारण न हो उसे "गुण" कहा जाता है । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग—ये मूर्त्त-द्रव्योंके गुण हैं । बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न,

धर्म, अधर्म, भावना और शब्द—ये अमूर्त्त-द्रव्यके गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग, मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों द्रव्योंके गुण हैं। यह गुण दो प्रकारका होता है—विशेष और सामान्य। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द ये 'विशेष' गुण हैं अर्थात् इनसे द्रव्योंमें भेद माना जाता है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक-द्रवत्व और वेगादि 'सामान्य' गुण हैं। द्रव्य स्वयं आश्रय हो सकता है, पर गुण स्वयं आश्रय नहीं हो सकता। कर्म संयोग-विभागका कारण होता है? किंतु "गुण" नहीं। गुण—संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय इन छहोंको राजनीति शास्त्रकी परिभाषामें "गुण" ही कहा जाता है। यथा—

सन्धिर्नाविग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः।
षड् "गुणाः"........................... ॥

कोशोंके अनुसार धनुषकी डोरीको भी गुण कहते हैं, यथा—

मौर्व्वी ज्या शिञ्जिनी "गुणः" (अमरकोश)

ब्रज-नागरी, रूप[1], सील, लावन्य और गुन-आगरीके सरस-प्रयोग।

"अरी "ब्रज-नागरी" प्यारी, दैजा मेरौ दाँन।"
—परमानन्ददास

"रूप" अनोंखौ पाइकें को करति है माँन-गुमाँन।"
—कृष्णदास

---

१ नंददासजीने "रूप" शब्दका व्यवहार इस "भ्रमरगीत" में ही ६, ७, ९, १८, २१, २४, २८, २९, ३९, ४२ और ७५ नम्बरके छंदोंमें सुचारु रूपसे किया है सही, पर अपनी "रास-पञ्चाध्यायी" जैसा नहीं, जैसे—

'मंद परसपर हँसी, लसीं, तिरछी-अँखियँन अस।
"रूप"—उदधि इतराति, रँगीली-मीन-पाँति जस ॥

"सील" सँकोच न त्यागिऐ प्यारे ··· ··· ।"

—परमानन्ददास

"कहि न सकति "लावन्यता" कीरति-राज-कुमारि ।"

—चाचा वृन्दावनदास

"छबीली-नागरी, "गुन-आगरी" मेरौ मन मोहि लियौ ।"

—सूरदास मदनमोहन

प्रैम-धुजा, शुद्धस्वरूप—प्रेमध्वजा—प्रेमकी ध्वजा, अर्थात् प्रेम करनेवालोंमें अग्रगण्य, अगाडी गिनी जानेवाली ।

प्रैम-धुजा (प्रेमध्वजा) पर कुछ इसी भावको—नन्ददासजीकी इसी सौन्दर्यमय सूक्तिको, परमानन्ददासजीने बडी सुन्दर रीतिसे वर्णन किया है—

गोपीं प्रैम की धुजा ।
जिँन्ह गुपाल किए अपने बस, उर धरि स्याँम-भुजा ॥
सुक-मुनि ब्यास प्रसंसा कीन्हीं, ऊधौ-संत-सराँही ।
भूरि-भाग गोकुल की बनिता, अति-पुनीत भुअ-माँही ॥
कहा भयौ बिप्र-कुल जनमें, जो हरि-सेवा नाँही ।
सोइ कुलीन 'दास परमानँद', जे हरि सनमुख जाँही ॥'

हमारे माननीय स्वर्गीय कवि श्रीनवनीतजी भी यही कहते हैं—

नारद, परासर तें आदि ब्यास, सुकदेव,
मुदित मसाला गेरि कीन्ही चोंह चस की ।
'नवनीत' प्यारे के प्रतापी भुव कारीगर,
प्रीति-पिरथी मैं नींम खोदी खँम कस की ॥
परम-पुनीत-पैहलाद परकोटा कियौ,
उद्धव अनन्य छात छाई नेह बस की ।

व्रज सौ मैहल ताके कलस कन्हैयाँलाल
प्यारी-प्रभा गोपिका 'धुजा' है प्रेम-रस की ॥

रस-रूपनी—रस-स्वरूपिणी, अर्थात् रसों की साक्षात् मूर्तियाँ।
रस—रस नौ प्रकारके माने जाते हैं। यथा—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
वीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः ॥
(साहित्यदर्पण ३। १८२)

अर्थात्—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स अद्भुत और शान्त आदि। कोई-कोई शान्तको प्रणामकर केवल आठ रस ही मानते हैं।

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात्।
अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ॥

अथवा—

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्।
तदचारु यतः कंचिन्न रसं स्वदते नटः ॥
(सङ्गीतरत्नाकरे ७। १३-७०)

कुछ लोग 'वात्सल्य'-रस 'लौल्य-रस' और कार्पण्य-रसके साथ 'भक्ति-रस' को भी इन नौ रसोंमें ही जोड़ते हैं।

वैद्यक-ग्रन्थ रस छः मानते हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। सुश्रुत-अनुसार जो पदार्थ मनुष्य खाता है उससे द्रवस्वरूप जो पहले सूक्ष्म-सार बनता है वह भी 'रस' कहलाता है। रस आनन्दको, मजेको भी कहते हैं। विहार, केलि, काम-

क्रीडा आदिको भी 'रस' कहते हैं। उमग, जोश, वेग, गुण, मिलन, जल, पानी आदिको भी 'रस' कहते हैं, परतु श्रीनन्ददासजीने इन रसोके लिये इस शब्दका प्रयोग नहीं किया है, अपितु यहाँ 'रस' शब्दसे वह अभिप्रेत अर्थ है, जिसके लिये श्रुतियाँ कहती हैं—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।

(तैत्तिरीयोपनिषद् २ । ७ । १)

वेदोमे भगवान्को 'रस' रूप कहा है —

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

(अथर्व० १० । ८ । ४४)

अत वेदो, उपनिषदो और ब्राह्मणोमे जिस मधु-रसका नाना प्रकारसे वर्णन किया है, वही 'रस' यहाँ अभिप्रेत है—वही अर्थ यहाँ इच्छित है।

उपजावनि—उपजानेवाली, पैदा करनेवाली। सुख-पुंज—सुखका समूह, ढेर। सुख—मनकी वह उत्तम तथा प्रिय अनुभूति जिसके द्वारा अनुभव करनेवालेको विशेष समाधान और सतोष होता हो, अथवा जिसके बराबर अर्थात् हमेशा बने रहनेकी कामना करता हो वह अनुकूल और प्रिय-वेदना जिसकी सबको अभिलाषा रहती है।

सुखको कुछ लोगोंने हर्षका पर्यायवाची शब्द माना है, पर है दोनोमे अन्तर। कोई उत्तम समाचार सुनने अथवा कोई उत्तम पदार्थ प्राप्त होनेपर मनमे जो सहसा 'वृत्ति' स्फुरित होती है उसे हर्ष कहते हैं।

यथा—

'प्रिय-दरसन, स्रवनादि तैं, होइ जो हिऐं प्रसाद ।'

—देव

परंतु 'सुख' इस तरह आकस्मिक रीतिसे नहीं होता; क्योंकि वह हर्षकी अपेक्षा अधिक स्थायी——देरतक ठहरनेवाला होता है। अनेक प्रकारकी चिन्ता, कष्ट आदिसे अलग रहनेपर तथा अनेकानेक वासनाओंकी परितृप्ति होनेपर मनमें जो प्यारी-प्यारी अनुभूतियाँ अलङ्कृत होती हैं, वास्तवमें देखा जाय तो वही सुख है। अतः इस सुखको कुछ महानुभावोंने मनका और कुछ लोगोंने आत्माका अनुपम धर्म माना है। न्याय और वैशेषिक मतानुसार सुख आत्माका 'गुण' है जो दो प्रकारका है——नित्य-सुख और जन्य-सुख। सांख्य और पतञ्जलिके अभिमतसे 'सुख' प्रकृतिका धर्म है, जिसकी उत्पत्ति सत्त्वोंसे होती है। गीता भी तीन प्रकारका 'सुख'——सात्त्विक, राजस और तामस नामसे मानती है। सात्त्विक सुख ज्ञान, वैराग्य और ध्यानादिसे, राजसिक सुख विषय तथा इन्द्रियोंके संयोगसे और तामसिक सुख आलस्य और उन्मादसे उत्पन्न होता है; किंतु कोशकार 'हर्ष' को ही 'सुख' मानते हैं——

मुद् प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसंमदाः।
स्यादानन्दथुरानन्दशर्मशातसुखानि च ॥

(अमरकोश १।५।३)

सुंदर-स्याँम-बिलासनी——श्याम-सुन्दरके साथ विलास करनेवाली, यानि लीला करनेवाली, खेलनेवाली। 'सुंदर-स्याम' श्रीकृष्णका नाम

विशेष है। विलास या विलास—खेल, क्रीडा, कौतुक, भोग, सुख, आनन्द।

'स्त्रीणां विलासविब्बोकविभ्रमा ललितं तथा।'

(अमरकोश १। ७। ३१)

नव-वृंदावन-कुंज—नयी, नूतन, नवीन-श्रीवृन्दावनकी कुञ्ज। वृंदावन—तुलसीका वन, कुंज—लतादिसे ढका हुआ स्थान।

रस-रूपनी, उपजावनि, सुख-पुंज, सुन्दर-स्याम-विलासनी, वृन्दावन और कुंजके सरस प्रयोग—

'रस-रूपनी' प्यारी! नेंकु इत देखो सुख-मोरि।'

—गदाधर भट्ट

'सुख' 'उपजावनी' राधे ऐसो न कीजै मान।'

—ललितकिशोरी

'वृंदावन', निरखो कबै जहँ 'कुंज-कुंज' 'सुख-पुंज।'

—नागरीदास

'सुंदर-स्याम' सुजान सिरोमनि, देहुं कहा कहि गारी हो।'

—गदाधर भट्ट

(२)

स्याँम-संदेश—श्यामका संदेश, समाचार, हाल-चाल, खबर, संवाद। संकेत—इशारा, निर्दिष्ट-स्थान। औसर—अवसर, समय। इक-ठाँउ—एक-ठाँव, एक जगह एकत्रित। मधुपुरी—'मथुरा' का प्राचीन नाम।

श्रीशुकने 'मथुरा' का वर्णन श्रीमद्भागवतमें बडा सुन्दर किया है—

अथापराह्णे भगवान् कृष्णः संकर्षणान्वितः।
मथुरां प्राविशद् गोपैर्दिदृक्षुः परिवारितः॥
ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुर-
द्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणाम्।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदा-
मुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम्॥
सौवर्णशृंगाटकहर्म्यनिष्कुटैः
श्रेणीसभाभिर्भवनैरुपस्कृताम्।
वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमै-
र्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु॥
जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमे-
ष्वाविष्टपारावतबर्हिनादिताम्।
संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां
प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम्॥
आपूर्ण-कुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः
प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः।
सवृन्दरम्भा क्रमुकैः सकेतुभिः
स्वलंकृतद्वारगृहां सपट्टिकैः॥
(श्रीमद्भागवत १०। ४१। १९, २०, २१, २२)

संदेस, संकेत, औसर, ठाँउ और मधुपुरी आदि शब्दोंके प्रयोग—

'गोपी ? सुनों हरि—संदेस'।'

—सूरदास

'सखी री मैं, ना जानौं 'संकेत'।'

—कृष्णदास कटहरिया

विशेष है। विभ्रम वा विभ्राम—खेल, क्रीडा, कौतुक, भोग, सुख, आनन्द।

'स्त्रीणां विलासविब्बोकविभ्रमा ललितं तथा।'
(अमरकोश १।७।३१)

नव-वृंदावन-कुंज—नयी, नूतन, नवीन-श्रीवृन्दावनकी कुञ्ज। वृंदावन—तुलसीका वन, कुंज—लतादिसे ढका हुआ स्थान।

रस-रूपनी, उपजावनि, सुख-पुंज, सुन्दर-स्याँम-बिलासनी, वृन्दावन और कुंजके सरस प्रयोग—

'रस-रूपनी' प्यारी ! मैंकु इत देखौ मुख-मोरि।'
—गदाधर भट्ट

'सुख' 'उपजावनी' राधे ऐसौ न कीजै मान।'
—ललितकिशोरी

'वृंदाबेन', निरखौ कबै जहँ 'कुंज-कुंज' 'सुख-पुंज।'
—नागरीदास

'सुंदर-स्याँम' सुजाँन सिरोमनि, देहुँ कहा कहि गारी हो।'
—गदाधर भट्ट

(२)

स्याँम-सँदेश—श्यामका संदेश, समाचार, हाल-चाल, खबर, संवाद। संकेत—इशारा, निर्दिष्ट-स्थान। औसर—अवसर, समय। इक-ठाँउ—एक-ठाँव, एक जगह एकत्रित। मधुपुरी—'मथुरा' का प्राचीन नाम।

श्रीशुकने 'मथुरा' का वर्णन श्रीमद्भागवतमें बडा सुन्दर किया है—

अथापराह्णे भगवान् कृष्णः संकर्षणान्वितः।
मथुरां प्राविशद् गोपैर्दिदृक्षुः परिवारितः॥
ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुर-
द्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणाम्।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदा-
मुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम्॥
सौवर्णशृंगाटकहर्म्यनिष्कुटैः
श्रेणीसभाभिर्भवनैरुपस्कृताम्।
वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमै-
र्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु॥
जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमे-
ष्वाविष्टपारावतबर्हिनादिताम्।
संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां
प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम्॥
आपूर्ण-कुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः
प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः।
सवृन्दरम्भा क्रमुकैः सकेतुभिः
स्वलंकृतद्वारगृहां सपट्टिकैः॥
(श्रीमद्भागवत १०।४१।१९, २०, २१, २२)

संदेस, संकेत, औसर, ठाँउ और मधुपुरी आदि शब्दोंके प्रयोग—

'गोपी? सुनौं हरि—संदेस'।'

—सूरदास

'सखी री मैं, ना जानौं 'संकेत'।'

—कृष्णदास कटहरिया

'मन ! पछितैहौ 'औसर' बीते।'

—सूरदास

'ऊगट करत स्याम खेलन मैं सखा रहौ 'इक-ठौंउ'।'

—रामदास

महो को को शङ्कां प्रकटयति सैषा 'मधुपुरी'।'

—श्रीशंकराचार्य

श्रीनन्ददासजीकी इस उक्तिपर 'रसरूप'जीके दो छन्द बरबस याद आ जाते हैं—

उद्धवमवलोक्य गोपाङ्गना उवाच

'कहा नाम, आए कहाँ, किहिं पठयौ किहिं काज।
जाचक हौ, को हौ, अहो ! परम-साधु के साज॥'

उद्धव उवाच

'संगी हैं, सलूकी हैं, सलाही हैं, सँकोची साधु-
सिस्य हैं, सुसील हैं, सुपात्र हैं, सुदेसी हैं।
सुखी हैं, सँतोखी हैं, सप्रेम हैं सनेम सदाँ-
साँचे सील-साक सपने हू न अँदेसी हैं॥
'रसरूप' सुनिएँ सुचित्त ह्वै कै सावधान-
सबन सों कहिए सँमीप सब बैसी हैं।
सेवक हैं, सखा हैं, सयाँन-सुभचिंतक हैं,
सूधौ 'ऊधौ' नाम-साँच स्याँम के सँदेसी हैं॥
'बाँनी को बढाइ करि, सब कों सुनाइ करि,
कहैंगे बुझाइ करि, जैसी जहाँ चहिए।
गयौ सब रोग, भयौ आनँद कौ जोग-
जोग कीजिए बजाइ कैं बियोग तैं न दहिए॥
'रसरूप' कौन जानैं कौन हिए कैसी लगै
ब्यौरौ बिसेस याते जीभ ते न कहिए।
मन ही मैं सहिए बक मौन गहि रहिए जो-
साँसिए तौ कहिए न सौंसो राह गहिए॥'

(३)

'गोपियोंकी प्रेम-व्यवस्था'

कवि-कथन

स्याँम—भगवान् श्रीकृष्णका नाम-विशेष जो उनके शरीरके काले रंगके कारण पड़ा था।

भगवान्के इस 'नीलोत्पल-दल-स्याँम' स्वरूपपर कवि-कोविदोंने बड़ी-बड़ी उड़ानें उड़ी हैं,—अनोखी फबतियाँ कसी हैं। कोई आपके श्याम-स्वरूप होनेका कारण बतलाता हुआ कहता है—

"जसोधा नें कारी-अँधेरी में जायौ।
जासौं 'कारौ-कृष्ण' कहायौ······॥"

—कोई कवि

अथवा—

'कजरारी-अँखियान में बस्यौ रहत दिन-रात।
पीतम-प्यारौ हे सखी, ता तें 'साँवर-गात॥'

—नागरीदास

क्योंकि—

'गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम्ह कित स्याँम सरीर।'

—सूरदास

अथवा—

"गोरे श्री नँदराइजू, हो गोरी-जसुमति माइ।
तुँम्ह याहीं तें साँवरें लाला, ऐसे लच्छिन पाइ॥"

—हरिरायजी

रघुनाथ कवि कहते हैं—

'काछौ कछें पट-पीत कौ सुंदर, सीस धरें पगिया-रँग-राती।
हार गरें बिच गुंजन कौ, अलकें छिति-छोरन लों छहराती॥

खेलत ग्वालन-संग 'रघुनाथ' औ डोलें गलीन-महा उतपाती ।
जौ रँग-साँवरो हो तो न ईहि, सो कान्ह की डीठि कहूँ लगि जाती ॥'

गोविन्द-स्वामी कहते हैं —

'रसमसे नंद-दुलारे ? आए हो उठि भोर ।
अरुन नैन, बैन अटपटे, भूषन जियनु जहँ-तहँ अधरन रँगभारे ॥
किन भव बाद करत गुसाँई ? जहाँ जाओ जाके प्रान-प्यारे ।
'गोविंद' प्रभु पिय भले जु भले आए, जात पाए, जैसे 'तनस्याँम, तैसेई मन-कारे॥

यहाँतक तो खैर थी ? अब 'श्याम' रंगकी दूसरी करामात देखिये—

'या अनुरागी-चित्त की गति समुझै नहिं कोइ ।
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याँम-रँग, त्यों-त्यों उजल होइ ॥'

—बिहारी

बेनी प्रवीन कहते हैं —

'भोर ही आवत नंद-किसोर, बिलोकति ही ललनों उठि दौरी ।
'बेनी प्रबीन' दोऊ कर सों गहि गाढ़े कै लागि गई लड़बौरी ॥
जाने कहा ए अजानी सबै, मैं दिखाइहौं लै सखियान कों औरी ।
साँवरे-रंग लगे हरि रावरो, साँवरी ह्वै गई पीता-पिछौरी ॥'

एक और—

'न्हात-हीं-न्हात तिहारे ही स्याँम ? कलिंदियौ स्याँम भई बहुतै है ।
धोखें हूँ धोए हौ या मैं कहूँ तौ, यहै रँग सारिन हूँ सरसै है ॥
साँवरे अंग कौ रंग कहूँ, इहि मेरे सुअंगन मे लगि जैहै ।
छैल-छबीले छुवौगे जु मोहि, तौ गातन मेरे गुराई न रैहै ॥

—कोई कवि

वाँम—शुद्ध स्वरूप "वाम" अथवा "वामा" "वामा"का लघुरूप जिसका कि अर्थ "स्त्री" होना है ।

'नवल त्रिभंग कदम-तर ठाढ़ौ मोहत सब ''ब्रज 'बाँम ।'

—सूरदास

बाँम—बाँए और टेढ़ेको भी कहते हैं। जैसे—

'बाम-बाहु' फरकति मिलैं जौ हरि जीवन-मूरि ।
तौ तोही सौं भेंटि हौं, राखि दाहिनी दूरि ॥''*

—बिहारी

'विधि हूँ भयौ जु ''बाँम ।' —व्यासजी

उर्दूमें 'बाँम'का अर्थ—अटारी, कोठा, मकानके ऊपरवाली छत, घरका सबसे ऊपरवाला भाग, अथवा घरकी चोटीको कहते हैं, जैसे—

'तमाम रात हुई, कर गया किनारा चाँद ।
बस उतरौ ''बाम'' से तुम जीते और हारा चाँद ॥'

'तूर पर जैसे किसी वक्त में चमकै थी झलक ।
कुछ सरे ''बाम'' से वैसा ही उजाला निकला ॥'

'बाम'' पर नंगे न जाओ तुम सबै महताब में ।
चाँदनी पड़ जायगी, मैला बदन हो जायगा ॥'

घर—गृह, मकान, वासस्थान । सुध—याद, स्मरण, चेत, स्मृति । आँनद वा आनन्द—ह्लाद, हर्ष, प्रसन्नता, खुशी, सुख, मोद, आह्लाद ।

---

* बिहारीके इस दोहेपर एक ऐसी ही भावभरी यह 'आर्या' भी सुन्दर है, यथा—

'प्रणमति पश्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुलकमुकुलितैरङ्गैः ।
प्रियसङ्गमाय स्फुरितां वियोगिनी 'वाम'बाहुलताम् ॥'

—आर्या सप्तशती ।

मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसंमदाः ।
स्यादानन्द पुरानन्दशर्मशातसुखानि च ॥
(अमरकोश १ । ५ । २)

हरै (हृदय)—अन्तःकरण, मन, चित्त, छाती, दिल, कलेजा । हृदय, छातीके भीतर —अंदर बाँयी ओर स्थित माम-कोश या थैलीके आकारका एक भीतरी अवयव है जिसमे स्पन्दन होता रहता है और उसमे होकर शुद्ध-रक्त नाडियोंद्वारा सारे शरीरमें सचार किया करता है ।

चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः ।
(कोश)

प्रेंत वा प्रेम—प्रीति, अनुराग, स्नेह, प्रणय, मुहब्बत, प्यार, माया ।

"प्रेम्णा प्रियता हार्दं 'प्रेम' स्नेहोऽथ दोहदम् ।"

यों तो 'प्रेम' शब्दका अर्थ --उसकी परिमित परिभाषा आज-तक न बनी, वकौल—स्वर्गीय श्रीसत्यनारायणजीके —

"उलटा-पलटी करहु निखिल-जग की सब भाषा ।
मिलहि न पै कहुँ एक, प्रेम-पूरी परिभाषा ॥"

क्योंकि प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है, अर्थात् कहनेमे नहीं आ सकता—गूँगेके गुण जैसा है, अनुभवसिद्ध है ।

"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं मूकास्वादनवत्"
(नारदभक्तिसूत्र ५१, ५२)

यही श्रीसत्यनारायण कहते हैं

"जानत सब कछु प्रेम-स्वाद मुख-बरनि न आवै।
जदपि परम-बाचाल मूँक ज्यों भाव बतावै॥
बिद्या-बल तत्त्वनि के भेद, प्रभेद, बताएं।
गूँगे कौ गुर-खाइ, जगत बैठ्यौ सिर नाएं॥"

उर्दूके शायर भी प्रेमके—इश्कके विषयमें कुछ न बतलाते हुए वही वेबसीका ढोल पीटते हैं—

शायद इसी का नाम मुहब्बत है शेफ़ता।
एक आग-सी है दिलमें हमारे लगी हुई॥

—ग़ालिब

मीर कहते हैं—

"हम तौरे इश्क़ से तो वाक़िफ़ नहीं हैं लेकिन।
सीने में कोई जैसे, दिल को मला करै है॥"

एक और शायर साहब फ़र्माते हैं—

"इश्क़ो-मुहब्बत क्या जानूँ, लेकिन इतना मैं जानूँ हूँ॥"
"अंदर-ही-अंदर सीने में, मेरे दिल को कोई खाता है॥"

लेकिन फिर भी प्रेमकी परिभाषाएँ चाहे वे अधूरी ही हैं, किसी-न-किसी रूपमें मिलती ही हैं। सबसे प्रथम 'भक्ति-सूत्र' में प्रेमकी परिभाषा करते हुए श्रीनारद मुनि कहते हैं—

"गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमान-
मविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।"

(नारदभक्तिसूत्र ५४)

अर्थात्—प्रेमका स्वरूप गुण और कामनाओंसे रहित,

प्रतिक्षण बढ़नेवाला, एक रस, अत्यन्त-सूक्ष्म, केवल अनुभवगम्य है।
जैसे—

"बिन गुन जोबन रूप धन, बिन स्वारथ हित जाँन।
सुद्ध-कामना तें रहित, प्रेम सकल रस-खाँन॥
अति सूच्छम, कोमल अतिहि, अति पतरौ अति दूर।
प्रेम कठिन सबतें सदाँ,—नित इक रस भरपूर॥"
"इक अंगी, बिन कारने, इक रस सदाँ समान,।
गनै प्रियहिं सरबस्व जो, सोई प्रेम-प्रमान॥"
"रसमै, स्वाभाविक, बिना-स्वारथ, अचल, महाँन।
सदाँ-एकरस, सुद्ध सोइ, प्रेम अहै "रसखाँन"॥"

भक्ति-रसामृत-सिंधुके कर्त्ता कहते है—

"सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥"

अथवा—

"दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा।
यत्र द्रवत्यन्तरङ्गं स स्नेह इति कथ्यते॥"

करुण-रसाचार्य्य महाकवि श्रीभवभूतिजी अपने 'उत्तर राम-चरित' नाटकमें प्रेम चित्राङ्कण करते हुए कहते हैं—

"अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्-
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरया यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥"

अर्थात्—स्वर्गीय कवि श्रीसत्यनारायणजीके शब्दोंमें—

"सुख-दुख में नित एकु हृदय कौ प्रिय-बिराम-थल।
सब बिधि सों अनुकूल, बिसद-लच्छनमय अबिचल॥
जासु सरसता सकै न हरि कबहूँ जठराई।
ज्यों-ज्यों बाढ़त सघन, सघन सुंदर सुखदाई॥
जो अवसर पर संकोच तजि, परखत दृढ़ अनुराग सत।
जग दुरलभ सज्जन प्रेम अस, बड़भागी कोऊ लहत॥

कबीर-साहब फरमाते हैं—

"छिन हिं चढ़ै, छिन ऊतरै, सो तौ प्रेम न होइ।
अवट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोइ॥"

सच-बात तो यह है कि प्रेमकी कोई ठीक-ठीक परिभाषा हो ही नहीं सकती, क्योंकि प्रेम ईश्वरमय है—ईश्वर ही है, अथवा ईश्वर ही प्रेम हैं। जैसे—

"नित्त बिचारनु जोग रुचत उपदेस यही उर।
परमेसुर-मै प्रेम, प्रेम-मय नित परमेसुर॥"

अथवा—

"प्रेम हरी कौ रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसैं, ज्यों सूरज औ धूप॥"

—रसखान

यही बात हजरत 'मीर' फर्माते हैं—

तू न होवे तो नज़्म कुल उठ जाँय।
सच्चे हैं शायराँ, ख़ुदा है इश्क़॥

अस्तु, परम-शुद्ध और विस्तृत अर्थमें 'प्रेम' ईश्वरका ही स्वरूप है, इसलिये अधिकांश धर्मोंके अनुसार प्रेम ही ईश्वर, वा ईश्वर

ही प्रेम—अथवा प्रेम ही परम धर्म माना जाता है—गाया जाता है और यही भक्तिका परमोत्कृष्ट स्वरूप समझकर मोक्ष-प्राप्तिका परम-साधन बतलाया जाता है। यों तो सत्-शास्त्रकारोंने, अथवा वैष्णव-साहित्य-सृजेताओंने प्रेमके अनेकानेक भेद-विभेद निरूपित किये हैं, पर मुख्यतम रूपसे—उत्तम, मध्यम और अधम अर्थात् निकृष्ट ये तीन भेद ही कहे हैं। उर्दू-साहित्य-सम्राटोंने इस इश्क़के केवल दो ही भेद माने हैं—मजाजी और हकीकी। अस्तु,

"प्रेम-समुद्र अथाह हैं, बूड़े मिलै न अंत।
तेहि समुद्रमें हों परा, तीर न मिलत तुरंत॥"

—नूरमुहम्मद

अथवा—

"हविसे-दीद मिटी है न मिटेगी 'हसरत'।
देखने के लिये चाहे उन्हें जितना देखो॥"

भारतीय प्रेम-परिभाषा जहाँ उसे ईश्वरका रूप ही मानती है, वहाँ उससे इतर देशोंने प्रेमकी परिभाषा निम्न प्रकारसे की है। यथा—

१ अमरीका—"खूबकर प्यार, खूब कोड़ेमार।"

२ अरब—"प्रेम सात सेकड, कल्पना सात मिनट और अप्रसन्नता जीवनभर टिकती है।"

३. आयर्लेंड—"एक पुरुष अपनी प्रेयसीको सबसे अधिक, पत्नीको सबसे अधिक अच्छी भाँति और माँको सबसे अधिक समय-तक प्यार करता है।"

४ आयर्लेंड—"सभी पुरुषोंसे प्रेम करो, सुनारको छोड़कर।"

५. इंग्लेंड—"सूप (एक प्रकार मांससे बना पेय) और प्रेममें प्रथम (सूप) ही उत्तम होता है।"

६. इंग्लेंड—"वह बिलकुल प्रेम नहीं करता, जो जानता है कि अन्त किस प्रकार किया जाता है।"

७. जर्मनी—"प्रेम दृष्टिको छीनता है, विवाह पुनः प्रदान करता है।"

८. जापान—"प्रेमीकी दृष्टिमें चेचकके दाग, गालोंमें पड़नेवाले सुन्दर गड्ढे होते हैं।"

९. डेन्मार्क—"यदि सोना बरसे तो भी प्रेमी कभी धनी नहीं होगा।"

१०. फ्रांस—"बिना ईर्ष्याके कहीं प्रेम नहीं होता।"

११. फ्रांस—"पुराना प्रेम और पुराने कोयले जल्दी आग पकड़ते हैं।"

१२. फिजिशयन प्रदेश—"बचकाना प्रेम अधूरा और बूढ़ा प्रेम ठंढा होता है।"

१३. मिश्र—"प्रेमीका प्रहार उतना ही मधुर होता है, जितना कि किसमिस खाना।"

१४. पोलेंड—"प्रेम पुरुषकी आँखोंसे और स्त्रीके कानोंसे प्रवेश करता है।"

१५. पोलेंड—"जो बहुत प्यार करता है, वही बहुत मारता है।"

१६. रूस—"प्रेम और अंडा ताजा ही स्वादिष्ट होता है।"

१७. लैटिन-प्रदेश—"प्रेमी, पागल।"

१८. बाल्टिक-प्रदेश—"प्रेमको शोरेकी भाँति फैलाया जा सकता है।"

१९. स्काटलैंड—"किसीकी प्रेमिका कुरूप नहीं होती।"

२०. स्पेन—"प्रेम मोचकी भाँति होता है जिसकी पुनरावृत्ति अधिक सरलतासे हो जाती है।"

२१ स्वीडन—"प्रेम या पाजामामें लगी आगको छिपाना सरल नहीं होता।"

२२. हंगरी—"स्वप्नों और प्रेममें कुछ भी असम्भव नहीं।"

२३. कोई—*"प्रेमकी जीभ उसकी आँखोंमें होती है।"*

बेली—शुद्ध स्वरूप बेल, बेलि, वा वल्ली और वनस्पति-शास्त्रके अनुसार वे छोटे-छोटे तथा कोमल पौधे जिनमें काँड या मोटे-तने नहीं होते और अपने बलपर ही ऊपरकी ओर उठते हैं, पर बढ़ नहीं सकते। इसीसे इसे लता व वल्ली कहते हैं।

"अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ वल्ली तु व्रततिर्लता।"

(अमरकोष २।४।९)

साधारणतः बेल दो प्रकारकी होती है। एक वह जो कि अपने उत्पन्न होनेके स्थानसे आस-पासके पृथ्वी तलको अथवा इसी तरह किसी अन्य तलपर दूरतक फैलती चली जाती है। दूसरी वह जो कि आस-पासके वृक्षों अथवा इसी कार्यके लिये लगाये गये बाँस आदिके सहारे उनके चारों ओर घूमती हुई ऊपरकी ओर जाती है।

द्रुम—वृक्ष, महीरुह, शाखी, विटपी, पादप, तरु, अनोकह, कुट, साल, पलाशी, द्रुः और अगमको कहते हैं।

वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः।
अनोकहः कुटः सालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः॥
(अमरकोश २।४।५)

फूली— फूलना, विकसित होना, खिलना, आनन्दित होना, श्रीनन्ददासजीके—"प्रेम-वेली-द्रुम-फूली"रूप पद्यांशपर श्रीसत्यनारायण-जीकी एक बड़ी सरस सूक्ति याद आ गयी है, जैसे—

"कृष्ण-विरह की बेलि, नई ता उर हरियाई।
लोचन-असु-विमोचन दोऊ दलबल अधिकाई॥
पाइ प्रेम-रस बढ़ि चली, तन-तरु लिपटी धाइ।
फैलि फूटि चहुँधाँ छई, बिथा न बरनी जाइ॥
—अकथ ताकी कथा।

पुलकि—पुलकित होकर, हर्षित होकर वा हर्षसे—प्रेमसे। रोंम वा रोम—रोयाँ, लोम, देहके—शरीरके बाल। छए—छा गये, फैल गये।

"पुलकि—रोंम सब अँग छए" पर बिहारीकी उक्ति बड़ी लाजवाब है। देखिये न, जैसे—

"मैं यह तोही मैं लखी, भगति-अपूरब बाल।
लहि प्रसाद-माला जु भौ, तन कदंब की माल॥"

अर्थात्—

"अपूरब-भक्ति यह तुझ में ही देखी मैंने ऐ—बाला ।
कदम-सा खिल गया तन लेते ही परसाद की माला ॥"

—देवीप्रसाद "प्रीतम"

कठ-घुट्यौ—कण्ठ, अर्थात् गला। घुट्यौ—घुटा, मुँदा—रुँधा अथवा कण्ठ-घुटना—गलेसे आवाज न निकलना। गद्‌गद-गिरा—गद्‌गद, अत्यन्त हर्ष, प्रेम, शोक, श्रद्धा आदिके कारण—अथवा उसके आवेगसे इतना पूर्ण कि अपने आपेको भूल जाय और स्पष्ट शब्दका उच्चारण न कर सके। गिरा—वाणी, वचन। बोलनेकी वह शक्ति जिससे मनुष्य बातें करता है। बैन—वचन, बोली, शब्द, बात, कथन। बिवस्था, वा व्यवस्था—किसी कार्यका वह विधान जो कि शास्त्र-द्वारा निश्चित वा निर्धारित हो।

स्याँम, बाँम, घर, सुधि, आनँद, हरै, प्रेम, बेली, द्रुम, पुलकि-रोम, गद्‌गद-गिरा और बैन—शब्दोंके सरस प्रयोग। यथा—

"सोहत ओढ़ैं पीत-पट 'स्याम' सलौने-गात।"

—बिहारी

"घेरि लेउ सब सखा सयाने, जान न पावैं "बॉम"।"

—छीतस्वामी

"आज 'घर' मंगलचार—बधाए।"

—रामदास

'सुधि' न रहत सरीर की ... ...।"

—पंडितराज जगन्नाथ

"उर 'आनँद' अति ही बढ्यौ, सुफल भए दोऊ नैन।"

—रसिकराय

"हृदै" की कासों कहों मैं पीर।" —ललित-माधुरी

"प्रेम" करि काहू सुख न लह्यौ।" —सूरदास

"श्रीवृंदावन फूलि रही अति—"बेली"।" —रसिक-किसोरी

"जमुना-पुलिन-कुंज गहवर की-
कोकिल ह्वै "द्रुम" कूक मचाऊँ।" —ललित-किसोरी

"पुलकि-रौंम" सब अँग-अँग छाए, कछु छबि ऐसी देत।
अँकुर उठे प्रेम के मानों, सरस हेंम के खेत॥"
—परमानन्ददास

"तब बोली ब्रजबाल, लाल मोंहन अनुरागी।
सुंदर "गदगद-गिरा", गिरधरहिं मधुरी लागी॥"
—नन्ददास

"सुन केवट के "बैंन" प्रेम लपेटे अटपटे।"
—तुलसीदास

कुछ ऐसी ही प्रेम-व्यवस्थाका वर्णन श्रीशुक भी नन्द-बाबाकी (का) करते हैं, यथा—

"इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः।
अत्युत्कण्ठोऽभवत् तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः॥"
—श्रीमद्भागवत १०।४६।२७

अब इस प्रेम-व्यवस्थापर श्रीस्वर्गीय 'रत्नाकर' की भी बानगी देखिये, यथा—

"धाँई धाँम-धाँम तें अवाई सुनि ऊधव की,
बाँम लाख-लाख अभिलाखनि सों भ्वै रहीं।
कहै "रतनाकर" पै विकल बिकंकि तिन्हैं—
सकल करेजौ थाँमि आपुनपौ ख्वै रहीं॥

लेखि निज-भाग लेखि रेखि तिन आँनन की,
आँनन की ताहि आतुरी सों मन ह्वै रहीं।
आँस रोकि, साँस रोकि, पूँछन-हुलास रोकि,
मूरति निरास की-सी आस-भरी ह्वै रहीं॥"

अथवा—

"भेजे मन-भावन के ऊधव के आवन की—
सुधि ब्रज-गावनि में पावनि जबै लगीं।
कहै "रतनाकर" गुवालिनि की झौरि-झौरि,
दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन तबै लगीं॥
उझकि-उझकि पद-कजनि के पंजनि पै—
पेखि-पेखि पाती, छाती छोहन सबै लगीं॥
हम कौं लिख्यौ है कहा? हम कौं लिख्यौ है कहा?
हम कौं लिख्यौ है कहा? कहँन सबै लगीं॥"*

एक और—

ऊधौ! आए-आए, हरि कौ सँदेसौ लाए—
सुनि गोपी-गोप धाए मन धीर ना धरति हैं।
बौरी लगि दौरी उड़ि भौरी लौं भ्रमत मन,
गुन तन अनौं गुरु-लोग बिदरति हैं॥
ह्वै गईं बिकल-बाल बालम-बियोग भरी,
जोग की सुनत बात गात ज्यौं जरत हैं।
भारे भए भूषन, सम्हारे न परत अंग-
आगे कौं धरति पग पाछे कौं परति हैं॥
—गोपी-प्रेम-पीयूष-प्रवाह

---

* रत्नाकरजीके ऊपर दिये छन्दपर श्रीसूरका एक पद याद आ गया है

यथा—

'पाती, मधुबन हीं तें आई ।
सुंदर स्याँम-काँन्ह लिखि पठई, आइ सुनौ री माई ?
अपने-अपने गृह ते दौरीं, लै पाती उर लाई ।
नैंननि निरखि निमेख न खंडित प्रैंम बिथा न बुझाई ॥
कहा करौं सूनौं यह गोकुल, हरि बिनु कछु न सुहाई ।
'सूरदास' प्रभु कौंन चूक तें, स्याँम, सुरत बिसराई ॥

मान-संमानांतर

कथोपकथन

(४)

अरघासन—अर्घ और आसन, सम्मानार्थ जलसे अभिसिंचन, षोडशोपचार-पूजाका प्रथम उपस्करग, जल, दूध, कुशाग्र, दही, सरसों और तण्डुल तथा यव आदि मिलाकर देव-विशेषको अर्पण करना । सामने जल, पानी गिराना । मोल आदि—

"मूल्ये पूजाविधावर्घः अंहो दुःखव्यसनेष्वघम् ।"

—अमरकोश ३ । ३ । २७

आसन—पूजनके समय बैठनेका अथवा किसी भद्र पुरुषके घर आनेपर बिछावन देनेकी वस्तुको आसन कहा जाता है । पीठ, पीढ़ा, चौकी, हाथीका कंधा, शत्रु वा जिगीषुका, अवसर प्रतीक्षार्थ अवस्थान, कुश वा ऊनका बना हुआ बिछाने योग्य वस्त्र-विशेष ।

"गेण्डुकः कन्दुको दीपः प्रदीपः पीठमासनम् ।

—अमरकोश २ । ६ । ४०

अथवा—

'आसनं' स्कन्धदेशः स्यात्''''' ''।'

—अमरकोश २। ८। ७

वैसे तो योग-शास्त्रानुसार तथा कामशास्त्रानुसार आसन चौरासी प्रकारके कहे जाते हैं, पर अष्टाङ्ग-योगके तीसरे-अङ्गानुसार "आसन" पाँच प्रकार माना जाता है, जैसे कि "पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन और वीरासन"। प्रकारान्तरसे—पद्मासन, सिद्धासन, गरुडासन, कमलासन और मयूरासन भी कहे जाते हैं' आदि·········।

परिकंमा—परिकरिमा वा परिक्रमा, अर्थात् किसी वस्तु वा देवताके चारों ओर घूमना, फिरना, चक्कर लगाना। स्याँम-सखा—श्यामका सखा, मित्र, बन्धु, साथी, संगी आदि········।

वयस्यः स्निग्धः सवयाः अथ मित्रं सखा सुहृत्।

—अमरकोश २। ८। १२

निज—अन्तरङ्गीय, आत्मीय, स्वकीय, खास, प्राईवेट, मुख्य, प्रधान। हित—हितसे, प्रेमसे। सेवा—शुद्ध सेवा, किसीको आराम पहुँचानेकी क्रिया, यानी टहल, खिदमत, परिचर्या। बूझत—पूछत। नँद-लाल—नदके लाल, प्यारे बेटे, लडके। नंद—गोप जातिके एक प्रमुख सरदार, नेता, राजा, जिनके यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने बाल-क्रीडा की थी।

कहते है कि—नन्दबाबाके पिताका नाम 'पर्जन्य' और 'माता' का नाम 'वरीयसी' था और इनके पाँच भाई जैसे—

"उपनन्द, अभिनन्द, नन्द, सुनन्द और नन्दन तथा दो बहिनें "नंदनी और सुनंदा" थीं, जो "लीन" और "सुकाम" नामक एक प्रतिष्ठित गोपको व्याही गयी थीं। नन्दजीके बड़े भाई उपनन्दजीकी दो संतानोंका उल्लेख मिलता है—कन्या "स्याम देवी, जो श्रीकृष्णके ही समतुल्य रूप-रंगमें थी और पुत्र श्रीकृष्ण जो श्रीनन्दबाबा—द्वारा गोदमें बैठाये जानेके कारण आपके पुत्र कहलाये थे। उपनन्दसे छोटे अभिनन्दके "सुबाहु" नन्दबाबाके भगवान् श्रीकृष्ण, सुनन्दके "सुबल" और नन्दनके तोत्र वा तोक नामके पुत्र थे। श्रीनन्दबाबाका वर्ण गौर था और केशराशि कुछ काली और कुछ सफेद मिली हुई थी। तोंद कुछ बड़ी, छाती ऊँची और पेशानी विस्तृत थी तथा कपड़े नीले रंगके पहिरा करते थे। आपकी स्त्रीका नाम श्री "यशोदा" था। जो कि शरीरसे स्थूल व रंग कुछ साँवला-सा था और कपड़े सदा पीले रंगके पहिना करती थीं, श्रीयशोदा-मैयाका दूसरा नाम "देवकी" भी मिलता है। श्रीनंदबाबाको भाइयोंसे हिस्सेमें नौ लाख गौएँ मिली थीं, पर थीं इनके—बहत्तर करोड़। उपनन्दजीने और अभिनन्दजीने क्यों राज्य नहीं किया इसका कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता—कहीं भी इसका पता नहीं चलता, अस्तु श्रीनन्दराय यों ही राजा कहे जाते थे, अर्थात् व्रजराज वा व्रजरायके नामसे आप ही सम्बोधित किये जाते थे। आपके कुल देवता—नारायण, वेद शाम, शाखा कौथमी और हरिवंश पुराणानुसार वेद-यजुः, शाखा माध्यन्दिनी तथा कुल-पुरोहित शाण्डिल्य-ऋषि कहा जाता है। श्रीनन्दबाबाकी राजधानी गोकुल और नंदिग्राम थी आदि-आदि··········।

बिहँसति—शुद्धरूप "विहंसत", अर्थात् वह हास्य जो न बहुत उच्च हो और न इतना लघु ही हो जो मालूम न हो सके, मधुर-हास्य, वा मध्यम-हास ।

कोशकारोंने हास वा हास्यके तीन भेद माने हैं। जैसे कि—"सशब्द-हास, थोड़ा हास वा लघुहास और मध्यम हास। यथा—

"स्यादाच्छुरितकं हासः सोत्प्रासः समनाक् स्मितम्।
मध्यम स्याद्-विहसितं.. .. ..॥"

—अमरकोश १ । ७ । ३४

अर्थात्—सशब्द-हास, जो कि अधिकत:विशेष अलङ्कृत हो वह 'आच्छुरितक' व 'अविच्छति' कहलाता है और जो कि न बहुत ज्यादा हो और न विशेष कम ही हो वह 'स्मित'-हास, जिसे समनाक् होनेसे 'स्मितं' कहते हैं, यथा—

"ईषद्दकसितैर्दन्तैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितम्।
अलक्षित द्विजद्वारयुतमाना "स्मितं भवेत्" ॥"

इसी तरह जो हास अधिक और अल्प न हो, वह 'विहसित' कहलाता है, जैसे—

"आकुंचितं कपोलाक्षं सस्वनं निस्वनं तथाः।
प्रस्तावोत्थं सानुरागमाहुर्विहसितं बुधाः ॥"

श्रीविश्वनाथ कवि चक्रवर्तीजीने अपने "साहित्यदर्पण" में हास व हास्यके छः भेद विभूषित किये हैं, यथा—

"ज्येष्ठानां स्मितहासिते मध्यानां विहसितावहसिते च।
नीचानामपहसितं तथातिहसितं तदेष षड्भेदः ॥"

"ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात्स्पन्दिताधरम् ।
किंचिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः ॥"
"मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरःकम्पमवहसितम् ।
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं (च) भवत्यतिहसितम् ॥"

—साहित्यदर्पण ३ । २१७, १८-१९

अर्थात्—स्मित, हसित, विहसित, अविहसित, अप-हसित और अतिहसित । लेकिन—भाषा-साहित्य-सृजेता तीन प्रकारका ही हास मानते हैं, यथा—

"हँसनि खुलति नहिं 'मंद' में, धुनि 'मद्धिम' में होइ ।
बहु-हँसिबौ 'अति-हास' में, हास तीनि-बिधि जोइ ॥"

—रसप्रबोध

पण्डितराज जगन्नाथजीने अपने "रस-गंगाधर" में हासके उक्त छः भेद मानते हुए प्रथम—आत्मस्थ और परस्थ दो भेद और माने हैं, जैसेः—

"आत्मस्थः परसंस्थश्चेत्यस्य भेदद्वयं मतम् ।"

नींके—नीके, अर्थात् अच्छे प्रकार, राजी-खुशी, भलीभाँति अच्छी तरह । बल-बीरजू—बल, बलदाऊ, बलदेवजी, बीर—भाई अर्थात् बलदाऊके भाई श्रीकृष्ण । वचन—शुद्ध वचन, वाणी, वाक्य, यथा—

"व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं 'वचनं' वचः ।"

रसाल—रस-संयुक्त, रसभरे, रससे ओतप्रोत, सुन्दर, मनोहर, मीठे आदि-आदि ....।

अरघासन, बहुरि, परिक्रमा, स्याम-सखा, हित, सेवा, नँदलाल, बिहँसति, ब्रज-बाल, नीके, बलबीर, बचन और रसालके सरस प्रयोग। यथा—

'अरघासन' दै हित सौं जुवती, धनि धनि दिन यह आज,
'परमानँद' प्रभु गरजै आए हरखत श्रीब्रजराज ॥*

—परमानन्द

"आजु कुहू की राति, चलौ "परिक्रमा" कीजै।
गिरि सनमुख निसि जागि, भोर बलि-पूजा दीजै ॥"

—ब्रज-जन

कालिह "बहुरि" हम आइ हैं हो, गो-रस लै सब ग्वाल।"

—श्रीहरिराय

"ऊधौ ! "स्याम-सखा" तुम साँचे।"

—सूरदास

"हित" सौं बात करति सब-गोरी ॥"

—विट्ठल विपुल

मैं "सेवा" बस भयौ तिहारै;
जो फल चाँहौ लेहु सवारे।

—सूरदास

* कुछ ऐसा ही भाव श्रीसूरने भी एक पदमें व्यक्त किया है, जैसे—
"दै करि अरघ, लए भीतर ते, धनि-धनि कहि दिन आज।
धनि धनि "सूर" उमँग-सुत आए, मुदित करत ब्रजराज ॥"

—सूरसागर: भ्रमरगीत

"नाँचति "नँद्लाल" संग प्रेम-सहित रास-रंग--
ताता-थेई, ता-ता-थेई करति घोष नागरी।"

—कृष्णदास

जब "नँद्लाल" चीर-गहि झटक्यौ, मन मैं बहुत डरी,

—कुंभनदास

"बिहँसति" भेंटे अंकवारी भरि, भल्यौ बन्यों हैं दाउ।
"कहि भगवान हित रामराइ" प्रभु, राधा-रवन जाकौ नाउँ॥"

—हित भगवान

"जुरि आईं "व्रज-बाल", घेरि लए तबै कन्हाई।
भाजि न इत-उत जाहिं, गहौ अब सबै लुगाई॥"

—रामदास

"तू "नींकें" जानति री? रस की रीति।"

—हरनारायण-श्यामदास

"लै चलि री सखी! मोहि जमुना-तीर, जहाँ है हैं—
"बल-बीर" देखि-देखि दृगन सिराऊँ।"

—नंददास

"धाई सब गहन कौं, रस"बचन" कहन कौं,
भाँमिनी बनी अति-छबि सुधारत चरन॥

—हित भगवान

"लाल-"रसाल" के बचन सुनि, कछु मुरि-मुसिक्याँनी।"

—आसकरन

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकने भी कुछ ऐसी ही सुमधुर-सूक्ति कही है, यथा—

"शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः
प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम्।

पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्-
मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम् ॥"
"तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं—
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने
विज्ञाय संदेशहरं रमापतेः॥"
—श्रीमद्भागवत १० । ४७ । २, ३

एक पद इस भावपर श्रीसूरका भी देखिये, जैसे—

"आजु ब्रज कोऊ आयौ है ।
कैधौं बहुरि अक्रूर क्रूर है, जियति, जानि उठि धायौ है ॥
मैं देख्यौ ताकौ रथ ठाड्यौ, तुम सखि ! सोध न पायौ है।
कै करि कृपा, कै दुखित जानिकैं, हरि-सदेस पठायौ है ॥
चली सिमटि सबै पूछन कौ, ऊधौ-दरस दिखायौ है।
तब पहिचाँनि सबै प्रभु कौ भृत, करन-जोरि सिर नायौ है ॥
हरि हैं कुसल, कुसल हौ तुम हूँ, कुसल लोग जिहिं भायौ है।
है वह नगर कुसल "सूरज" प्रभु, करि सुदृष्टि जहँ छायौ है ॥
—सूरसागर

अब तनिकें—"पूँछनि सुधि नँद-लाल की"...... पर स्वर्गीय कवि नवनीतजीकी भी एक सूक्ति निरखिये, यथा—

"जादव कौ बैरी-पित्र-द्रोही कंस मित्र-सुत-
मार्‌यौ सो तौ सुजस पवित्र निरमल है।
भामा-हत सिगरे हितू-जन जो बसायौ-
राज-पाट सो दिवायौ अरथ पायौ सो सकल है ॥
"नीतकवि" यारनें तौ चौरे ही बजार बीच,—
कुबजा कौं सूधी करि डारी तौ असल है।

एते सब सुहृद-समाज के सहित ऊधौ ?
कहि तेरौ अब तौ वह अच्युत कुसल है ॥"
—गो० प्रे० पी० प्र०

उद्धव-वचन

(५)

कुसल—कुशल, राजी-खुशी, प्रसन्न, भलें, मंगल, कल्याण, क्षेम।

"भावुकं भविकं भव्यं "कुशलं" क्षेममस्त्रियाम्।"

रौंम—बलभद्र, बलदाऊ, बलदेव, व भगवान्‌के बड़े भाईका नाम-विशेष, जैसे—

"बलभद्रः प्रलम्बघ्नो बलदेवोऽच्युताग्रजः।
रेवतीरमणो "रामः" कामपालो हलायुधः॥"
—अमरकोश

संगी—साथी, साथवाले, साथके, संग-साथ रहनेवाले, पासके, हमेशा पास रहनेवाले, मित्र, बन्धु। जदु-कुल—यादव-कुल अर्थात् यादवोंका कुल, वंश।

कहते हैं—'यदु' महाराज ययातिके बड़े पुत्र थे। आपकी माताका नाम देवयानी जो श्रीशुक्राचार्यकी पुत्री थी। 'महाभारत'में लिखा है कि पिता महाराज ययातिके शापके कारण आपको राज्य नहीं मिला, लेकिन पुनः इन्द्र जो देवताओंके राजा हैं, उनके कारण आपको राज्य मिला। भगवान् श्रीकृष्ण इसी पावन वंशमें उत्पन्न हुए थे; जैसे—

"दुष्यन्तः स पुनर्भेजे स्वं वंशं राज्यकामुकः ।
ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशं नरर्षभः ॥
वर्णयामि महापुण्यं सर्वपापहरं नृणाम् ।
यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
यत्रावतीर्णो भगवान्परमात्मा नराकृतिः ।
यदोः सहस्रजित्क्रोष्टा नलो रिपुरिति श्रुताः ॥"

—श्रीमद्भागवत ९।२३।१८, १९, २०

ब्रज—शुद्ध ब्रज, अर्थात् गौ और गोपोंका निवास-स्थल, गाँव, गोष्ठ। ब्रज शब्द समूह या झुंडके अर्थमें भी आता है, यथा—

समूह-निवह-व्यूह-संदोह-विसर "ब्रजाः।"

—अमरकोश २।५।३९

और 'ब्रज' ब्रज+'गतौ' धातुके अनुसार जाने या गमनके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। तीर—समीप, पास, निकट अथवा—तीर, कूल, किनारा, तट अथवा—बाण, सरको भी कहते हैं।

"कूलं रोधश्च "तीरं च" प्रतीरं च तटं त्रिषु ॥"

थोरे—थोडे, अल्प। जनि—मत, नहीं, निषेधार्थक सर्वनाम।

कुसल, राँम, संगी, जदुकुल, ब्रज, तीर, थोरे और जनि—शब्दोंके सुन्दर प्रयोग।

"ऊधौ" ? "कुसल अहैं दोउ भैया।"

—सूरदास

"राँम" स्याँम दोउ आगें करिकैं, पूंजत गिरि गोवरधन ब्रज-राइ।"

—छीतस्वामी

"संगी" है, सतकी हैं, सलाही है.............।

—रसरूप

"धीर-धरौ अहौ गोपिका, धारौ प्रान-समाज।
कछू काल बीतें इतै, अइहैं "जदुकुल" राज॥"

—नवनीत

"ब्रज" भयौ महरि कें पूत, जब यै बात सुनीं।"

—सूरदास

"नैंक मेरे "तीर" आइ जा, अहो साँवरे कन्हैया?"

—नागरीदास

"थोरे"—ई गुन रीझिबौ बिसराई वह बानि।"

—बिहारी

"अब "जनि" करहु विलंब लाड़िली, दया-दीठि टुक हेरौ……।"

—व्यासजी

कुछ यही बात श्रीशुक भी उद्धवजीसे कहलाते हैं, यथा—

"आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान्सात्वतां पतिः॥"

श्रीमद्भागवत १०।४६।३४

इसी भावपर अब जरा श्रीसूरकी भी बानगी निरखिये, जैसे—

गोपी, सुनों हरि-कुसलात।
कंस-नृप कों मारि छोरे, आपुने पित-मात॥
बौहौत-बिधि ब्यौहार करि दयौ, उग्रसेंन कों राज।
नगर-लोग सुखी बसत हैं, भए सुख के काज॥
इहै पाती लिखी, अरु कछु कह्यौ मुख-संदेस।
"सूर" निरगुन-ब्रह्म धरि कें तजहु सकल अंदेस॥

अथवा—

गोपी, सुनों हरि-संदेस।
गए सँग-अक्रूर-मधुवन, हत्यौ कंस-नरेस॥

रजक-मार्यौ, बसन-पैहरे, धनुष-तोर्यौ जाइ।
कुवलिया-चाडूर-मुष्टक, दए धरनि-गिराइ॥
मात-पित के बंद छोरे, बासुदेव-कुमार।
राज दीन्हों उग्रसेनहिं, चँमर निज-कर-ढार॥
कह्यौ तुम कों ब्रह्म-ध्यावौ, छाँड़ि-बिषै-बिकारि।
"सूर" पाती दई लिखि मोहि, पढ़ौ गोप-कुमारि॥

कवि-वचन

(६)

मोंहन—शुद्ध मोहन अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णका नामविशेष अथवा—मोंहन, मोहनेवाले, अपनी ओर आकर्षित करनेवाले—खींचनेवाले। अथवा मोहन, अर्थात् जिसे मोह न हो, प्यार न हो, मुहब्बत न हो आदि-आदि।

मोंहन शब्दपर जरा 'रस-निधि'जीकी फबती भी सुन लीजिये, जैसे—

"मोंहन तेरे नाम कौ, लख्यौ वा दिना घोर।
ब्रजबासिन को मोहि कैं, चले मधुपुरी-ओर॥"

अथवा—

"रसनिधि' मोंहन नाम कौ, अरथ न लिय निरधार।
प्रथम समझि तब कीजयो, वासों प्रीति-विचार॥"

—रतन हजारा

सुमरन ह्वै आयौ—स्मरण हो आया, याद आ गया सुमरन—याद, ध्यान।

"चिन्ता तु स्मृतिराध्यानं 'स्मरणं' सस्पृहं पुनः।
उत्कण्ठोत्कलिके तस्मिन्नभिध्यातुभयोरपि॥

—शब्दार्णव

आँनन—मुख, मुँह, चहरा, बदन, आस्य ।

वक्त्रास्ये वदनं तुंडं 'आननं' लपनं मुखम् ।

—अमरकोश

कमल—पुष्प-विशेष, कमलको पद्म, अंबुज, जलज आदि भी कहते हैं । यथा—

वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम् ।
सहस्रपत्रं "कमलं" शतपत्रं कुशेशयम् ॥

—अमरकोश १ । १० । ३९

कमल पानीसे उत्पन्न एक पुष्प, जो संसारके सभी देशोंमें प्रायः पाया जाता है । यह पुष्प झीलों, तालावों और कवि-कथनोंसे नदियों तथा गड़होंमें जो कि पानीसे—जलसे पूर्ण हो, होता है । रंग और आकारके भेदसे इसकी अनेकानेक जातियाँ होती हैं, किंतु विशेष रूपसे लाल, सफेद, पीला और नीला ही अधिक देखनेमें आता है । कमलकी पीढ़ पानीमें जड़से पाँच वा छः अंगुलसे ज्यादा ऊपर नहीं आती । कमलकी पत्तियाँ गोल थाली-सदृश होती हैं और बीचके डंठलमें पतले तनेके साथ जुड़ी रहती हैं । इन पत्तियोंको 'पुरइन' भी कहा जाता है, आदि-आदि ।

अंग—शरीर, अथवा शरीरका कोई हिस्सा, अवयव, वदन, देह, तन, गात्र, जिस्म ।

"अङ्गं" प्रतीकोऽवयवोऽपघनोऽथ कलेवरम् ।
गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः ॥"

—अमरकोश २ । ६ । २१

अङ्गके और भी अर्थ होते हैं । जैसे—भाग, अंश, टुकड़ा,

खण्ड, उपाय, सहायक, तरफदार, सुहृद्, प्रत्ययुक्त शब्दका प्रत्यय-रहित भाग, प्रकृति, जन्म-लग्न, वह साधन जिसके द्वारा कार्य सम्पादित किया जाय, देशविशेषका नाम, ध्रुववंशी एक राजा, एक भक्तका नाम, एक सरस सम्बोधन, प्रिय, प्रियवर, ६ की संख्या, ओर, तरफ, नाटकके शृंगार और गीत छोड़कर अन्य अप्रधान रस, नाटकके नायक व अङ्गीका कार्य साधक-पात्र, वेदके छः अङ्ग, जैसे—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द। सेनाके चार विभाग व अङ्ग जैसे—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल। योगके आठ अङ्ग, जैसे—*यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा* और समाधि। राजनीतिके सात अङ्ग, जैसे—स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना। फिर पुनः को भी अङ्ग कहते हैं। जैसे—

"पुनरर्थेऽङ्ग," निन्दायां दुष्ठु सुष्ठं प्रशंसने॥"

आवेस—शुद्ध आवेश, अर्थात् आतुरता, व्याप्ति, सचार, दौरा, जोश, चित्तकी प्रेरणा, झोंक, आवेग, वेग, प्रवेश, बिहवल—शुद्ध विह्वल, अर्थात् घबराकर, व्याकुल, किसी मनोवेगके कारण चंचल होना। जैसे—

व्यसनार्त्तोपरक्तौ द्वौ विहस्तव्याकुलौ समौ।
विक्लवो "विह्वलः" स्यात्तु विवशोऽरिष्टदुष्टधीः॥
—अमरकोश

धरनी—शुद्ध धरणी, पृथ्वी, भूमि, जमीन। ब्रज-बनिता—ब्रजकी स्त्रियाँ व स्त्री। मुरझाइ—मुरझाकर, उदास होकर, निष्प्रभ होकर सूखकर। प्रबोध—ज्ञान, चेतावनी, यथार्थ ज्ञान, पूर्णबोध, सान्त्वना, आश्वासन, ढाढ़स, तसल्ली, दिलासा।

मोंहन, सुँमरन, आँनन, कँमल, अंग, आवेस, बिह्वल, धरनी, मुरझाइ, प्रबोध आदि के सरस प्रयोग।

"गोबरधन की सिखर तें हो "मोंहन" दींनीं है टेर।"

—रसिकराय

"राम-नाम 'सुँमरन' नहिं कियौ, बृथाँ ही जनम गँवायौ हो।"

—रामदास

"नित-प्रति पून्यों हीं रहति 'आँनन' ओप-उजास।"

—बिहारी

"बन सों आवत, 'कँमल' फिरावत तापै गावत तान-तान—
"धोंधी के प्रभु हाथ दूरि राखौ, टूटैगी मोंतिन की माल॥"

—धोंधी

अथवा—

कहा कहौं सखी! "आँनन-कमल" की सोभा!

—बृन्दावनदास

"अंग" अमित कछु भरी माधुरी, सोभा सहज निकाई।"

—परमानन्ददास

"वा मूरति के देखति कछु मो-मन अति "आवेस" जनायौ।"

—खेमरसिक

"बिह्वल" ह्वै गई बाल, लाल सौं अलबल बोलैं।"

—नन्ददास

'भूषन-बसन उतारि तू नाहक, वैठि रही चुप 'धरनी'।'

—रसिक-प्रीतम

'मन हरि लीनों स्याम, परी राधे 'मुरझाई'।
बहुत सिथिल भई देह, बात कछु कही न जाई॥'

—नंददास

'कछु 'प्रबोध' उनहूँ कों दीजै।'

—ज्ञानदास

'ब्रजबनिता' अति प्रबल, सकत नहिं नेकी रोकें।

—गोपालदास

उद्धव-वचन

(७)

दूरि—दूर, पृथक्, अलग। ग्यान—ज्ञान, बोध, जानकारी, प्रतीति, अथवा आत्माका गुण-विशेष। मोक्षके विषयमें जो बुद्धि उसे भी ज्ञान कहा जाता है। यथा—

'मोक्षे धीर्ज्ञानं ....।'

—अमरकोश १।५।१५

अथवा—वस्तुओं और विषयोंकी वह भावना जो मन वा आत्माको हो।

न्याय और दर्शनकार—'जब विषयोंका इंद्रियोंके साथ इंद्रियोंका मनके साथ और मनका आत्माके साथ संपूर्ण संबंध स्थापित हो तब 'ज्ञान'की उत्पत्ति मानते हैं, क्योंकि न्यायमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—आदि चार प्रमाण ज्ञानके—ज्ञान होनेके माने गये हैं। प्राणि-विज्ञानानुसार मस्तकके भीतर जो मज्जा-तन्तु-जाल वा नाड़ियाँ अथवा कोश हैं, चेतन-व्यापार वा 'ज्ञान' उन्हींकी क्रियाओंसे संबंधित है, इसलिये इनमें क्रियाओंको ग्रहण और उत्पन्न करनेकी शक्ति है। अतः यह शक्ति ही इंद्रियोंके साथ विषय-

१ सांख्य—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन ही प्रमाण मानता है, क्योंकि उपमान इनके अन्तर्गत आ जाता है।

संयोग-द्वारा अथवा उक्त शक्तिसंचालित-नाड़ियोंके द्वारा भीतर जाती है और कोशोंको प्रोत्साहित करती हुई परमाणुओंमें उत्तेजना उत्पन्न-कर बाहर आती है और यही शक्ति कहलाती है। भूतवादियोंके अनुसार उक्त शक्ति ही नाड़ियों और कोशोंकी क्रिया 'चेतना' कहलाती है ? पर है वह एक स्वतन्त्र शक्ति ही।

पाश्चात्य दर्शनोंमें भी—विषयोंके साथ इंद्रियोंके संयोगरूप प्रत्यक्ष-ज्ञानको ही 'ज्ञान'का मूल वा प्रथम रूप माना जाता है। किसी वस्तु—ज्ञानके लिये यह भावना आवश्यक है कि जिस-का ज्ञान करना है वह वस्तु कुछ वस्तुओंके समान है—अथवा भिन्न, क्योंकि बिना साधर्म्य और वैधर्म्यकी भावनाके किसी प्रकारका ज्ञान हो ही नहीं सकता—असंभव-सा है और इस साक्षात्काररूप ज्ञानसे ही आगे चलकर सिद्धान्तरूप ज्ञानके लिये संयोग, सहकालत्वकी भावनाएँ होती हैं, जो स्थायित्वरूपसे ज्ञान कहलाता है। अस्तु उक्त ज्ञान—प्रमा और अप्रमा, अर्थात् यथार्थ-ज्ञान और अयथार्थ-ज्ञानरूप दो भेदोंमें विभक्त है। वेदान्तमें ब्रह्मको ही ज्ञानस्वरूप माना है, अतएव उक्त मतानुसार सबका पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं हो सकता। एक वस्तुसे दूसरी वस्तुओंमें अथवा एकके ज्ञानसे दूसरेके ज्ञानमें जो विभिन्नता विभूषित है, वह विषय-रूप उपाधिका कारण है, वास्तविक-ज्ञान तो एक ही है जिसके अनुसार सब विभिन्नता-भूषित पदार्थोंके मध्य केवल एक चित्स्वरूपकी सत्ता वा ब्रह्मका ही बोध होता है, आदि—आदि................।

अखिल-विश्व-भरिपूरि—ओर (आदि) से आखीर (अंत) तक सारा ब्रह्माण्ड। अखिल—संपूर्ण, समग्र, सब, पूरा, बिल्कुल

'बिस्व' अथवा विश्व —चौदहों भुवनोंका समूह, समस्त ब्रह्माण्ड, सारा संसार, जगत्, दुनियाँ। विश्व, सबको भी कहते हैं। यथा—

'विश्वमशेषं कृत्स्नसमस्तनिखिलाऽखिलानि निःशेषम्।'

भर-पूर—पूरी तरहसे भरा, पूरा-पूरा, जिसमें कुछ भी कमी न हो। पूर्णरूपसे, अच्छी तरह। बिसेखौ—प्रतीत होना, भासित। लौह—लोहा, धातुविशेष। दारु—लकड़ी, काष्ठ या काठ। पाषान—शुद्ध पाषाण, पत्थर या पत्तर।

'पाषाण प्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्।'

मही—पृथ्वी, जमीन, धरती। अकास—शुद्ध आकाश, अर्थात् गगन, अंबर, शून्य। सचर—सचल, अर्थात् संपूर्ण चल—चलनेवाली वस्तु, चर, जंगम।

अचर—अचल, अर्थात् न चलनेवाली वस्तु, जड़-पदार्थ।

जोति—शुद्ध ज्योति, अर्थात् प्रकाश, उजाला, लौ। ब्रह्म—वह चेतन-सत्ता जो कि जगत्का कारण है। वह सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप तत्त्व जिसके अतिरिक्त और जो प्रतीति होता है वह सब मिथ्या है—असत् है। ईश्वर, जगत्-कर्ता आदि आदि ……।[१]

---

१ ब्रह्म प्रति श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—

"बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च सत्यादिलक्षण—ब्रह्मः।"

अर्थात्—बड़े तथा बढ़ानेवाले होनेसे भगवान् सत्यादि-लक्षण-विशिष्ट ब्रह्म है, जैसा कि श्रुति प्रतिपादन करती है—

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" (तैत्तिरीयोपनिषद् २।१)

विष्णुपुराणमें कहा है—

"प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं "ब्रह्म" संज्ञितम्॥"
(विष्णुपुराण ६।७।५३)

कहते हैं—ब्रह्म जगत्का कारण है और यही उसके तटस्थताका लक्षण है। ब्रह्म सच्चिदानन्द, अखण्ड, नित्य, निर्विकार, निर्गुण, निर्लेप, निःसंग और अद्वितीय है, जो उसके स्वरूप-लक्षणका द्योतक है। जगत्का कारण होनेपर भी जैसी कि सांख्यकी प्रकृति या वैशेषिकका परमाणु है, उस प्रकार ब्रह्मपरिणामी वा आरंभक नहीं। वह जगत्का अभिन्न—निमित्तोपादान विवर्त्ति-कारण है। अस्तु, ब्रह्मपरिणाम वा विकार नहीं, अपितु विवर्त्ति है। किसी वस्तुका कुछ और ही हो जाना—उसका रूपान्तर हो जाना जिससे उसका असली स्वरूप ज्ञात न हो वह विकार वा परिणाम कहा जाता है और उसका उस जैसी आकृतिवाला कुछ और प्रतीति होना 'विवर्त्ति' कहा जाता है। यों तो नाम और रूपकी उत्पत्ति ही नाम-सृष्टि कही जाती है, पर ये दोनों नाम और रूप ब्रह्मके कोई अवयव नहीं, क्योंकि वह उक्त तीनों प्रकारके भेदोंसे पृथक् है—रहित है। ब्रह्मका सम्यक्-निरूपण करनेवाले आदि-ग्रन्थ वेद और उपनिषद् हैं। किंतु वे भी उसें 'नेति नेति' अर्थात् 'यह नहीं, यह नहीं' कहकर उसे प्रपञ्चोंसे परे—अलग मानते हैं। कोई-कोई जीवात्माको ब्रह्मका अंश मानते हैं? पर शुद्ध-अद्वैत-दृष्टिमें जीवात्मा ब्रह्मका अंश वा कोई स्वगत-भेद नहीं, अपितु अपनेको परिच्छिन्न और माया-विशिष्ट समझता हुआ ब्रह्म ही है, इसीसे 'तत्त्वमसि' वाक्य-द्वारा आत्मा और ब्रह्मका अभेद व्यञ्जित किया जाता है। शुद्ध और अद्वैत क्या?

"एतन्मते सुनिष्पन्नं सुनिष्पन्नं साङ्कर्यं कार्यकारणे।"

"तन्निवृत्त्यर्थमाचार्यैः परं "शुद्धं" विशेषितम् ।"[1]

"द्विधाज्ञानं तु यद्यत्स्यान्नामरूपात्मना मुहुः ।
ईशजीवात्मना वापि कार्यकारणतोऽथवा ॥"
"द्वीतं तदेव "द्वैतं" स्यादद्वैतं" तु ततोऽन्यथा ।"

अस्तु—

"शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः ।
अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः ॥"

—शुद्धाद्वैत मार्तं

परकास—शुद्ध प्रकाश, अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुओंका स्वरू दृष्टिगोचर हो अथवा जिसके भीतर पड़कर चीजें दिखलायी पड़ें दीप्ति, आभा, आलोक, ज्योति, चमक, तेज ।

"स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः ।
रोचिः शोचिरुभे क्लीबे "प्रकाशो द्योत आतपः ॥"

—अमरकोश १ । ३ । ३५ । ३

वैज्ञानिक कहते हैं कि जिस प्रकार, ताप गतिशक्तिका ए स्वरूप है उसी प्रकार प्रकाश भी गतिशक्तिका एक रूप है । प्रका कोई पृथक् द्रव्य नहीं, जिसमें कि गुरुत्व हो । प्रकाश पड़नेपर भ कोई वस्तु उतनी ही भारी रहेगी जितनी कि अंधकारमें थी प्रकाशके सम्बन्धमें इधर वैज्ञानिकोंका एक और अभिमत है कि प्रकाश एक प्रकारकी तरंगवत् गति है, जो कि किसी ज्योतिष्मान्—पदार्थसे ईथर और आकाश-द्रव्यमें उत्पन्न होती है और चारों तरफ बढ़ती

---

१ 'शुद्ध' शब्दका एक दूसरा अर्थ भी माना जाता है, यथा—
"मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः ।"

है। जलमें यदि पत्थर फेंका जाय तो जहाँ पत्थर गिरेगा वहाँ जलमें एक प्रकारका क्षोभ उत्पन्न होगा जिससे तरंगें उठकर चारों ओर बढ़ने लगती हैं। ठीक इसी प्रकार ज्योतिष्मान्-पदार्थद्वारा 'ईथर' और आकाश-द्रव्यमें जो क्षोभ उत्पन्न होता है वह प्रकाशकी तरंगोंके रूपमें चलता है। अतः यह आकाश-द्रव्य विभु वा सर्वव्यापक पदार्थ है जो कि प्रकाशके वाहकका यथार्थ कार्य करता है। प्रकाश--तरंगोंकी कल्पनातीत है। वे एक सेकिंडमें हजारों मील वा कोसके हिसाब चलती हैं। प्रकाशकी उक्त तरंगें वा किरणें जो निकलती हैं, यद्यपि वे सब एक ही गतिसे गमन करती हैं, पर तरंगोंकी लंबाई-के कारण उनमें भेद समुपस्थित हो जाता है, जिससे उनकी लंबाई भी भिन्न-भिन्न हो जाती है। इससे किसी एक प्रकारकी तरंगोंसे बनी हुई किरणें अन्य प्रकारसे बनी हुई किरणोंसे भिन्न हो जाती हैं। यह भेद ही रंगोंके विविध भेदोंका कारण हैं। जैसे---किसी तरंगकी लम्बाई' ०००१६ इंच है, तो वह बैगनी रंग देगी—प्रकट करेगी। और जिसकी लम्बाई' ०००३४ इंच होगी वह लाल रंग देगी, अर्थात् प्रकट करेगी। इसी तरह अनेक भेद हैं, पर उनमेंसे कुछ ही हमारी चक्षुरिंद्रियोंको ग्राह्य है, बाकी नहीं। पहिले 'न्यूटन' आदि पुराने तत्त्वविदोंने प्रकाशको अणुमय वस्तु माना था, पर पीछे वह अखंड—वस्तुकी तरंगोंके रूपमें माना जाने लगा। इधर फिर थोड़े दिनोंसे अणुमय माननेकी वही पुरानी प्रवृत्ति वैज्ञानिकोंमें दिखायी पड़ने लगी है।

प्रकाशके अन्य अर्थ भी होते हैं जैसे---'विकाश, स्फुटन, विस्तार, अभिव्यक्ति, प्रकटन, प्रकट होना, गोचर होना, देखनेमें

आना, प्रसिद्धि, ख्याति, स्पष्ट होना, खुलना, साफ समझमें आना, आदि-आदि···　　······　　।

ग्याँन, अखिल, बिस्व, भरपूर, बिसेखौ, लोह-दारु-पाखानमें, जल-थल, मही, अकास, सचर-अचर, जोति और ब्रह्म-प्रकासके सरस प्रयोग। यथा—

'अरी सुन—'ग्याँन' गहीली प्यारी, एतौ न कीजै मान।'
—चतुर्भुजदास

'अखिल' लोक कौ पालक जसुधा, सो तेरे—घर आयौ।'
—परमानंद

'दै-दै चले असीस सबै मिलि, सकल बिस्व' के प्रॉन।'
—कृष्णदास

मैं हौं सखा, तिहारो बाढ़ी, मान भिस्यौ 'भरिपूरि।'
—विट्ठलगिरिधरन

हमते हिंगें सुलाइ नंद सुत, पूरन-प्रेम—'बिसेखौ।'
—रघुवीरदास

'लोह, दारु पाखान में' तुम देखौ आई।
'जल-थल' 'मही-अकास' कहौ प्रभु कहाँ जु नाँहीं॥'
—परमानंददास

'सचर-अचर' में प्रघट जु देखौ　··········　·····।'
—सुंदरदास

सुंदर-मुख की 'जोति' थिरकि रही यों अवनीपर।'
—नंददास

सुनौं नंद-उपनंद कथा ये, आयौ छीर-समुद्र कौ बासी।
बसुधा-भार-उतारन कारन प्रगट 'ब्रह्म' बैकुंठ-निवासी॥'
—परमानंददास

देति डिठौंना सुघर लाल कैं, बढ़्यौ सुघरनि 'परकास।'

—द्वारिकेश

श्रीनंददासजीकी उक्त सरस-सूक्तिपर यह श्रुति-सूक्ति बरबस याद आ जाती है, जैसे—

'ओं ईशावास्यमिदंꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।'

—ईशोपनिषद् १ सू०

नंददासजीकी उक्त सूक्तिपर श्रीसूरका भव्य-भाव भी देखिये। यथा—

गोपी, सुनौं हरि-संदेस।
करि समाधि अंतरगति ध्यावौ, यह उन कौ उपदेस॥
वे अविगत, अविनासी, पूरन, सब घट रहे समाई।
निरगुन-ग्याँन बिनु मुकति नाहिं हैं, वेद-पुराँनन गाई॥
सगुन-रूप-तजि निरगुन-ध्यावौ, इक-चित, इक-मन ल्याई।
इहि उपाइ करि बिरह तरौ तुम्ह, मिलैं ब्रह्म तब आई॥
दुसह-सँदेस सुनति माधौ कौ, गोपी-जन बिलखाँनी।
'सूर' बिरह की कौंन चलावै, बुड़त मीन बिनु-पाँनी॥

अथवा—

'ग्याँन-बिनाँ कहुँ हूँ सुख-नाँहीं।
घट-घट-ब्यापक दारु-अगिनि ज्यौं, सदाँ बसै उर माँहीं॥
निरगुन-छाँड़ि सगुन कौं दौरति, सोचि कहौं किहि बाँहीं।
तत्त्व भजौ जो निकट न छूटै, ज्यौं तन के सँग छाँहीं॥
तिन कौ कहौ कौंन सुख पायौ, जे अबलौं अवगाँहीं।
'सूरदास' ऐसैं कर लागत, ज्यौं कृषि कीन्हें पाँहीं॥''

उक्त अवसर "आलम" द्विजकी सूक्ति भी देखिये, यथा—

"सोई स्याम सुनहु अगाध कै समाधि-साधै,
सोई स्याम रैनि जामें नित ही समाति है।
सोई स्याम पलक लगे तें स्याम ताही में—
तन-मैं होत तब कत पछिताति है॥
"आलम" सुकवि कहै सोई स्याम वन, घन,
तारन तें न्यारे नाहिं कत बिल्लाति है।
तुमही में स्याँम, तुम स्याँम ही में रमि रही,
बादि-ही बिकल-बिहवल भई जाति है॥"

अथवा—

"कोटि-घटन में विदित ज्यों, रवि-प्रतिबिंब दिखाइ।
घट-घट में त्यों ही छियौ—स्वयं-प्रकासी आइ॥"
—रसनिधि

सुंदरदासजी कहते हैं—

"जैसें ईख-रस की मिठाई भाँति-भाँति भई,
फेरि करि गारें ईख-रस ही लहतु है।
जैसें घृत थीज कें डरा सों बाँधि जात पुनि—
फेरि पिघले तें वह घृत ही रहतु है॥
जैसें पाँनी जम कें पखान हू सौ देखियतु,
सो पषान फेरि पाँनी ह्वै बहतु है।
तैसें हीं 'सुंदर' यह जगत है ब्रह्ममय,
ब्रह्म सो जगतमय वेद यो कहतु है॥"
—सुन्दरविलास

यही बात "रसरूपजी" भी कहते हैं, किंतु दूसरे दूसरे ढंगसे, जैसे—

"नीर-भरि धरिए अनेक-घट आँनि जैसें,
सूरज-प्रकास एकु सब में सुहायौ है।

निसि के सदन बीच एकु ही कौ प्रतिबिंब, जहाँ—
तहाँ देखिऐ अनेक ह्वै दिखायौ है॥
मानों परिमाँन कहँ भ्रमत अयाँन ह्वै कें—
एही बात, एही बिधि बेदन बतायौ है।
चारि-बिधि जीव-जंतु जगत बिचारि देख्यौ
'रसरूप' एकै रूप घट-घट छायौ है॥"

अब इस सूक्तिपर 'रत्नाकरजी' की बानगी देखिये, कैसी जँची-तुली बात कहते हैं—

"पंच-तत्त्व में जो सच्चिदानंद की सत्ता सो तौ—
हम-तुम उनमें सँमान ही सँमोई है।
कहै 'रतनाकर' बिभूति पंच-भूत हूँ की,
एकु ही-सी सकल प्रभूतनि में पोई है।
माया के प्रपंच ही सों भासत प्रभेद सबै
काँच-फलकनि ज्यों अनेकु एकु सोई है।
देखौ भ्रम-पटल-उघारि ग्याँन-आँखिन तें
काँन्ह सबही में, काँन्हही में सब कोई है॥"

एक बात और—

श्रीनंददासजीने अपने इस छंदमें 'थल' और 'मही' तथा 'जोति' और 'परकास' आदि समानार्थवाची शब्दों-जैसा प्रयोग किया है पर 'थल' का जलके साथ सम्बन्ध होनेसे यहाँ थल शब्दका अर्थ स्थान, जगह, ठिकाना न होकर सूखी-धरती, जो कि जलके भीतर किसी प्रकारसे रह गयी हो अथवा जिसके चारों ओर जल हो ऐसी जमीन मानना चाहिये, अथवा वह जमीन जिसपर पानी न फिरा हो, अर्थात् ऊँची जिसे कि टीला आदि कहते हैं अथवा थल उसे

कहते हैं, जहाँ बहुत रेत जमा हो गया हो। भूड, थली, रेगिस्तान भी थल ही कहलाता है। और मही समतल भूमिको कहते हैं। जैसे—

गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वीक्ष्माऽवनिर्मेदनी 'मही'

—अमरकोश

इसी प्रकार ज्योति (जोति) और प्रकाश (परकास) में भी यही बात है। यहाँ ज्योति और प्रकाशका ब्रह्मसे संबंध होनेके कारण इस पदांश—'जोति-ब्रह्म-परकास' का अर्थ ब्रह्मकी ज्योतिका प्रकाश होगा। यानी समानार्थी होते हुए भी भिन्न अर्थ होगा, क्योंकि प्रकाश तेजको कहते हैं, जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है और ज्योतिको 'लौ' आदि यथा—

"अग्नौ दिवाकरे च ज्योतिः।"

गोपी-वचन

(८)

मारग—शुद्ध मार्ग, अर्थात् पंथ, रास्ता, राह। सूधौ—शुद्ध सीधा, सरल, जो टेढ़ा न हो, कपट-रहित, जो ठीक साधारण स्थिति-में हो, जिसमें वक्रता न हो। नैंन—नयन शब्दका भाषामय अल्प और मनोहर रूप, लोचन, नेत्र, आँख, चक्षु।

"लोचनं "नयनं" नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी।"

—अमरकोश २ । ६ । ८८

आँख, देखनेकी वह इंद्रिय जिससे स्थावर और जंगमोंके रूप, आकार, वर्ण और विस्तारका यथार्थ ज्ञान होता हो। मनुष्य-शरीरमें यही एक ऐसी इंद्रिय है जिसपर आलोकके द्वारा पदार्थोंका बिम्ब खिंच जाता है, आदि-आदि...... .....।

नैंन (नयन)——शब्दकी एक सुन्दर व्युत्पत्ति करते हुए रसनिधिजीने बड़ा गजब ढाया है,——देखिये न जैसे——

"आपु लगति बेचति मनहिं 'रसनिधि'—कर बिनु दाँम।
नैंननि मैं नै नाँहिं नें या तें "नैना" नाँम॥"
छींनीं छबि मृग, मींन की, कहौ कहाँ की रीति।
नामहिं मैं "नै" नाँहिं तौ करें "नैंन" का नीति॥

अथवा——

"जो कछु उपजत आइ उर, सो वे "आँखें" देति[1]।
'रसनिधि' आँखें नाँम इन्ह, पायौ अरथ समेति॥"

और चख (आँख)——

"और रसन लै जान हीं, रसना हूँ अभिराँम।
चाखत जे इक रूप-रस, तातें है 'चख' नाम॥"

सुति——शुद्ध श्रुति, अर्थात् कान, श्रवण, अथवा शरीरकी वह इंद्रिय जिससे सुना जाता है।

"कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्रं 'श्रुति' स्त्री श्रवणं श्रवः।"
(अमरकोश २।६।४५)

सुति——शब्दको श्लेषमें पागकर——सजाकर कविवर विहारी-लालजीने वड़ी ऊँची उड़ान उड़ी है, यथा——

"अजौं तरौनाहीं रह्यौ "स्रुति" सेवत इक अंग।
नाँक-बास बेसर लह्यौ, रहि मुकँन के संग॥"

नासिका——घ्राणेन्द्रिय, अर्थात् जिससे सूँघा जाय, वा सुगन्ध-दुर्गंध मालूम हो वह इंद्रिय, नाक, नासा। यथा——

"क्लीवे घ्राणं गन्धवहा घोणा नासा च "नासिका।"

१. यहाँ "आँखें" शब्द—कहने वा अंकित कर देनेके अर्थमें प्रयुक्त है।

मुरली—वंशी, बाँसुरी, अर्थात् बाँसकी कोमल नलीसे बननेवाला वह बाजा जो कि फूँकसे बजता है। इसीको "वेणु" भी कहते हैं–

मुरली वाद्य-विशेषका विश्लेषण करते हुए संगीत-रत्नाकरके कर्त्ता फर्माते हैं—

"हस्तद्वयाधिका माने मुखरन्ध्रसमन्विता।
चतुःस्वरच्छिद्रयुक्ता "मुरली" चारुनादिनी॥

—संगीतरत्नाकर ६। ७८४

और "वेणु" जैसे—

"वैणवः खादिरो दांतश्चांदनो रक्तचंदनः।
आयसः कांस्यतो रौप्यो वंशः स्यात्कांचनोऽथवा॥
वर्त्तुलः सरलः श्लक्ष्णो ग्रंथिभेदव्रणोज्झितः।
कनिष्ठांगुलविस्तारं गर्भे च सुषिरं दधत्॥
स्वरैर्ष्यमानदैर्घ्यं च समाकृति समन्ततः।
तस्य द्वे त्रीणि चत्वारि चांगुलानि शिरःस्थलात्॥
त्यक्त्वा ।फूत्कारसुषिरं कार्यमंगुलसंमितम्।
मुखरंध्रांतरे रंध्रं भवेदेकांगुलांतरम्॥
अर्धांगुलांतराणि स्यू रंध्राण्यन्यानि सप्त च।'
तान्यष्टौ बदरीबीजसंकाशानि प्रचक्षते॥

—संगीतरत्नाकर वाद्याध्याय, ६

इस छोटी-सी 'मुरली' की मधुरतापर रीझकर व्रजभाषाके कवि-कोविदोंने बड़ी ऊँची और अनूठी उड़ानें उड़ी हैं—जमीन और आसमानके कुलाबे भिड़ाये हैं, जैसे—

"ध्यानं बलात्परमहंसकुलस्य भिंदन्-
निंदन्सुधामधुरिमानमधीरधर्मा

कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेव शंसन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य ॥"
—भक्तिरसामृतसिंधु

"भिन्दन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपदं कुर्वन्मुहुस्तुम्बरु
ध्यानादन्तरयन्सनन्दनमुखान्संस्तम्भयत्वेधसम् ।
औत्सुक्यां वलिभिर्बलिं विवलयन्भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः ॥"
—श्रीरूपगोस्वामी

मुरली, हरि तें न छूटति है।
वाही के बस भए निरंतर, वौ अधरन-रस लूटति है ॥
हम तें निठुर भई वह बोलति, तन तें मन उचटावति है।
आरज-पथ, कुल-काँनि मिटावति, सब कौं निलज करावति है ॥
निडरी रहति, डरति नहिं काहू, सुख पाऐं बहु फूलति है।
अब यै हरि तें होति न न्यारी, तू काहे कौं भूलति है ॥
रौंम-रौंम-नख-सिख-रस-पागी, अनुरागिनि हरि प्यारी।
"सूर" स्याम वाके रस-लुबधे, भाँनी सौत हमारी ॥

मुरली, कौंन तप तें कियौ।
रहति गिरधर-मुखहिं लागी, अधरँन कौ रस पियौ ॥
सुंदर-स्याम-कमल-दल-लोचन, तोहि तन-मन दियौ।
"सूर" सिरी गोपाल बस भए, जगत मैं जस लियौ ॥

"मुरली, हरि कौं नाँच नचावति।
एते पै यह बाँस-बसुरिया, नंद-नँदन कौं भावति ॥
ठाढ़े रहति सुबस ताके हैं, सकुचि न बोलति बात।
वौ निधरक आग्या करवावति, नेकहुँ नाहिं लजात ॥
जब जानति आधीन भए ए, देखति ग्रीव-नवावति।
पौढ़ति अधर, चलत कर-पल्लव-रंध्र-चरन लपटावति ॥

हम पै रिस करि-करि अवलोकति, नासा-पुट फरकावति।
'सूर' स्याँम जब-जब रीझति है, तब-तब सीस डुलावति॥"
—सूरसागर

"बंसी, हम सौं बैर कियौ।
पिय कौ अधर-सुधा-रस बन मे, निधरक जाइ पियौ॥
या बैरन कौ दुख जामें जब, देवै पैठि हियौ।
'नागरिया' व्रज-जुवतिन कौ तैं सरबसु छीन लियौ॥"
—नागर-समुच्चय

"किधौं हैं बसीकर की सीकर करति कैद-
जानि नहिं देति कहूँ मनके पतंग कौं।
किधौं हैं उचाटन भुलावै हाट-बाटन तें-
हाटन तें धावैं बधू छोरि सब संग कौं॥
किधौ नेह-घटा छीजै दंत छन-छटा छोरि,
ए री बीर बरखै सरस-रस-रंग कौ।
किधौं यह मोहन की बाँसुरी बिमोहत है,
सोहन लगति लगैं गोहन अनंग कौ॥"
—कोई कवि

"जनी जड़-बंस तें अधर-अवतंस ठनी,
बनी है अमारग मे है हिए की अति खाली री।
हरै मन-धन कौं, करै है माधुरी सौं बात,
उठै उतपात याके कुल तें दुवाली री॥
छिद्रन कौं लिएँ, हिएँ गाँठि तें भरी कठोर
बोलै मुँहजोर बरजोर यैं कुचाली री।
काली के दँमन कहुँ कैसें प्रतिपाली यातें-
कहैं बनमाली जग मे प्रबीन आली री!॥"
—शृंगारसंग्रह

"सही सीत-भीत बरखातप की उतपात-
रात-दिन यातें बहु-भाँत तप कों किया।
जनम तें बाढ़ी प्रीति, एकु पग ठाढ़ी रही,
डाढ़ीं गई गाढ़ी नहिं नेंकु कसक्यौ हिया॥
कीजै नहिं रोख या पै, दीजै नहिं दोख बीर,
देह कों सुखाइ धीर नेह-व्रत कों लिया।
परखि सुलाखि ताइ लीन्हीं ब्रजराइ याकों-
तातें यह बंसी आइ भई स्याँम की प्रिया॥"

—हजारा

"खोइ कें सुबंस-बंसी ऐसें हीं कछुक-दिन-
मारी-फिरी ऐसें हीं कछुक-दिन नाँगी री।
छेद करवाइ निज छातीं में छ-सात गई-
कारीगर-हाथँन अनेक-बिधि दागी री॥
ताहि मन-मोंहन किते दिन तें राखि-संग-
'द्विज-देव' सोंहैं सुराग अनुरागी री।
ढीठ है कें क्यों न ब्रज-बालँन सताबै सोई-
बाँसुरी सुन्यों मैं अब हरि-मुख लागी री॥"

—द्विजदेव-अयोध्या

"जेते सुर लीने उर, तेते-छेद कीने और—
जेते राग, तेते दाग रोंम-रोंम छीजिऐ।
ताँनन के तीखे जँनु बाँनन चलाइ देति,
चीर-चीर अंगनु तुनीर तनु कीजिऐ॥
अंतर की सूंनी घर-सूंने करै 'सेख' कहै—
सुनि-सुनि सवद बसेरौ बन लीजिऐ।
हम ब्रज बसि हैं तो बाँसुरी न बसि है अब,
बाँसुरी बसाइ काँन्ह, हमैं बिदा दीजिऐ॥"

—शेख आलमकवि

"बाँसुरी, बिसारौ, नाँ तौ ब्रज ना बसैगौ अब
बिधि-बाँधि बाँसुरी के बस करि दई हैं।
'आलम' कहै हो न्याइ नैन देखें मैन तबै-
काँनि सुनि काँन्ह ऐसे तेई नन तई है॥
चित-अनचेते तुम तातें मुसिकात हौ जू,
रीझि-मुरझाइ कैं मुकेतौ गिरि गई हैं।
घूंमे लागीं गाँमी सी उसाँसनि की आसु नहीं,
रावरे की हाँसी है निमाँसी औरैं भई हैं॥"

—आलम कवि

पंगुन कौं पग होत, अंधन कौं आमा-मग,
एकै जानि ह्वै कें जग-कीरति चलाई है।
बिरचें बितान बैजयंती धारि गहे थाहें—
बास-सी बिनामी बिस्व-बिदित बडाई है॥
छाया करै जग कौ, थहाया करै ऊंचौ-नीचौ—
पाया जेहि बंस में यौं बढ़त सदाई हैं।
काँन्ह-मुख-लागि करै करम कमाइन कौ—
वाही बंस "बाँसुरी" जनम-जरी जाई है॥

—दास

"और बिष जेते, तेते प्राँन के हरैया होत,
बंसी के कहे की कभू जाइ ना लहर है।
सुनति ही रोंम-रोंम रीझ आइ ऐरी दैया,
जोंम जारि डारै, पारै बेकली गहर है॥
'ग्वाल कबि' लाल तोसों जोरि-कर पूँछति हौ—
साँचु कहि दीजै जो पै मो पै महर है।
बाँस में, कि बेधमें, कि होठ मे, कि फूँक में
कि आँगुरी की दाबमे, कि धुन में जहर है॥

देख्यौ-देख्यौ सब ही सहूर तेरौ उतपाती!
जाती है न रैंन 'बंसी' अब तौ रहन दै।
तारन कौ वृंद थक्यौ, चंद मति-मंद थक्यौ—
सिसुमार-फंद थक्यौ, मारग-बहन दै॥
'ग्वाल कवि' अब अरबिंदन कों फूलन दै
मंजुल-मलिंदन कों मधुता लहन दै।
हौंन दै रे हौंन दै सबेरौ निरदई-काँन्ह,
रई कों चलन दै, गैयँन दुहन दै॥*

—ग्वाल

'ब्रज-जीवन-ओठँन के तकिया—
कर-फूलँन-सेज बिछावति हैं।
अति-सुंदर कौंमल "नीत" मनों—
अलिकावलि-पीन ढुरावति हैं॥
अँगुरीन तें चाँपत पाँइ जेई—
तू तऊ मन-मोद न लावति है।
इतने सुख सों मतवारी अरी,
बँसुरी तोहि नींद न आवत है॥

—नवनीत

"बैठे भंग छानति अनंग-अरि रंग-रँमे—
अंग-अंग आँनद-तरंग-छवि छावै है।
कहै 'रतनाकर' कछुक रंग-ढंग औरें—
एकाएक मत्त ह्वै भुजंग दरसावै है॥
तूंबा-तोरि, स्वाफी-छोरि, मुख-विजया तें मोरि,
जैसें कंज-गंध पै मलिंद-वृंद धावै है।

* ग्वाल कविने 'बंसी-बीसा' नामसे एक बड़ा सुन्दर ग्रन्थ रचा है, जो कि तोलमें तो नहीं, पर मोलमें अवश्य भारी है।

बैल पै सवार संग सैल-तनया लै बेगि—
कहति चले आवें कान्ह 'बाँसुरी' बजावै है ॥"
"होत चल अचल, अचल चल होत अहो ?
होत जल पाहन, पखाँन जल-स्रोता है ।
कहै 'रतनाकर' अनंग अंग धारि नयौ—
सुर-मर साधत न जाकौ जग-त्राता है ॥
रहति न रूँधी ब्रज-बाँम चलैं सूधीं धाइ—
त्यागौ पति पतिनी, स्व-पूत त्यागै माता है ।
संचि-संचि मूरछना अपंच-पट्-राग-पागि
काँन्ह-मुख लागि भई 'बाँसुरी' विधाता है ॥
—जगन्नाथदास (रत्नाकर)

सवैया

"अंग त्रिभंग किएँ मन-मोहन, वे मन काँम के कोटि हरें ।
चितचाह-चुभ्यो, वृषभाँनु-सुता-सन आँगुरी बाँसुरि देह धरें॥
चंचल चारु चलैं कर पल्लव, 'आलम' नेंकु न नेंन टरें ।
तजि रोस सुचारु सुधाकर पै, मनों नीरद के दल नृत्या करें ॥"
—आलम

"पान किएँ हू दवानल कौ, जिहि के अधरा-रस रास रचै री ।
ताके लगी मुख सों यह जाइ तौ,ग्वाल की तांतन क्यों न गढ़ै री ॥
'गोकुल' नाथ के हाथ सुबसि है,बिसासिनि नाथिबे ही कौं बढ़ै री।
छेदति या हिय,को 'बँसुरी' सखि पाँहन फोरि कै बाँस कढ़ै री ॥"
—गोकुल

"फूँकि के आई सबै बन कौं हिय-फूँकि कें मॅनकी आगि लगावति ।
तू तौ रसातल बेधि गई, उर-बेधति औरु दया नहिं ल्यावति ॥
आपु गई अरु औरनु खोवति, सौति के काम भली-विधि आवति ।
ज्यौं बड़े-बंस तें छूटी है त्यौं, छूटे-बस सो औरनु हू कौं छुड़ावति ॥"
—कोई कवि

कौंन ठगोरी भरी हरि आजु, बजाई है बाँसुरिया रस-भींनी ।
ताँन सुनीं जिनहीं-जिनहीं, तिनहीं-तिन्ह लाज बिदा करि दींनी ॥
घूँमें खरी-खरी नंद के द्वारन, बींनीं कहा अस बाल-प्रबींनी ।
या ब्रज-मंडल में 'रसखाँनि' सु कौंन भट्ट जो लट्ट नहिं कींनी ॥

—रसखान

"अधर-धरति हरि के परति, ओठ, दीठि, पट-जोति ।
हरित-बाँस की 'बाँसुरी' इंद्र-धनुष-रँग होति ॥"

—बिहारी

"दुरी दुराएँ हूँ हिऐं, झींने-पट बंसी न
सखि तिय-दिसि-लखि हँसि कह्यौ, है यै बींन नबींन ॥"

—कोई कवि

"बिछुरति मोंहन-अधर तें, रहति न जिहि घट साँस ।
बंसी-सम पायौ न हँम, प्रेम-प्रीति कौ आँस ॥"

—कोई कवि

"पोर-पोर तन आपुनों, प्रथम छिदायौ जाइ ।
तब 'बंसी' नँदलाल पै, भई सुहागिनि आइ ॥"

—कोई कवि

"बंसी, बंसी नाम तब, राख्यौ कोउ प्रबींन ।
ताँन-ताँन की डोर तें, खैंचि लेति मन-मींन ॥"

—रसलीन

"अरी-बँसुरिया, बाँसकी, तू है निहचै आँच ।
फूँकि-फूँकि कर पिय-धरत, तऊ अँगुरिया नाँच ॥"

—कोई कवि

ठगोरी—वह शक्ति जिससे कोई भी आदमी—मनुष्य अपने आधीन किया जाता है । ठगों-जैसी माया, मोहिनी-शक्ति, मोहित

करनेवाला प्रयोग, सुधि-बुधि भुलानेवाली शक्ति, मोहिनी-माया, जादू, टोना।

मारग, सूधौं, नैंन, बैंन, स्रुति, नासिका, मुरली और ठगोरी—आदि सुन्दर शब्दोंके सरस प्रयोग।

"या 'मारग' हम नित गईं हो, कबहुँ न दीन्हों दाँन।"

—रसिकराय

"कहियो 'सूधौं'* इहै—सँदेसवा।" —माधुरीदास

"नैंन"-छबि बनी आजु कछु औरें।"

—ललित-किसोरी-प्राचीन

"काजर दीएँ रँगमँगौ, बोलति उलटे-'बैंन'।
कर-पल्लव दएँ बदन पैं, लटकि नचावति नैंन॥"

—माधौदास

"स्रुति"-कुंडल अति-झलमलैं—सोभा कही न जाइ।"

—कुम्भनदास

"नासिका"-गिरिधर सोहति मोती'

—गोविंदस्वामी

"सुनि, धुनि 'मुरली' बाजै हरि रास-रच्यौ।
कुंज-द्रुम-बेली प्रफुल्लित, मंडल-कंचन-मनिन खच्यौ॥"

—हरिदासस्वामी

---

* ब्रज-भाषामें इस शब्दके दो प्रकारसे प्रयोग और मिलते हैं। यथा—

"सूधे" वचनन माँगिऐ हो, लालन गोरस-दाँन।

—रसिकराय

"सूधैं" दाँन लेहु किनि मो पै, और कहा कछु पाँइ परोंगी॥

—नंददास

"मुसकि-ठगोरी" डारि कें प्यारे, सकति लई रति-जोरि।"

—रसिकराय,

श्रीनंददासजीकी तरह "श्रीसूर" ने भी उद्धवके उस अद्वैत-वाद[1]का कुछ ऐसा ही सुन्दर जबाव दिया है, जैसे—

ऊधौ, और कछुक कहिबे कों।
मन-मानें सोऊ कहि डारौ, पाँ-लागें हम सब सहिबे कों॥
पै उपदेस आजु लों ऐसौ, काँनन सुन्यों न देख्यौ।
निरपति पटै कटुक अति-जीरन, चाँहति महि उर लेख्यौ॥
निसि-दिन बसत नेंकु नहिं निसरत्ति, हृदै-मनोहर-ऐंन।
या कों यहाँ ठौर है नाहीं, कै राखौ जहँ चैंन॥
ब्रजबासी गोपाल-उपासी, सो बातें हम छाँड़ि।
'सूर' जोग-धन राख मधुपुरी, कुबिजा के घर गाड़ि॥"

अथवा—

'काहे कों रोकत मारग-सूधौ।
सुनों मधुप ? निरगुन कंटक ते, राज-पंथ कों रूंधौ॥
कै तुम सिखै पठाए कुबिजा, कही स्याँम-घनजू धों।
वेद-पुरॉन, इस्मृति सब ढूंढ़े, जुवतिन जोग कहूँ धों॥
ता कौ कहा परेखो कीजै, माँगत छाछ न दूधौ।
'सूर' मूर अक्रूर गयौ लै, ब्याज-निबेरत ऊधौ॥'

१ अद्वैत-वादियोंका यह सिद्धान्त है कि ब्रह्मके अतिरिक्त और जो कुछ है वह सब मिथ्या है—सब जग झूठा है। वह कहते हैं कि जिस तरह रस्सीके स्वरूपको न जानकर सर्पका भान होता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मके सुस्वरूपको न जाननेसे संसार और सांसारिक वस्तुएँ ब्रह्मसे भिन्न—पृथक् जान पड़ती हैं। लेकिन अन्तमें ज्ञान-प्राप्ति होनेपर यह स्थावर-जङ्गम-मय सारा संसार ब्रह्म-मय प्रतीत होने लगता है!

करनेवाला प्रयोग, सुधि-बुधि भुलानेवाली शक्ति, मोहिनी-माया, जादू, टोना।

मारग, सूधौ, नैन, बैन, स्रुति, नासिका, मुरली और ठगोरी—आदि सुन्दर शब्दोंके सरस प्रयोग।

"या 'मारग' हम नित गईं हो, कबहुँ न दीन्हौ दाँन।"
—रसिकराय

"कहियो 'सूधौ'* इहै—सँदेसवा।" —माधुरीदास

"नैन"-छबि बनी आजु कछु औरैं।"
—ललित-किसोरी-प्राचीन

"काजर दीएँ रँगमँगौ, बोलति उलटे-'बैन'।
कर-पल्लव दएँ बदन पै, लटकि नचावति नैन॥"
—माधौदास

"स्रुति"-कुंडल अति-झलमलैं—सोभा कही न जाइ।"
—कुम्भनदास

"नासिका"-गिरिधर सोहति मोती'
—गोविंदस्वामी

"सुनि, धुनि 'मुरली' बाजै हरि रास-रच्यौ।
कुंज-द्रुम-बेली प्रफुल्लित, मंडल-कंचन-मनिन खच्यौ॥"
—हरिदासस्वामी

---

* ब्रज-भाषामें इस शब्दके दो प्रकारसे प्रयोग और मिलते हैं। यथा—

"सूधे" बचनन माँगिए हो, लालन गोरस-दाँन।
—रसिकराय

"सूधैं" दाँन लेहु किनि मो पै, और कहा कछु पाँइ परोंगी॥
—नंददास

"मुसकि-ठगोरी" डारि कें प्यारे, सकति लई रति-जोरि ।"

—रसिकराय,

श्रीनंददासजीकी तरह "श्रीसूर" ने भी उद्धवके उस अद्वैत-वाद[1]का कुछ ऐसा ही सुन्दर जवाब दिया है, जैसे—

ऊधौ, और कछुक कहिबे कों ।
मन-मानें सोऊ कहि डारौ, पाँ-लागें हम सब सहिबे कों ॥
पै उपदेस आजु लों ऐसौ, काँनन सुन्यों न देख्यौ ।
निरपति पटै कटुक अति-जोरन, चाँहति महि उर लेख्यौ ॥
निसि-दिन बसत नेंकु नहिं निसरति, हृदै-मनोहर-ऐंन ।
या कों यहाँ ठौर है नाहीं, कै राखौ जहँ चैंन ॥
ब्रजबासी गोपाल-उपासी, सो बातें हम छाँड़ि ।
'सूर' जोग-धन राख मधुपुरी, कुबिजा के घर गाड़ि ॥"

अथवा—

'काहे कों रोकत मारग-सूधौ ।
सुनों मधुप ? निरगुन कंटक ते, राज-पंथ कों रूंधौ ॥
कै तुम सिखै पठाए कुबिजा, कही स्याँम-घनजू धों ।
वेद-पुराँन, इस्मृति सब ढूंढ़े, जुवतिन जोग कहूँ धों ॥
ता कौ कहा परेखौ कीजै, माँगत छाछ न दूधौ ।
'सूर' मूर अक्रूर गयौ लै, ब्याज-निबेरत ऊधौ ॥'

---

१ अद्वैत-वादियोंका यह सिद्धान्त है कि ब्रह्मके अतिरिक्त और जो कुछ है वह सब मिथ्या है—सब जग झूठा है। वह कहते हैं कि जिस तरह रस्सीके स्वरूपको न जानकर सर्पका भान होता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मके सुस्वरूपको न जाननेसे संसार और सांसारिक वस्तुएँ ब्रह्मसे भिन्न—पृथक् जान पड़ती हैं। लेकिन अन्तमें ज्ञान-प्राप्ति होनेपर यह स्थावर-जङ्गम-मय सारा संसार ब्रह्म-मय प्रतीत होने लगता है !

अथवा उद्धव—

'जित देखौं, तित स्याँम-मई है।
स्याँम कुंज, बन, जमुनाँ स्याँमा, स्याँम-गगन-घन-घटा छई है॥
सब रंगन मे स्याँम भरयौ है, लोग कहति यह बात नई है।
मैं बौरी, कै लोगनु ही की, स्याँम-पुतरिया बदल गई है॥
चंद्रसार, रबि-सार, स्याँम है, मृग-मद स्याँम काँम बिजई है।
नीलकंठ कौ कंठ स्याँम है, मनौं स्याँमता बेलि बई है॥
स्रुति कौ अच्छर स्याँम देखियतु, दीप-सिखा पै स्याँम तई है।
नर-देवनकी कहा चलैयतु, अलख-ब्रह्म-छबि स्याँम मई है॥

कुछ ऐसी ही बात 'कबीरदास' भी कहते हैं, जैसे—

'पीतम कौं पतियाँ लिखूं, जौ कहुँ होइ बिदेस।
तन मे, मन मे, नैंन मे, ताकौं कहा सँदेस॥'

श्रीनागरीदासजी कहते हैं कि—प्रिय-उद्धव! एक बात बतलाओ, जैसे—

हा-हा ऊधौ? कहिऐ बात।
सुर-मुरली सौं मोहीं सब हम, अब सुर-संख बजात॥
रँग-रस तजि रन-रस बस भए, कछु मृदु, कुलिस लखात।
सहि न सके सर-नैंन हमारे, क्यौं सर-सार सुहात॥
पीत-झगा कौ लगत भार तब, कवच कसत क्यौं गात।
मूंठि-गुलाल लगत अबला कर, अब न गदा डर पात॥
सुनि-सुनि हम ये सहि न सकति हैं, हौति दगन जल पात।
जगत कहत हम भईं बावरी, प्रीति-रीतिके नात॥
मुरली-मुकट, लटकि है छबि की, हिय तें नाँहिन जात।
'राजसिंह'[१] प्रभु करयौ कहा पै घरी दया नहिं गात॥

१ यह महाराज कृष्णगढके राजाका दूसरा उपनाम है।

आलम कवि कहते हैं——

तरनिजा-तट, बंसीबट, कुंज-पुंज, बीथी,
बन-घन जहाँ-तहाँ आँनद-उपजोगी हैं।
सोई रह्यौ ध्यान, ऊधौ ? ग्यान कौ न काज कीजै,
ए तौ ब्रजबासी ब्रजराज के वियोगी हैं॥
'आलम' सुकवि कहै तन-बीच कान्ह-छवि—
जोग-दैंन आए तुम कहा हम जोगी हैं।
जोग तौ सिखैऐ ताहि जोग की जुगति जानैं,
जोग कौ न काज हम बंसी-रस भोगी हैं॥

श्री घन आँनन्दजी भी कुछ ऐसी ही सरस-सूक्ति कहते हैं यथा–

वह मुसिकानि, वह मृदु-बतरानि, वह—
लड़बौरी-बाँनि आँनि उर में अरति है।
वह गति लैंन औ बजावनि ललित-बैंन,
वह हँसि-दैंन हियरा॰ तें न टरति है॥
वह चतुराई सों चिताइ चाँहिबे की छबि—
वह छलताई न छिनकि बिसरति है।
आँनद-निधाँन प्राँन, पीतम सुजाँन जू की,
सुधि सब भाँतिन सों बेसुधि करति है॥

कुछ ऐसा ही श्रीभारतेंदुजी भी कहते हैं, यथा——

पहिलें ही जाइ मिले गुन में स्रवन फेरि—
रूप-सुधा-मधि कीन्हौं नैंन हूं पयाँन है।
हँसनि, नटनि, चितवनि, मुसिकाँनि सुघ—
राई, रसिकाई मिलि मति पय-पाँन है॥
मोहि-मोहि मोंहन-मई री मन मेरौ भयौ—
'हरीचंद' भेद ना परत कछु जाँन है।

कॉन्ह भए प्राँन-मय, प्रान भए कॉन्ह-मय,
हिए मैं न जानि परै, कॉन्ह है कि प्राँन हैं ॥'

अब जरा 'रत्नाकर'जीकी भी बानगी श्रीनंददासजी इस उक्त उक्तिपर देखिये, आप फर्माते हैं कि उद्धव जू—

कीजै ग्याँन-भाँनु कौ प्रकास गिरि-सृंगनि पै
ब्रज मैं तिहारी कला नैंकु खटि है नहीं।
कहै 'रतनाकर' न प्रेम-तरु पैहै सूखि—
याकी डार-पात तृन-तूला घटिहै नहीं॥
रसनाँ हमारी चारु चातकी बनी है ऊधौ ?
पी-पी की बिहाइ और रट रटि है नहीं।
लौटि-पौटि बात कौ बवंडर बनावत क्यों
हिय तैं हमारे घनस्याँम हटि हैं नहीं॥'

क्योंकि—

'हम परतच्छ मैं प्रमाँन अनुमाँनें नाँहि—
तुम भ्रम-भौंर मों भलें हीं बहिबौ करौ।
कहै 'रतनाकर' गुबिंद-ध्याँन धारें हम—
तुम मन-माँनो ससा-सिंग गहिबौ करौ॥
देखति सौ माँनति हैं सूधौ-न्याय जाँननि हैं,
ऊधौ ? तुम देखि हूँ अदेख रहिबौ करौ।
लखि ब्रज-भूप-रूप, अलख, अरूप, ब्रह्म—
हम न कहैंगी तुम लाख कहिबौ करौ॥'

श्रीनंददासकी उक्त-उक्तिपर—'हमरे सुंदर स्याँम प्रेम कौ मारग-सूधौ' पर घन-आनँद या आँनदघनजीकी एक सरस-उक्ति याद आ गयी है। देखिये न कितनी बाँकपन है, यथा—

'अति-सूधौ सनेह कौ मारग है, जहाँ नैंकु सयाँन कौ काम नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपुनपौ, झिझकैं कपटी, जे निसाँक नहीं॥

'घनआँनद' प्यारे सुजान सुनों ? इत एकु ही दूसरौ—आँक नहीं ।
तुम कौंन धौं पाटी पढ़े हौ लला, मन लेति हौ, देति छटाँक नहीं ॥
—शृंगार-संग्रह, १०२

उद्धव उवाच

(९)

स-गुन—शुद्ध सगुंन, वा सगुण, अथवा सरगुन, अर्थात् सत्व, रज और तमरूप तीनों गुणोंसे युक्त, साकार ब्रह्म, गुणों-सहित, उपाधि—लक्षण और वस्तुको और बतलानेवाला छल, कपट, अथवा 'उपाधि' वह जिसके संयोगसे कोई वस्तु किसी विशेषरूपमें और की और दिखलायी दे ।

सांख्यानुसार बुद्धिकी उपाधिसे ब्रह्म कर्ताके रूपमें देख पड़ता है पर वास्तवमें है नहीं । अस्तु, इसी तरह वेदान्तमें मायाके सम्बन्धसे वा असम्बन्धसे चेतनके दो—सोपाधि और निरुपाधि, अर्थात् उपाधिसहित (जीव) वा उपाधिरहित (ब्रह्म) भेद माने गये हैं ।

निरगुन—शुद्ध निर्गुण, अर्थात् सत्व, रज और तम नाम तीनों गुणों-रहित, दूर पृथक् । त्रिगुणातीत, अथवा जिसमें कोई गुण न हो । *निराकार*—जिसका कोई 'आकार' न हो—स्वरूप न हो । अथवा जिसके आकारकी कोई भावना न हो । *निरलेप*—शुद्ध निर्लेप, अर्थात् लेप-शून्य, जो विषयोंसे दूर हो, संग-रहित, पाप-पुण्यसे परे—पृथक् । स्वतन्त्र, निर्लिप्त । *तीनों-गुन*—तीन-गुण, अर्थात्

---

१ गुण देखिये पृ०—४६

सत्त्व, रज और तम—आदि। अच्युन—शुद्ध अच्युत—जो कभी 'च्युत' न हो, अर्थात् जिसका कभी नाश न हो, स्थिर, अमर, सदा सर्वदा रहनेवाला, अविनाशी, (जिसका कभी नाश न हो)।

'स्वरूपसामर्थ्यान्न 'च्युतो', न च्यवते, न—च्यविष्यते—इति 'अच्युतः'।' —विष्णुसहस्रनाम, शाङ्करभाष्य

अर्थात्—अपनी स्वरूप-शक्तिसे कभी च्युत नहीं हुए, न होते हैं और न होंगे—इसलिये—'अच्युत'।

'शाश्वत ँ शिवमच्युतम्।' —ना० उ० १३। १

भगवान् भी यही कहते हैं:—

"यस्मान्न च्युतपूर्वोऽहमच्युतस्तेन कर्मणा।"

बिस्व—शुद्ध विश्व, सारा संसार, सम्पूर्ण जगत्, चौदह भुवनों[1] का समूह, सब, जैसे:—

"विश्वं अशेषं कृत्स्नसमस्तनिखिलाऽखिलानि निःशेषम्।"
—अमरकोश ३। २। १४

सगुन, उपाधि, निरगुन, निराकार, निरलेप, अच्युत और बिस्वके सरस प्रयोग.—

"गोविंद" प्रभु गिरिधर जसुमति कें "सगुन" रूप है आए।
—गोविन्ददास

"जीर, कछु उपजी नई "उपाधि"।" —कृष्णदास
"ऊधौ, लै "निरगुन" उत राखौ।" —सूरदास

---

१ चौदह-भुवन—"भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, अतल, सुतल, वितल, गभस्तिमत्, महातल, रसातल और पाताल।

"निरंजन, "निराकार", परब्रह्म, परमेस्वर—
एकुही अनेकु होइ व्यापौ विस्वंभर''।" —बैजू बावरा

निराकार "निरलेप" निरंजन 'आँनदघन' निस्तरणं।"
—आँनंदघन

घट-घट में व्यापि रह्यौ "अच्युत" सोई—
भूलै मति मतिमंद वृथाँ जनम जाइगौ''।" —तानसेन

"बिम्ब" कुसल कारन विधिना, बिनती करि आँनें।"''
—नंददास

श्रीनंददासकी उक्त उक्तिपर यह श्रुति-वाक्य कितना फिट ता है। जैसे:—

"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणि-पादम्''''''।," —मुण्डकोपनिषद् १।१।६

अथवा श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक कहते हैं:—

"सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान्।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः॥"
—श्रीमद्भागवत १०।४६।४०

श्रीसूर कहते हैं:—

वे हरि, सकल-ठौर के बासी।
पूरन ब्रह्म, अखंडित, मंडित, पंडित, मुनिन, बिलासी, ॥
सप्त-पताल, अध, अरध पृथवी, जल, नभ वरुन, बयारी।
अभ्यंतर-दृष्टी देखनि कौं, कारन-रूप-मुरारी॥
मन, बुधि, अहंकार, दस-इंद्री, प्रेरक रथ-मनकारी।
ताके काजु वियोगु विचारति, ए अबला ब्रज-नारी॥
जाकौं जैसौ रूप रुचै मन, सो अपबस-करि लीजै।
आसन, बैसन, ध्याँन, धारनाँ मन आरोहन कीजै॥

षट्-दल, अष्ट, द्वादस-दल निरमल, अजपाजाप जपाली।
त्रिकुटी-संगम ब्रह्म-द्वार-भिदि, यों मिलि हैं बनमाली॥
एकादस गीता, स्रुति साखी, जिहि बिधि मुनि समुझाए।
ते सँदेस श्रीमुख गोपिन कों "सूर" सुमधुप जनाए॥

कबीर साहब फर्माते हैं:—

"जाके मुँह-माथा नहीं, नाँही रूप-अरूप।
पुहुप-बास तें पातरा, ऐसा तत्त्व अनूप॥ —साखी

यारी-साहिब कहते हैं:—

"जोति-सरूपी आतमा, घट-घट रही समाइ।
परम-तत्त मन-भावनों, नैंकु न इत उत जाइ॥"
"रूप-रेख बरनौं कहा, कोटि-सूर परगास।
अगम-अगोचर रूप है, कोउ पावै हरि कौ दास॥"
नैनन-आगें देखिऐ, तेज-पुंज जगदीस।
बाहर भीतर रमि रहा, सो धरि राखौ सीस॥"

सहजोबाई कहती हैं—

"निराकार-आकार सब, निरगुन औ गुनवंत।
है, नाहीं सूं रहित है, "सहजो" सो भगवंत॥"
नाम नहीं औ नाम सब, रूप नहीं सब रूप।
'सहजो' सब कछु ब्रह्म है, हरि परघट, हरिरूप॥"

गोपी-वचन

(१०)

गो—गौ, धेनु, गैया, गाय, पशु।

गो-शब्दके और भी अर्थ होते हैं जैसे:—किरण, दिशा, वचन, पृथ्वी, माता, वृष-राशि, इन्द्रिय, सरस्वती, वागीश, आँख आदि।

वन—जंगल। अंजन—काजल, सुरमा-वगैरह।

कवि—संसारमें अंजन-अलंकृत आँखोंका भी बड़ा बोलबाला है। इस तीन अक्षरके "अंजन" शब्दपर कवि-कोविदोंने अपने-अपने कलेजे निकाल-निकालकर रख दिये हैं। कहते हैं—काजल, दृष्टिको साफ करता है, पर यहाँ तो इस कलमुँहे "काजल" ने कवि-दृष्टियों-को और भी काला बना दिया है—एकदम धुँधला कर दिया है। देखिये न, जैसे—

"कंचन के पिँजरा-परे खंजन ललफात किधौं—
बाँधे जुग मींन नाग-फाँस सौं मदँन हैं।
कॉम के कछारँन में फूलँन की कनूका किधौं—
आयुज-तिलक सिंगार के सदँन हैं॥
बिषिख पुलिंद मैंन माँजे हैं प्रदीपँन सौं,
"बलभद्र" मुनिँन-हूँ भे मन के हरँन हैं।
काजर की रेख अवरेख लोचँन में मँनों—
कीन्हे चित-चोरँन के मेचक बदँन हैं॥"

× × ×

"मँन-मोंहिनी सूरत राधिका की,—लखि मोंहन के मँन प्रेम पग्यौ।
चहुँ ओर तें फैली है चंद्रिका-सी, मुख की छबि नंद-कुँमार रँग्यौ॥
दोउ नँनन-बीच में काजर-रेख, बिराजत रूप अँनूप जग्यौ।
रवि कौं तजि चंद-सों नेह कियौ, अरबिंदन मँनों कलंक-लग्यौ॥"

× × ×

"रूप-ठगोरी डारि कें, मोंहन गौ चित-चोर।
अंजन-मिस जँनु नँन ए, पीयतु हलाहल-घोर॥"

गोबरधन—गोवर्धन, गोरधन अर्थात् ब्रजका पर्वत विशेष।

यो तो 'गोवर्धन' का विस्तार गोलोकमें बारह-हजार कोसका कहा जाता है और गोलोक-विहारी भगवान्के आनंदसे उक्त गोवर्द्धन-की उत्पत्ति कही जाती है, पर गर्ग संहिताके कर्त्ता गोवर्धनकी उत्पत्ति ब्रजमें इस प्रकार कहते हैं—

'एक समय श्रीपुलस्त्य ऋषि पृथ्वी-पर्यटन करते हुए अतुल-प्रतापशाली शाल्मली-द्वीपमें द्रोणाचलके यहाँ आये और वहाँ ऋषिने सुंदर रत्नमयी शिखरोंसे सुशोभित, सुगंधसे संयुक्त, वृक्षोंसे परिपूर्ण और दिव्य-पुष्पोंसे प्रफुल्लित, कंदराओंसे कल्ति, ऋषि मुनियोंके उपयुक्त अनेक स्थान तथा पशु-पक्षियोंसे भरपूर उसके पुत्र 'गोवर्धन' को देखकर उसे काशी ले जानेके लिये याचना की। ऋषिके अनुनय-विनयसे गोवर्धनने मार्गमें कहीं भी न रखनेकी प्रतिज्ञापर ऋषिके साथ जाना कबूल किया, क्योंकि उस (गोवर्धन) का कहना था कि जहाँ भी आप रख देंगे वहाँसे पुनः मैं अगाड़ी न जाऊँगा, वहीं रह जाऊँगा। अस्तु; इस शर्तनामेके अनुसार ऋषि गोवर्धनको ब्रजके रास्ते काशी ले जाने लगे तो भगवत्कृपासे ऋषिको इस स्थानपर जहाँ कि अब गोवर्धन-पर्वत वर्तमान है—लघुशङ्काकी आवश्यकता प्रतीत हुई और गोवर्धनको वहाँ रख अपनी शङ्का निवृत्त करने लगे, तदुपरान्त जब आप पुनः काशी चलनेको उद्यत हुए और गोवर्धनको उठाने लगे तो 'गोवर्धन' कहने लगा कि महाराज! अब क्षमा कीजिये, बस मेरा और आपका करार पूरा हो गया, मैं अब अगाडी नहीं जा सकता आदि-आदि। अतएव श्री-

पुलस्त्य ऋषि अपनी आगे मनोवाञ्छा पूरी पड़ती न देख झुंझलाकर बोले कि—'जा दुष्ट ! तू तिल-तिल नित्य-प्रति यहाँ घटता रहेगा और कलियुगमें तेरा इस तरह नाश हो जायगा, इत्यादि ।'

—गर्गसंहिता 'गिरिगोवर्धनखण्ड'

गोवर्धन-धारणकी कमनीय-कथा श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार लिखी है—'व्रजवासी गोप-गण प्रतिवर्ष अच्छी वर्षा होनेके लिये शरदकालमें इन्द्रकी पूजा किया करते थे । उन लोगोंका दृढ़ विश्वास था कि उक्त पूजा करनेसे हम सब तरहसे सुखी रहेंगे, जैसे—

नंद-महर सौं कहति जसोधा, सुर-पति-पूंजा क्यों बिसराई ।
जाकी कृपा बसत ब्रज-भीतर, जाकी दई भई ठकुराई ॥
जाकी कृपा अन्न-धन पूरन, जाकी कृपा तें नव-निधि पाई ।
जाकी कृपा दूध-दधि बहुतक, सहस-मँथानी मँथत सदाँई ॥
जाकी कृपा पुत्र भयौ मेरें, कुसल रहौ बलराम-कन्हाई ।
'सूर' बरनि यों कहति नंद सौं, दिन आयौ अब करौ सजाई ॥'

अस्तु, यशोदाके इस प्रकार याद दिलानेपर बड़े उत्साहके साथ इन्द्रपूजाका आयोजन होने लगा । उसी समय कहींसे खेलते-कूदते कृष्ण आ गये और लगे पूछने कि बाबा ! यह आज क्या हो रहा है ! बाबा नंदके सब कहनेपर आपने इन्द्र-पूजाके लिये मना करते हुए गोवर्धन-पूजाकी सलाह दी, यथा—

'बाबा, गोबरधन पूंजौ आज ।
जातें गाय, गुवाल, गोपिका, सुखी सबन कौ राज ॥
जाकौं रुचि-रुचि बलिहिं बनावत, कहा सक्र सौं काज ।
'गिरि' के बल बैठे घर अपने, कोटि-इंद्र पै गाज ॥

मेरौ कह्यौ मानि अब लीजै, भरि-भरि सकटँन साज ।
'परमानंद' चलौ सब अपैं, वृथाँ करत क्यौं लाज ॥'

बाबाके लाड़िले तो थे ही, फिर इनकी बात क्यों न मानी जाती, अस्तु, नन्द बाबा सब गोपोंसे कहने लगे—

"हमारौ कान्ह कहै सो कीजै ।
आवौ सिमटि सकल ब्रज-बासी, परबत कौं बलि दीजै ॥
मधु, मेवा, पकवाँन, मिठाई, षट्-रस-बिंजन लीजै ।
"आसकरन" प्रभु मोहन नागर, वारि न्यौछावरि कीजै ॥"

अतएव इस आज्ञाके अनुसार गोपवर्गने इन्द्र-पूजनको मिटाकर गोवर्धन पूजा की, जैसे,—

"गोबरधन पूजत हैं ब्रजराई ।
बल-मोहन आगैं द्वै लीने, गोप-बधू सँग लाई ॥
दूध-दही भाजन भरि लीन्हे, पाइस बहुत बनाई ।
बैठे हैं गोपाल सिखर पै, भोजन करत दिखाई ॥
दीपमालिका-महा-महोत्सव, ग्वालँन लए बुलाई ।
बिबिध-भाँति सब सखा सजाए, जो जाके मन-भाई ॥
फूले फिरत सकल ब्रज-बासी, खिरक खिलावत गाई ।
"लालदास" के प्रभु गिरि पूज्यौ, भई भगँन मन-भाई ॥"

इन्द्र, इन (गोपों) के इस नये व्यवहारको देखकर बड़ा क्रुद्ध हुआ और अपने मेघ-गणोंको बुलाकर ब्रजको डुबा देनेकी आज्ञा दी ।

मेघँन सौं बोले सुर-राई । अहीरँन मोसौं करी ढिठाई ॥
मेरी सौंनी करत बड़ाई । कान्ह बुधि मोहि दियौ भुलाई ॥
सदाँ करत मेरी सिवकाई । अब सेवत परबत कौं जाई ॥
इही काज तुमकौं हँकराए । भलौ करौ सेना लै आए ॥
बेगि-बेगि सब ब्रज पै जावौ । पहिलैं परबत खोद-बहावौ ॥

जब इहि सुनी इंद्रकी बाँनी । मेघन के मन धीरज आँनी ॥
"सूरदास" प्रभु सुनि घन तमके । कापर क्रोध करत प्रभु जमके ॥"

सुर-पतिके इस आदेशानुसार मेघ व्रजपर आकर भीषण-उत्पात करने लगे। इसे न सह सकनेवाले उत्पातोंसे डरकर गोपवर्ग असहाय-सा रोता-कलपता कृष्णसे सहायताकी पुकार मचाने लगा—

"माधौ जू, राखौ अपनी ओट ।
वे देखौ गोवरधन-ऊपर, उठे हैं मेघ के कोट ॥
तुम जु सक्र की पूजा मेंटी, बैर कियौ उन भोट ।
नाहिंन नाथ महातम जान्यों, भयौ है खरे तें खोट ॥
सात-द्यौस जल बरख सिरानों, अचयौ एकुहिं घोट ।
लयौ उठाइ गिर गरुवौ कर पै, कीन्हौं निपट निघोट ॥
गिरिधारयौ, तिरनावत-मारयौ, जियौ नंद के ढोट ।
"परमानंद" प्रभु इंद्र खिस्यानौं, मुकट चरन-तर लोट ॥"

उसी समय इस पदानुसार भगवान् श्रीकृष्णने गोप और गोकुल-की रक्षाके निमित्त गोवर्धन-गिरिको अपने बाँये हाथकी कन्नी—सबसे छोटी उँगलीपर उठा लिया और सबको इसके नीचे बुलाकर आश्रय दिया। जैसे कोई बालक कमलनालको अपनी उँगलीपर नँचाता है उस तरह सात दिनतक आप गोवर्धन पर्वतको लिये रहे अपनी उस नाजुक और कोमल कन्नी उँगलीपर। श्रीनंददासजीने उक्त अवसरका एक बड़ा सुंदर भावपूर्ण पद कहा है, जैसे—

"काँन्ह-कुँवर के कर-पल्लव पै, मनों गोवरधँन नृत्य करै।
ज्यों-ज्यों ताँन उठति मुरली की, त्यों-त्यों लालँन अधर धरै ॥
मेघ-मृदंगी मृदँग बजावत, दामिनि-दमक मानों दीप जरै।
ग्वाल ताल दै नींकें गावत, गायन के सँग सुर जो भरै ॥

देति असीस सकल गोपी-जन, 'बरखा कौ जल अमित हरै।
अति अद्भुत अवस गिरिधर प्रभु, 'नंददास' के दुःख हरै॥"

मेघोंने सात-दिन और सात रात्रि महान् वृष्टि की, पर गोकुल-निवासियोंका वे कुछ भी न बिगाड़ सके और थककर भाग गये। तदुपरान्त इन्द्र भी भगवान् श्रीकृष्णको पूर्णावतार मान गोकुलमें आया और पूजा-अर्चनाके पश्चात् स्तुतिकर अपने लोकको चला गया तथा इधर गोप-तथा गोप-बालाएँ उनके इस अपरिमित कृपापर आशीषें देने लगा। जैसे:——

"जीवौ जसोधा पूत तिहारौ, जिन गोबरधँन धारयौ।
बाँस-पाँनि पै राखि लयौ गिरि, बूड़त सबँन उबारयौ॥
सात दिवस अति-वृष्टि लगाई, प्रबल मेघ बहु डारयौ।
बूँद न परसी काहू देखत, सुर-पति-मन लाचारयौ॥
लै सुरभी अभिषेक कियौ है, तन, मन, धन सब वारयौ।
"व्रजपति" की अति करत बीनती, पाँइ परयौ-बस हारयौ॥

पूत——बेटा, लड़का, पुत्र, अपत्य अथवा पूत——पवित्र या साफको भी कहते हैं, जैसे:——

"पूतं पवित्रं मेध्यं च······।"

——अमरकोश ३।२।५

व्रजनाथ——व्रजके नाथ, मालिक, प्रभु, स्वामी, कर्त्ता, प्रतिपालक——आदि।

गो, बन, अंजन, गोवरधन, पूत और व्रजनाथके सुंदर व सरस प्रयोग।

"आछी——"गो" ग्वालन सिंगारी, दीनी द्विजन बुलाइ।"

——विट्ठलेशजी

"भूलि परी संकेत-सघन "वन" हों अवला कित जाउँ ।"

—हित भगवान

"अंजन" ऊपर खंजन वारौ नैंन-चपलता मींन ।"

—हरिदास दूसरे

"गोवरधन" की सघन-कंदरा, रेंनि-निवास कियौ पिय-प्यारी ।"

—कृष्णदास

"ब्रज भयौ महरि कें "पूत" जब यै बात सुनीं ।" —सूर

'लालदास' प्रमुदित गिरि पूज्यौ, आगें करि 'ब्रजनाथ ।"

—लालदास

श्रीसूरने भी नंददासजीकी तरह उद्धवके निर्गुण कथनकी खिल्ली उड़ायी है, "हाथ, पाँइ नहिं नासिका, नेंन, बेंन नहिं कॉन-रूप वर्णनका भरपूर-मजाक उड़ाया है, यथा—

"मधुकर, वह जाँनी तुम साँची ।
पूरन-ब्रह्म तिहारौ ठाकुर, आगें माया नाँची ॥
इहै गाँउँ न समझति कोऊ, कैसौ निरगुन होत ।
गोकुल बाँट परे नँद-नंदन, उहै तिहारौ पोत ॥
को जसुमति ऊखल सों बाँध्यौ, कों दधि-माँखन चोर्‌यौ ।
को ए दोऊ-रूख हमारे, जमलार्जुन कों तोर्‌यौ ॥
को लै वसन चढ़्यौ तरु-साखा, मुरली-मन-आकरषे ।
को रस-रास-रच्यौ वृंदाबन, हरखि सुमन सुर बरषे ॥
ज्यौं डार्‌यौ तव कत बिन बूड़े, काहे जीभ पिरावत ।
तब जु 'सूर' प्रभु गए क्रूर लै, अब क्यों नेंन सिरावत ॥

अथवा:—

निरगुन, कौंन देस कौ वासी ।
मधुकर, कहि समुझाइ, सौंह दै, बूझति-साँच न हाँसी ॥

को है जनक ? कौन है जननी ? कौन नारि कौ दासी।
कैसौ बरन ? भेष है कैसौ ? किहिं रस कौ अभिलासी॥
पावैगौ पुनि कियौ आपुनौ जौरि करैगो गाँसी।
सुनति मौन ह्वै रह्यौ बावरौ, "सूर" सबै मति नाँसी॥"

अथवा—

फिरि-फिरि कहा बनावति बातें।
प्रातकाल उठि देखति ऊधौ, घर-घर माँखन खातें॥
जिनकी बात कहति हौ हम सों, सो है अब तौ दूरि।
इहाँ न निकट जसोधा-नंदन, प्रान-सँजीवनि-मूरि॥
बालक-संग लएँ दधि-चोरत, खात, खवावत, डोलत।
"सूर" सीस क्यों नीच्यौ नावत, अब काहे नहिं बोलत॥"

अथवा—

"ए अलि, जनम-करम-गुन गाए।
हम अनुरागी जसुमति-सुतकी, नीरस-कथा बहाए॥
कैसें कर-गोबरधँन धारयौ ? कैसे केसी-मारयौ।
कालि-दमन कियौ कैसे अघ बक कौ बदन बिदारयौ॥
कैसें नंद महोच्छव कीनौ ? कैसें गोप जु धाए।
पट-भूषन, नाँना-भाँतन के, ब्रज जुबतिन पहिराए॥
दधि-माँखन के भाजन कैसें, गोप-सखा लै धाए।
को बन-धातु चित्र अँग कीएँ, नाँचत भेष-सुहाए॥
तब तें कछु न सुहाइ स्याँम-बिन, जुग सम बीतत जाँम।
"सूर" मरेगी बिरह-बियोगिनि, रटि-रटि माधौ-नाँम॥

यही बात श्रीरामदासजी कहते हैं। जैसे—

ऊधौ, सो मूरत हम देखी।
सिव-सनकादि सकल-मुनि-दुरलभ, ब्रह्म, इंद्र नहिं पेखी॥

खोजत फिरत जुगों-जुग जोगी, जोग-जुगत तें न्यारी।
सिद्धि-समाधि, सपन नहिं दरसी, मोंहन-मूरत प्यारी॥
निगम, अगम, बिमला जस गावें, रहत सदाँ दरबारी।
तिल-भरि वार-पार नहिं पायौ, कहि-कहि नेति पुकारी॥
नाथ, जती, जोगी औ जंगम, ढूँढ़ रहे बन माँहीं।
भेष धरें धरती-भ्रमि हारे, तिनहूँ दरसौ नाँहीं॥
सो हम घर-घर नाँच-नचायौ, तनक-तनक दधि दै कैं।
'रामदास' हम रँगी-स्याँम-रँग, जाहु जोग घर लै कैं॥"

एक कवि कहता है—

जनम कौ पत्रा है हमारे-कर प्यारे—ऊधौ?
जानें हम जसुधा के बार, गुन, नाँम कौं।
लाखन उपाइ दही-माँखन चुराइ प्रात—
चाखि भजि जात हुते तुरत नंद-धाँम कौं॥
सोदर हली के वे दमोदर कहाइ इत,
आठों जाँम माँनि हित पूजें उहि दाँम कौं।
अगुन, अनामी, अज कहौ किमि बार-बार,
अहो हो लबार, कहा बंचौ ब्रज-बाँम कौं॥"

—हजारा

निर्गुणसे सगुणकी स्थापना करते हुए श्री"रसरूप" कुछ नयी उक्ति उपस्थित करते हैं, जैसे—

पाँइ-विन धावै, करें कर-विन भावै जोंन,
"रसरूप" गुने-विन गुन बहु गूनाँ है।
तुचा विना परसि, दरसि विना नेंन, विना
रसनाँ रसग्या, सुनें काँन विना दूनाँ हैं॥
नाँक बिना ओलै बास, बुद्धि बिना खोलै फाँस,
दूरि औ पास बयापै आप मैं अपूनाँ हैं।

ऊधव अदेखा कैसें उर अवरेखा जाइ—
'रूप है न रेखा, काहूं देखा नहिं सूनों हैं ॥'

—उपालम्भ शतक

इस विषयपर—नंददासजी उक्त निर्गुण-निरूपणरूप छद्-नोक्तिपर जरा 'ग्वाल' कविकी सरस-सूक्तिका मनोहर मजा देखिये, यथा—

'जैसे कौंन्ह तैसे ही उद्धव-सुजाँन आए,
है तो मैहमॉन पै प्रॉनन निकारैं लेति।
लाख-बेरि 'अंजन' अँजायौ उन ऑखिन मे
तिन कौं निरंजन कहि झूंठ निरधारैं लेति ॥
'ग्वाल' कवि हाल ही तमालन में, बालन में
ख्यालन मे खेले है किलोल-किलकारैं लेति।
क्यॉ न परचेरी-जोग, चेरी-संग परचेरी,
जोग-परचेरी भेजि परचे हमारैं लेति ॥'

"हम अपने कर सौं दियौ, ऊधौ अंजन जोइ।
दासी-सुख रासी कौ, भयौ निरंजन सोइ ॥"

—नवनीत

श्रीनवनीतजीकी इस सरस-सूक्तिपर एक सुन्दर संस्कृत-सूक्ति और याद आ गयी है, जैसे—

धन्या गोकुलकन्या वयमिह मन्यामहे जगति।
यासां नयनसरोजे अंजनभूतो निरंजनो वसति ॥

अन्तमें जरा जगन्नाथदास रत्नाकरजीकी बानगी भी नंददासजी-की इस उक्तिके साथ देखिये। आप फर्माते हैं कि उद्धव—

'कर बिनु कैसें गाय दुहिहै हमारी वह,
पद बिनु कैसें नाँचि थिरकि रिझाइ है।

कहै 'रतनाकर' बदन-बिनु कैसें चाखि—
माँखन, बजाइ बेंनु गोधन गवाइ है ॥
देखै, सुनें, कैसें द्दग-स्रवन बिनाँ हीं हाइ,
भोरे ब्रज-बासिनि की बिपत बराइ है।
रावरौ अनूप कोऊ अलख-अरूप ब्रह्म,
ऊधौ ? कहौ कौंन धौं हमारे काँम आइ है ॥'

उद्धव-वचन

(११)

अंड—लोक-मंडल अथवा गोलाकार-संसार—लोक-पिंड, ब्रह्मांड, विश्व । ब्रह्मंड—ब्रह्मांडका कोमलरूप अर्थात् जगत, संसार, विश्व-गोलक, संपूर्ण-विश्व जिसके भीतर अनंत लोक हैं । चौदह-भुवनोंका समूह आदि-आदि ।

मनु भगवान् कहते हैं—स्वयंभू भगवान्ने प्रजा-सृष्टिकी इच्छासे पहिले जलकी सृष्टि की और उसमें बीज फेंका। अस्तु, उस बीजके पड़ते ही जलसे सूर्य्यके समान प्रकाशवाला एक स्वर्णाभ—अंड वा गोला उत्पन्न हुआ, जिससे पितामह ब्रह्माका जन्म हुआ । उसमें आपने एक संवत्सरतक निवास करके उस अंड वा ज्योतिर्गोलकमें एक वर्ष रहकर उसके दो—आधे-आधे विभाग किये और फिर उस ऊर्द्ध्व-खंडमें स्वर्ग आदि लोकोंकी और अधोखंडमें पृथ्वी-आदिकी रचना की । अतः यह विश्व-गोलक इसीसे 'ब्रह्मांड' कहा जाता है—आदि-आदि ।

लीला—क्रीड़ा, विहार, खेल, कौतुक·······आदि ।

'द्रवकेलिपरीहासाः क्रीडा 'लीला' च नर्म्म च।'
—अमरकोश १ । ७ । ३२

और विलासको भी 'लीला' कहते हैं, जैसे—

'लीला' विलास-क्रिययोः…………………… ।'
—अमरकोश ३ । ४ । २०१

अर्थात् विलास, स्त्रियोंकी शृंगार-चेष्टा, वा भेद, वा चेष्टा विशेष अथवा क्रिया—आदि 'लीला' कही जाती हैं।

'लीलां विदुः केलिविलासखेला-
शृंगारभावप्रभवक्रिया स्वः।'
—विश्वप्रकाशः

हाव—अंतर्गत 'लीला' शब्दकी व्युत्पत्ति साहित्य-दर्पणमें श्री-विश्वनाथ चक्रवर्ती इस प्रकार करते हैं—

'अंगैर्वेषैरलंकारैः प्रेमभिर्वचनैरपि।
प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः॥'

अस्तु, लीला—वह व्यापार जो कि चित्तकी उमगसे केवल मनोरंजनके अर्थ किया जाय। रहस्य-पूर्ण व्यापार, विचित्र-काम। प्रेमयुक्त खिलवाड़, प्रेम-विनोद आदि-आदि।

अवतार—देहान्तर धारण, मनुष्यरूपमें देव-विशेषका प्रकट होना—प्रकाशित होना, भगवान्का लीलार्थ प्रकट होना, उतरना, नीचे आना, जन्म लेना, शरीर-ग्रहण करना।

पुराणानुसार भगवान्के—पूर्ण-पुरुषोत्तमके चौबीस अवतार कहे जाते हैं, जैसे—

ब्रह्मा, वाराह, नारद, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञऋषभ, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, नृसिंह, वामन, परशुराम, वेद-व्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुध, कल्कि, हंस और हय-ग्रीव—आदि……, लेकिन मुख्य "दस" ही है।

इन अवतारोंपर पीयूषवर्षी कवि श्रीजयदेवकी एक बड़ी सुंदर "अष्टपदी" है, जैसे—

"प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदं,
विहित वहित्र चरित्रमखेदं…… ।
केशवधृत मीन-शरीर, जय जगदीश हरेः ॥
क्षितिरति विपुलतरे तव तिष्ठति पृष्ठे
धरणि धरण किण चक्र गरिष्ठे ।
केशवधृत कच्छप रूप, जय जगदीश हरेः ॥
वसति दशन-शिखरे, धरणी तव लग्ना,
शशिनिकलंक कलेवनिमग्ना…… ।
केशवधृत शूकररूप, जय जगदीश हरेः ॥
तव कर-कमल वरे नखमद्भुत शृंगं,
दलित हिरण्यकशिपु तनु भृंगं ।
केशवधृत नरहरिरूप, जय जगदीश हरेः ॥
छलयसि विक्रमणे बलिमद्भुतवामन,
पद-नख-नीर-जनित-जन पावन ।
केशवधृत वामनरूप, जय जगदीश हरेः ॥
क्षत्रियरुधिरमये जगदपगत पापं,
स्नपयसि पयसिशमितभव-तापं ।
केशवधृत भृगुपतिरूप, जय जगदीश हरेः ॥

विनरसि दिक्षुरणे दिक्पति कमनीयं,
दशमुखमौलि बलिं रमणीयं··· ।
केशवधृत रघुपतिरूप, जय जगदीश हरे ॥
वहसि वपुसि विशदेव जलदाभं,
हल हति भीति मिलित यमुनाभं ।
केशवधृत हलधररूप, जय जगदीश हरे ॥
निंदसियज्ञविधेरहह-श्रुतिजातं,
सदय हृदय दर्शितपशुघातं · ।
केशवधृत बुद्ध शरीर, जय जगदीश हरे ॥
म्लेच्छनिवहनिधने कलयसि करवालं,
धूमकेतुमिव किमपि करालं ··· ·· ।
केशवधृत कल्किशरीर, जय जगदीश हरे ॥
श्रीजयदेवकवेरिदमुदितमुदारं··
शृणु सुखदं शुभदं भवसारं—
केशवधृत दशविधिरूप, जय जगदीश हरे ॥"

तन—शरीर, देह, काया, अंग, शुद्ध-तन ।

"कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः ।"

—अमरकोश २ । ६ । २२

जोग—शुद्ध-योग, अर्थात् चित्तकी चचल-वृत्तियोंको बाहरी वस्तुओंसे हटाकर उस (मन) को अंतर्मुख करना, ज्ञान प्राप्त करनेका साधन, भगवत्-प्राप्तिका उपाय । तप, ध्यान, वैराग्य अथवा योग, वह उपाय जिसके द्वारा जीवात्मा परमात्मामें मिल जाता है । मुक्ति वा मोक्षका साधन । दर्शनकार पतंजलिके अनुसार जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है—चित्तकी विविध वृत्तियोंको चंचल होनेसे

रोकना—मनको इधर-उधर भटकनेसे रोकना और केवल एक ही वस्तुमें स्थिर करना—योग कहा है।

"योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु।"

अथवा—

"योगः कर्मसु कौशलम्।"

—गीता २।५०

जुगति—शुद्ध युक्ति, अर्थात् रीति, तरकीब, उपाय, ढंग, तदबीर। साधनकी क्रिया।

योगकी युक्तियोंका—साधनों व उपायोंका विश्लेषण करते हुए दर्शनकार कहते हैं कि पहिले स्थूल-शरीरका—विषयका आधार लेकर सब विषयोंको त्यागता हुआ सूक्ष्मका ध्यान कर अपना चित्त स्थिर करना चाहिये। इसके बाह्य उपादान ये कहे जाते हैं—अभ्यास, वैराग्य, ईश्वरका प्रणिधान, प्राणायाम, समाधि। कोई-कोई इन बाह्य उपकरणोंको अदल-बदलकर योग-साधनके आठ अंग मानता हुआ इनका विभाग इस प्रकार करता है—सिद्धिके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग हैं। इन आठों अंगोंको लेकर कवि "रसरूप" ने गोपियोंको योगकी जो समुचित शिक्षा दी है वह अपूर्व है, जैसे—

आसन—

'असी चार-लच्छ जाति, असी चार-लच्छ-भाँति,
(आसन) सुनाए सिव सिवा के प्रसँन हैं।
तामें असी-चार बसी क्रम कै कसी है देह—
ताहू में सरोज सिद्ध, सिद्ध के असँन हैं॥

दुहू के सरूप तुम्हैं दगन दिखाइ दैहैं,
'रसरूप' जामें ह्वैहै जोग मे जसैन है।
तागे के घसन, तोप, त्रिपा के त्रमैन यहाँ—
आसनें असैन सोम छुधा के नसैन है॥'

यम-नियम—

'आरजव, अहिंसा, छिमा, दया धृति, सत्याचार,
सौच, ब्रम्हचरज, हार संजम के रच्छी हैं।
तृपा, तप, तोष, असत्य-मति सुद्ध-सत्त्व,
पूजा, दान, जप, होम, नेम-पथ गच्छी है॥
'रसरूप' दोऊ दस-दस-भाँति भाख्यौ जाकों,
दरस, तरस, स्वाँति विधिन अलच्छी हैं।
साधन सकल इन्हें साधि-साधि सिद्ध होत,
इन-बिन जोग जैसें पंख बिना पच्छी है॥

प्राणायाम—

'नासिका की नारी तीन भरे राखै करै छीन—
बीज-मंत्र लीन विधि बेदन बताए तें।
क्रम हूँ बितक्रम सों होत बस दसों-पौन,
स्रोन-सुख पावै दस-भाँति धुनि ध्याए तें॥
आधारादि षट्-चक्र भेद हिये खेद करि—
खेचरी-सहित मुद्रा दसों बनि आए तें।
'रसरूप' याही रीती जोगी है अमर-काइ,
और कहा प्रानायाम आँगुरी बजाए तें॥'

प्रत्याहार—

'रूप तें पतंग के, परस तें मतंग के—
सुगंध हू तें भ्रंग के दुखैन में भरे रहैं।
सबद तें कुरंग हति, रस, तेज, मच्छ, गति,
सुधि कै सँकोच अंग कच्छ के करे रहैं॥

दूसरौ न रहै काँम, जागि-जागि आठों-जाँम,
'रसरूप' जामें जोगी जीव सों अरे रहैं।
हारें हियौ हठि कें, न इंद्रिन कों अहार देंइ,
हार लों हिए में 'प्रत्याहार' कों धरे रहैं॥'

धारणा—

'थंभनि पुहुमि हियौ ब्रम्ह तें न चलै चित्त—
द्राविनी उदक कंठ कैसौ विष माँनें हैं।
दहनी दहँन माँल, काँम-रुद्र लाइ है सो—
भ्रामिनी पवन भौंह मेव गति मानें हैं॥
सोखिनी अकास ब्रम्ह-रंध्र सदाँ सिब पास,
जामें महा-मुक्ति कौ उपाइ उर आँनें हैं।
पाँच-पाँच बरी प्राँन, लींन करै पाँचौ-ठौर,
पाँचौ-तत्व धारना कों 'धारना' बखाँनें हैं॥'

ध्यान—

'प्रथमै पदस्थ ध्यावें अच्छर कों स्वस्थ ह्वै कें,
दूसरौ तनस्थ ध्यान गुरु कौ गनंत हैं।
त्रिकुटी में देखिऐ स्वयं-प्रकास-जोति-रूप,
रूप में अखेद-भेद तीसरौ भनंत हैं॥
'रसरूप' दसों-दिसि पूरँन-परस नाँहिं,
चौथौ रूपातीत रूप रहत नितंत हैं।
नभ कैसौ पंछी मन फेर में रहत जाँ के—
आवत है फेर, जात पावत न अंत है॥'

समाधि—

'हरख, सोग, माँनामाँन, निंदन, प्रसंसा जाँन,
ऊंच-नींच रचन प्रपंच की कहाँनी में।

देवादेव, दुःख, दर्प, भूत, प्रेत, सिंघ, सर्प,
काहू तें न भै जो अनेक-दुख-दाता मैं ॥
ब्रम्ह, जीव, पाप, धर्म, बरनाश्रम, क्रिया कर्म,
सब सों रहित है मयाँनी ना अयाँनी मैं ।
इंद्री, आत्मा, एकता सों अचल समाधि मिलै—
पौन-पौन मिलै जैसें पाँनी मिलै पाँनी मैं ॥'

पर-ब्रम्हपुर-धाँमः—परब्रम्हके पुर—नगरका धाम, अर्थात 'मुक्ति' । धाँम—आश्रय, अवलंब, वास आदि··· · ··· ···· ।

'धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः ।' —हेमचंद्र

अंड, ब्रम्हड, लीला, अवतार, तन, जोग, जुगति, परब्रह्म औ धाँन-आदि शब्दोंके सरस प्रयोग—

"बिस्व "अंड" मैं रमि रह्यौ, बहै ब्रह्म-परकास ।"
—श्रीनिधि

"सब "ब्रम्हंड" लख्यौ ता भीतर, जसुमति-मति बौरॉनी ।"
—वृन्दावनदास

"नित-नई "लीला" करत मनोहर, स्याँम-सकल गुन-धाँम ।"
—चतुर्भुजदास

"धनि गोकुल, धनि नंद-जसोदा जाकें हरि "अवतार" लयौ ।"
—सूरदास

जाके लिएँ सुनीं मेरी सजनी ! लाज गई सब "तन" की ।"
—कुंभनदास

"जोग" लियौ किहि कारें, दग दरसन अनुराग ।"
वृन्दावनदास

"जुगति" कछू चलै न बीर चलाई ।"
—श्यामदास

"आयौ सोई महर-घर, "परब्रह्म" धर देह ।"

—मानदास

"स्याँम "धाँम" सरसुती सकुचि रही—
या बानिक बरनत नहिं कोउ—कवि ।"

—हित हरिवंश

श्रीनंददासजीकी इस उक्ति—

"जाहि कहौ तुँम्ह कान्ह, ताहि कोउ पिता न माता"

—पर श्रीमद्भागवतकी यह सूक्ति याद आ जाती है, यथा—

न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः ।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥
न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु ।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥

श्रीमद्भागवत १० । ४६ । ३८-३९

अथवा—

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः ।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥
दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद्वस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥

—श्रीमद्भागवत १० । ४६ । ४२-४३

श्रुतियाँ भी यही कहती हैं—

"दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ।"

—मुण्डकोपनिषद् २ । १ । २

"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा—
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥"

—मुण्डकोपनिषद् ३ । १ । ८

अब जरा श्रीसूरकी भी इस विषयपर बानगी देखिये, आप फर्माते हैं—

"जाकैं रूप, बरन, बपु नाहीं। नैंन-मूँदि चितवौ, चित-माँहीं॥
हृदे-कमल में जोति बिराजै। अनहद-नाँद निरंतर बाजै॥
इड़ा, पिंगला, सुखम्ना-नारी। सहज सु तामें बसें मुरारी॥
माता, पिता न दारा, भाई। जल, थल, घट-घट रह्यौ समाई॥
इहि प्रकार भव-दुस्त-सरि तरिहौ। जोग-पंथ क्रम-क्रम अनुसरिहौ॥"

अथवा—

मैं, तुम पै ब्रज-नाथ पठायौ। आतम-ग्यान सिखावन आयौ॥
आपुहिं पुरुष, आपु-हीं नारी। आपुहिं बाँनप्रस्थ ब्रह्मचारी॥
आपुहिं पिता, आपु-हीं माता। आपुहिं भगिनी आपुहिं भ्राता॥
आपुहिं पंडित, आपुहि ग्याँनी। आपुहिं राजा, आपुहिं राँनी॥
आपुहिं धरती, आपु अकासा। आपुहिं स्वाँमी, आपुहिं दासा॥
आपुहिं ग्वाल, आपुहिं गाई। आपुहि आप, चरावन जाई॥
आपुहिं भँवर, आपुही फूल। आतम-ग्यान, विनाँ जग-सूल॥
राव-रंक दूजा नहिं कोई। आपुहिं आपु निरंजन सोई॥
इहि प्रकार जाकौ मन लागै। जरा-मरन औ भव-भै भागै॥
जोग-समाधि, ब्रह्म चित ध्यावौ। ब्रह्मानंद तवहिं सुख पावौ॥'

कुछ ऐसा ही निर्गुण-परमात्माका निरूपण करती हुई 'सहजो' बाई कहती हैं—

'नया-पुराना होइ ना, घुँन नहिं लागै जासु ।
'सहजो' मारा ना मरै, भै नहिं ब्यापै तासु ॥'
'फिरै, घटै, छीजै नहीं. नाहिंन भिजवै नीर ।
ना काहू के आसरें, ना काहू के सीर ॥'
'रूप-बरन वाकें नहीं, 'सहजो' रंग न देह ।
मीत-इष्ट वाकें नहीं, जाति-पाँति ना गेह ॥'
'सहजो' उपजै ना मरै, सद्-बासी ना होइ ।
रात-दिवस ता में नहीं, सीत-उस्न ना सोइ ॥'
'आगि जराइ सकै नहिं, सस्तर सकै न काटि ।
धूप सुखाइ सकै नहीं, पवन सकै नहिं आटि ॥'
'मात-पिता वाकें नहीं, नहीं कुटँब कौ साज ।
'सहजो' वाहि न रंकता, ना काहू कौ राज ॥'
'आदि-अंत ताकें नहीं, मध्य नहीं तेहि माँहिं ।
वार-पार नहिं 'सहजिया' लघु-दीरघ भी नाँहिं ॥'

—आदि-आदि''''''''

'लीला कौ अवतार लै धरि आए तँन-स्यॉम' पर रस-निधिजीकी यह सूक्ति बरबस हृदय अपनी तरफ खींच लेती है, जैसे—

'नेति-नेति कहि निगम पुनि, जाहि सके नहिं जाँन ।
भयौ मनोहर आइ ब्रज, वही सो हरि-हर आँन ॥'

अथवा—

'नमो निरंजन निरंकार, अविगत पुरुष अलेख ।
जिन संतन के हित धर्यौ, जुग-जुग नाना-भेख ॥'

—बाबा मलूकदास

गोपी-वचन

(१२)

जोग—योग्य, उपयुक्त, उचित, पात्र, अधिकारी, लायक, काबिल। प्रौंन—शुद्ध प्राण, अर्थात् शरीरकी वह वायु,—हवा कि जिससे मनुष्य जीवित रहता है। हृदयस्थ वायु, जीव, अनिल, वायु, निश्वास।

"समीरमारुतमरुज्जग"'त्प्राण" समीरणाः।"

—अमरकोश १।१।५८

सच्छास्त्रकारोने देश-भेदसे प्राणके दस भेद माने हैं, जैसे—"प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकिल, देवदत्त और धनजय", पर इनमें मुख्य पूर्व-कथित पाँच ही माने जाते है और ये ही पञ्च-प्राण नाम प्रसिद्ध हैं। ये सब मनुष्य शरीरके भिन्न-भिन्न विभागोमें कार्य किया करते हैं और इनके प्रकुपित होनेसे ही शरीरमें अनेकानेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबमे उक्त—"प्राण" ही सर्वोपर माना जाता है। जिस वायुको हम अपने नथुने—द्वारा—नाकके छिद्र—द्वारा साँस—रूप भीतर ले जाते हैं वही 'प्राण' कहलाता है। इसीपर मनुष्य और पशु-आदिका जीवन है। इस वायुका मुख्य-स्थान हृदय माना जाता है और प्राण धारण करनेके कारण ही साँस लेते मनुष्य और जन्तुओंको प्राणी कहा जाता है। क्योंकि मरनेपर श्वास-प्रश्वासका—अथवा इस वायुका गमनागमन बंद हो जाता है और लोग कहने लगते हैं कि इसके प्राण निकल गये। शास्त्रमें प्राण निकलनेके मार्ग—आँख, कान, नाक, मुँह, नाभी,

गुदा, मूत्रेंद्रिय और ब्रह्म-रंध्र—आदि माने गये हैं। लोगोंका कथन है कि मरनेके समय मनुष्य-शरीरसे जिस इंद्रिय-द्वारा प्राण निकलते हैं, वह कुछ अधिक फैल जाती है और ब्रह्म-रंध्र-द्वारा निकलनेपर खोपड़ी चटख जाती है। जैन-शास्त्रानुसार प्राण—मनोबल, वाक्बल और कायबलनामक त्रिविध बलोंके साथ उच्छ्वास, निश्वास और आयुके समूहको कहते हैं। छांदोग्य ब्राह्मणके अनुसार प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मनको कहते हैं। वाराहमिहिर और आर्य्यभट्ट-आदिके मतानुसार प्राण, कालका वह विभाग जिसमें दस दीर्घ-मात्राओं-का उच्चारण हो सके। यह विनाडिकाका छठा भाग है—आदि-आदि····।

पियूख—शुद्ध पीयूष, अर्थात् अमृत, सुधा, अमी आदि। वह तरल पदार्थ जिसके किंचिन्मात्र पड़नेसे मृतक जीव जी उठता है।

"पीयूषममृतं सुधा।"—कोश

धूरि—शुद्ध धूलि, अर्थात् रज, रेत, खाक़, गर्द, मिट्टी, रेणु—आदि।

"रेणुर्द्वयोः स्त्रियां. "धूलिः पांशुर्ना न द्वयो रजः।"

—अमरकोश २।८।६६

धूरि पर "अब्दुल-रहीम खानखाना"की सरस-सूक्ति याद आ गयी है, जैसे—

"धूरि" उड़ावत सीस पैं, कहु "रहीम" किहिं काज।
जिहिं रज मुनि-पतनी तरी, सो ढूँढ़त गजराज॥"

—रहीमरत्नावली

जोग, प्राँन, पियूख और धूरिके सरस प्रयोग—

"तुम इकले, हम हूँ इकल हो, बात नहीं कछु "जोग"।
तुम तौ चतुर-प्रवीन हौ लाला ? कहा कहैंगे लोग॥"

--र.रदास

"गोवरधन-घर-स्याम-सिंध मे, परयौ "प्रॉन" कौ बेरौ ।"

—चतुर्भुजदास

"अति-गंभीर, बुद्धि की आलइ, प्रॅम—"पियूख" भरयौ ॥"

—परमानददास

"धूरि" भरे अँग खेलत मोहन, आछी बनी सिर सुंदर चोटी ।"

—सूरदास

जोग—उपदेशके अनन्तर श्रीसूरने भी प्रेमकी महत्ता दिखलाते हुए कुछ ऐसा ही कहा है, यथा—

ऊधौ, हमहिं न जोग सिखैऐ ।
जिहि उपदेस मिलैं हरि हमकों, सो व्रत-नॅम बतैऐ ॥
मुक्ति रहौ घर-बैठि आपुनें, निरगुन सुनि दुख पैऐ ।
जिहि सिर-केस कुसुम-भरि गूँधे, तिहिं कैसें भसम चढ़ैऐ ॥
जाँनि-जाँनि सब मगन भए हैं, आपुन-आपु लखैऐ ।
"सूरदास" प्रभु सुनौ नवौ-निधि, बहुरि कबौ ब्रज पैऐ ॥

सूरके इस कमनीय खप्पर पर किसी उर्दू कविकी यह उक्ति भी सुन्दर है, जैसे—

"आँखें नहीं है चहरे पर तेरे फकीर के ।
दो ठीकडे हैं भीख के, दीदार के लिये ॥"

अथवा—

"ऊधौ, करि रहो हम जोग ।
कहा ऐतौ बाद ठॉनें, देखि गोपी-भोग ॥
सीस सेली, केस मुद्रा, कनक-वीरी वीर ।
बिरह-भसम चढ़ाइ बैठीं, सहज कंथाचीर ॥
हदै सिंगी, टेर-मुरली, नॅन खप्पर हाथ ।
चँहत हँम हरि-दरस-भिच्छा, दॅइ दीनानाथ ॥

जोग की गति जुक्ति हम पै, "सूर" देखौ जोइ ।
कहत हम कों करन जोग, सँजोग कैसौ होइ ॥"

अथवा—

हमारें, कौंन वेद-विधि साधै ।
बटुवा, झोरी, दंड अधारा, इतनेन कों आराधै ॥
जाकी कहूँ थाह नहिं पैयतु, अगम, अपार अगाधै ।
गिरिधरलाल छबीले कौ इहि, कहा पठायौ पाधै ॥
सुनि मधुकर जिन सरबसु चाख्यौ, सो सत्तुपावत आधै ।
"सूरदास" मनि-स्याँम छाँड़िकैं, घुँघुचि-गाँठि कों बाँधै ॥"

कृष्णगढ़के महाराज "नागरीदासजी" कहते हैं—

ऊधौ, मुखहिं आवति गारि ।
कहा करौं नँद-नंद की करि काँनि देति हों टारि ॥
वह मनोहर-माधुरी लखि, मंद-मृद-मुसिकात ।
तुम्हें फिर सुधि रही कैसें, निपट निरगुन बात ॥
जानियतु हैं यह तिहारे, कहन ही के बैंन ।
कलप बीतें पल-परन में, होत तहँ क्यों चैंन ॥
नवल-नागर रूप-निधि में, ह्वै रह्यौ जो लींन ।
मरुस्थल में डारिऐ क्यों, कहे तें मन-मींन ॥"

पुनः—

"ऊधौ, तुम न जाँनत प्रेम ।
वसौ मथुरा-राजधाँनी, तहाँ व्यापक नेंम ॥
कथा-निरगुन-ग्याँन-सूकौ, राज-नीति प्रबंध ।
प्रीति-नेंननि, रूप-रीझनि, कहा जाँनें अंध ॥
इहाँ ब्रज में वृथाँ कीजै, जोग-नीरस-पाठ ।
छाँड़ि 'नटनागर'-मधुर-फल, कौंन चाबै काठ ॥"

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

"ऊधौ, कह्यौ तिहारोई कीबौ।
नीकें जिय की जानि अपनपौ, समुझि सिखावन दीबौ॥
स्याम-बियोगी ब्रज के लोगनु, जोग-जोग जो जानौं।
तौ संकोच परिहरि पॉ-लागौं, परमारथ हि बखानौं॥
गोपी, ग्वाल, गाय, गो-सुत सब, रहत रूप अनुरागे।
दीन-मलीन-छीन-तन डोलतु, मीन-मज्ञा सौं लागे॥
"तुलसी" है सनेह दुखदायक, जानति नहिं ऐसौ कोहै।
तऊ न होत कॉन्ह कौ सौं मन, सबै साहिबहिं सोहै॥"

आलम कवि कहते हैं—

"बूझि कैं अबूझ होत ऊधौ, ऐसी बूझिए रे,
जो पै ऐसी बूझ तौ अबूझ किन बूझै जू।
झखत, झुरत झखकेतुऊ खिझावै झुकि—
तुम झुकवत झूँठौ जूझ कौन जूझै जू॥
राजिव-नयन मेरे "आलम" रहे कै ध्यॉन,
रीझि की रहनि मैं अबूझ कहा सूझै जू।
प्रघट जुगति जाहि जीजियतु ऐसी सुनि—
भोगकी भुगत पाएँ जोग काहि सूझै जू॥"

शेख कहती हैं—

"जब सुधि आवै तब तन बिनु-सुधि होत,
बन-सुधि आँऐं मन होत पात-पात है।
"सेख" कहै सरद-महेट के वे गीत सुनि,
बॉसुरी की धुनि टसाल गात-गात है॥
तुम कह्यौ मानौं उपदेस हम नाही कह्यौ—
जैसी एकु नॉही तैसी नॉहीं सॉझ-सात है।
प्रेम सौं बिरूधौ जिनि हा-हा हियौ रूधौ जिनि,
ऊधौ, लाख-बातनि की सूधी एक-बात है॥'

क्योंकि—

"धिक काँन जो दूसरी बात सुनें, यहाँ एकु ही रंग रह्यौ मिलि डोरौ ।
दूसरौ-नाम कुजात कढ़ै, रसना जो कहै तौ हलाहल-बोरौ ॥
"ठाकुर" यों कहती ब्रज-बाल, सु ह्याँ बनिताँन कौ सुभाव है भोरौ ।
ऊधौ जू, वे अँखियाँ जरि जाउ, जो साँवरौ छाँड़ि निहारतीं गोरौ ॥

—ठाकुर-शतक

अथवा—

"पारसै-परसि लोह सोहति है हेंम होइ-
ते न फिरि चुंबक सों जाइ लपटावहीं ।
जाकी मन.बींन सुर-लींन है प्रबींन भयौ,
सो न सुनि कींगरी की धुनि हरखावहीं ॥
सुधा-सिंधु-रासि जासु, छुधा-तृषा भागि गई
सौ तौ मृग-वारि लागि नहीं मुधा धावहीं ।
स्याँमकी सँजोगी हम गोरस की भोगी ऊधौ,
कैसें,बनें जोगी जोग-माँहि मन लावहीं ॥"

"स्याँम के पठाए आए सखा हैं सुहाए ऊधौ,
लागे मन तोलन तौ आछी विधि तोलिए ।
प्रेम-धारमें ठिकान ग्याँन कौ न हैं सुजाँन
लैहै कोऊ जती बरानसी बीच डोलिऐ ॥
जानें हम कहा भोरी बसी हैं बियोग-टोली,
सीखौ तुम जोग ऐसी बोली मति बोलिऐ ।
होहु जनि दाहक, सिखावौ जोग चाँहक कों,
गाहक के बिनाँ नग नाँहक न खोलिऐ ॥

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

ऐहि उर हरि-रस पूरि गयौ ।
तन मैं, मन मैं, जिय मैं सब ठाँ, कृष्ण-हिं-कृष्ण भयो ॥

भरयौ सकल तन-मन तौहूँ नहिं, मान्यौ उमड़ि बह्यौ।
नैननि सों, बैननि सों रोक्यौ, नाहिंन परत रह्यौ॥
लघु-घट ता मे रूप-समुद्र रह्यौ, क्यों न उमँगि निकरै।
ता पै लाए ग्याँन कहौ तेहि जिय कित ल्याइ धरै॥
कौन कहै रखिबे की उलटौ बहि जैहै या धार।
"हरीचंद" मधुपुरी जाहु तुम, ह्याँ नहि पैहौ पार॥

रत्नाकरजी कहते हैं—

"चुप रहौ ऊधौ, सूधौ-पथ-मथुरा कौ गहौ,
　　कहौ ना कहाँनी जो विविध कहि आए हौ।
कहै "रतनाकर" न बूझिहैं बुझाएँ हम,
　　करत उपाइ वृथाँ भारी भरमाए हौ॥
सरल-सुभाँव-मृदु जाँनि परौ ऊपर तैं,
　　पर उर घाइ करि लौंन सौ लगाए हौ।
रावरी-सुधाई मैं भरी है कुटिलाई कूटि-
　　बात की मिठाई मैं लुनाई लाइ ल्याए हौ॥

क्योंकि—

वे तौ बस बसन रँगावै मन रंगत ए-
　　भसम-रमावैं वे, ए आपु ही भसम हैं।
साँस-साँस माँहि बहु बासर बितावैं वे,
　　इनकै प्रत्नेक साँस जात ज्यौं जनम हैं॥
ह्वै कें जग-भुक्ति सौं बिरक्त मुक्ति चाँहत वे,
　　जानत ए भुक्ति-मुक्ति दोऊ बिष-सम हैं।
करिकें बिचार ऊधौ सूधौ मन-माँहि लखौ,
　　जोगी सौं बियोग-भोग-भोगी कहा कम हैं॥"

अस्तु—

"जोग को रमावै औ समाधि को जगावै इहाँ,
दुख-सुख साधनि सौं निपट निबेरी हैं।
कहै "रतनाकर" न जानैं क्यों इतै धौं आइ,
साँसनि की सासना की बासना-बिखेरी हैं॥
हम जमराजा की धरावति जमा न कछू,
सुर-पति-संपति की चाँहनि न हेरी हैं।
चेरी हैं न ऊधौ, काहू ब्रह्म के बबा की हम-
सूधें कहैं देति एकु कान्ह की कमेरी हैं॥

अरे बावले, हम—

"सरग न चाहैं, अपवरग हू न चाहैं सुनि,
भुक्ति-मुक्ति दोऊ सौं बिरक्ति उर आनैं हम।
कहै "रतनाकर" तिहारे जोग-रोग माँहि,
तन, मन, साँसनि की साँसति प्रमानैं हम॥
एकु ब्रजचंद-कृपा-भरे मुसकानि ही मैं,
लोक-परलोक को अनंद जिय जानैं हम।
जाके या बियोग-दुख हू मैं कछु ऐसौ सुख
जाहि पाइ ब्रह्म-सुख हू मैं दुख मानैं हम॥

अथवा—

ऊधौ, यह ग्यान कौ बखान सब बादि हमैं—
सूधौ-बादि छाँड़ि बकबादिहिं बढ़ावै कौन।
कहै "रतनाकर" बिलाइ ब्रह्म-काइ माँहि,
आपुने सौं आपुनौ कै आपुनो नसावै कौन॥
काहू तौ जनम मैं मिलैंगी स्यामसुंदर कौं,
याहू आस प्राँना जाँम साँस मैं उड़ावै कौन।
परि कैं तिहारी जोति-ज्वाला की जगाजग मैं,
फेरि जग जाइबे की जुगति जरावै कौन॥

क्योंकि—

वाही मुख-मंजुल की चहति मरीचैं सदाँ,
हम कौं तिहारी ब्रह्म-जोति करिबौ कहा।
कहै "रतनाकर" सुधाकर-उपासिनि कौं
भाँनु की प्रभानिकौ जुहारि,करिबौ कहा॥
भोगि रहीं बिरचे बिरंच के सँजोग सबै
ताके सोग सारन कौं जोग चरिबौ कहा।
जब ब्रज-चंद कौ चकोर-चित, चारु भयौ,
बिरह-चिगारिनि सौं फेरि डरिबौ कहा॥"

उद्धव-वचन

(१३)

ईस—शुद्ध ईश, अर्थात् प्रभु, स्वामी, महादेव, ऐश्वर्यशाली—आदि-आदि।

"शम्भु"ईशः" पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः।"

ईश—शब्दके और भी अर्थ होते हैं जैसे—"ग्यारहकी संख्या, आर्द्रा-नक्षत्र, राजा, एक उपनिषद, ईशान-कोण" पर यहाँ उक्त-शब्द "शिव"के अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि इसका सम्बन्ध "धूलि" शब्दसे जुड़ा हुआ है।

धूरि-छेत्र—शुद्ध धूलि-क्षेत्र, अर्थात् पृथ्वी, जमीन, धरती। अथवा धूरि-छेत्र "मथुरा" का भी नाम है यथा—

"धूरि-छेत्र" मथुरा-पुरी, बसैं जहाँ भगवान।" —हरलाल

करम—शुद्ध कर्म, अर्थात् जो किया जाय, अथवा जो करना हो।

"कर्म" क्रिया—तत्स्थानत्ये ....।

अमरकोश ३ । ३ । १

वैशेषिकके अनुसार "कर्म" उन छै—पदार्थोंमेंसे एक है जो कि एक-द्रव्यमें हो, गुण न हो और संयोग तथा विभागमें अनपेक्षता-का कारण हो। कर्म पाँच-प्रकारके माने जाते हैं जैसे—"उत्क्षेपण अर्थात् ऊपर फेंकना, अवक्षेपण—नीचे फेंकना, आकुञ्चन—सिकोड़ना, प्रसारण—फैलाना और गमन, अर्थात् जाना। मीमांसक कर्मको दो प्रकारका मानते हैं जैसे—"गुण वा गौड़—कर्म और प्रधान वा अर्थ कर्म। गुण-कर्म वह है जिससे द्रव्यादिकी प्राप्ति हो—संस्कार हो और प्रधान वा अर्थ-कर्म वह कहलाता है जिससे द्रव्यकी उत्पत्ति वा शुद्धि न हो अपितु उसका उपयोग हो। उक्त प्रधान वा अर्थ-कर्मके मीमांसक इसे ही प्रधान, अर्थात् "प्रधान"को ही प्रधान मानकर "नित्य, नैमित्तिक और काम्य" रूपसे तीन भेद मानते हैं। नित्य कर्म वह जिसके न करनेसे पाप हो, अर्थात् जिसका करना परम कर्तव्य हो और नैमित्तिक कर्म उसे कहते हैं जो कि किसी विशेष अवसरपर किया जाय। इसी प्रकार जो कर्म किसी फल-विशेषकी कामनासे किया जाय वह "काम्य"—कर्म कहलाता है। योग-सूत्र-की वृत्तिमें भी भोजने कर्मके—"विहित, निषिद्ध और मिश्र" नामसे तीन ही भेद मानते हुए जाति, आयु और भोगको कर्मके विपाक-फल कहा है। जन्मके भेदसे भी कर्मके 'संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण और "भावी" चार-भेद कहे हैं। जैन-दर्शनके अनुसार कर्म—पुद्गल और जीवके अनादि सम्बन्धसे उत्पन्न माना जाता है, वह इसीसे जैन इसे, अर्थात् कर्मको "पौदगलिक" कहते हैं। कर्मके—घाति और अघाति दो भेद और भी कहे जाते हैं। घाति, अर्थात् मुक्तिका बाधक और "अघाति" मुक्तिका अबाधक माना जाता है। आदि-आदि……।

हरि-पद—हरिका पद, अर्थात् मुक्ति। *लोक-चतुरदस*—शुद्ध चतुर्दश-लोक, अर्थात् चौदह-लोक। चौदह-भुवन, विश्व-विभाग।

"...... "लोक"स्तु भुवने जने।"—अमरकोश ३। ४। २

अथवा—

"...... "लोको", विष्टपं भुवनं जगत्।"

—अमरकोश २। १। ६

यों तो उपनिषदोंमें—"इह-लोक और पर-लोकरूप दो ही लोक माने हैं, पर निरुक्ति-शास्त्रमें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक नामसे तीन-लोकोंका उल्लेख किया गया है। जिनका दूसरा नाम भूः, भुवः और स्वः है और ये ही महाव्याहृति कहलाते हैं। इन तीन, अर्थात् भूः भुवः और स्वः स्वरूप महाव्याहृतियोंकी भाँति और भी चार-महाव्याहृतियाँ कहलाती हैं जैसे—"महः, जनः, तपः और सत्यं—आदि। अस्तु, इन सप्त-व्याहृतियोंके नामसे ही सात-लोकोंकी कल्पना पुराण-कालमें की गयी है, यथा—भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनर्लोक, तपः लोक और सत्य-लोक आदि"। इनके बाद फिर पातालके अंतर्गत सात लोकोंकी और भी सृष्टि हुई, जैसे—अतल, नितल, वितल, गभस्तिमान, तल, सुतल और पाताल आदि। परंतु पुराणोंमें इन नामोंके प्रति विभेद भी मिलता है, जैसे—पद्म-पुराणानुसार—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। अग्नि-पुराणके अनुसार—अतल, वितल, सुतल, गभस्तिमान, महातल, रसातल और पाताल। विष्णु-पुराणानुसार—अतल, वितल, नितल, गभस्तिमान, महातल, सुतल और पाताल।

"अतलं वितलं चैवं तितलं च गभस्तिमत्।
महाख्यं सुतलं चाख्यं पातालं चापि सप्तमम्॥"

(विष्णुपुराण २।५।२)

सात-दीप—शुद्ध सप्त-द्वीप, अर्थात् स्थलके वह सात-विभाग जो चारों ओर जलसे घिरे हों, जल मध्यस्थ पृथ्वीके—जमीनके सात खण्ड—विभाग।

"द्वीपो"ऽस्त्रियामन्तरीयं यदन्तर्वारिणस्तटम्।"

—अमरकोश १।१०।८

पुराणानुसार सात द्वीपोंके नाम इस प्रकार हैं यथा—जम्बूद्वीप, कुशद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलीद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाकद्वीप और पुष्करद्वीप।

"'"जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञास्तेषां"॥"

—श्रीमद्भागवत ५।२।१२

और इनकी कथा पुराणोंमें इस प्रकार कही जाती है कि एक बार महाराज प्रियव्रतने यह सोचा सूर्य पृथ्वीके एक ओर ही मेला करता है, अतः आपने एक चमचमाती हुई गाड़ीपर बैठकर त बार पृथ्वी-प्रदक्षिणा की। गाड़ीके पहियोंके धँसनेके कारण ीपर सात वर्तुलकार गड्ढे पड़ गये जो कि समुद्र बन गये। सातों समुद्रोंसे परिवेष्टित होनेके कारण इन सात द्वीपोंकी सृष्टि हुई—आदि-आदि.................।

'यावदवभासयति सुरगिरिमनुपरिक्रामन्भगवानादित्यो वसुधातलमर्धेनैव प्रतपत्यर्धेनावच्छादयति तदा हि भगवदुपासनोपचितातिपुरुषप्रभावस्तदनभिनन्दन्समजवेन रथेन ज्योतिर्मयेन रजनीमपि दिनं करिष्यामीति सप्तकृत्वस्तरणिमनुपर्यक्रामद् द्वितीय

इव पतङ्गः । ये वा उ ह तद्रथचरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त-सिन्धव आसन् यत एव कृताः सप्त भुवो 'द्वीपाः ।'

श्रीमद्भागवत ५ । १ । ३०, ३१

नौ-खड—शुद्ध नव-खड, अर्थात् पृथ्वी नौ भाग, खड, टुकडे ।

'भित्तं शकल—'खण्डे' वा .... ।

अमरकोश १ । ३ । १७

उक्त नौ खडोके नाम इस प्रकार हैं—'भरत, इलावर्त, किंपुरुष, भद्र, केतुमाल, हिरण्य, हरि, रम्य और केतुमाल ।

ईस, धूरि-छेत्र, करम, हरि-पद, लोक-चतुरदस, सात द्वीप और नौ-खंड—आदि शब्दोंके सरस प्रयोग, यथा—

'जुग-जुग जियौ 'गोकुल के 'ईस' ।'—गोविन्द स्वामी
'प्रघट भए 'धूरि-छेत्र मैं आई ।'—भगवानहित
''करम' गति टारी नाहि टरै ।'—सूरदास
'हरि-पद' जतन किएँ ही पावौं ।'—आसकरन
'लोक—चतुरदस' ताहि रटैं, वे ठाकुर केसवदेव हमारे ।'

—हनु-कवि

'सबै हमारो राज है हो 'सात-द्वीप' 'नौ खंड ।''

—कुंभनदास

नन्ददासजीकी इस उक्तिपर बुल्ला-शाहकी एक बानी याद आ गयी है, जैसे—

'माँटी, खुदी करें दो यार ।
माँटी जोड़ा, माँटी घोड़ा, माँटी दा असवार ॥
माँटी, माँटी-मारन लागी, माँटी दे हथियार ।
जिस माँटी पर बहुता माँटी, तिस माँटी हंकार ॥

माँटी बाग, बगीचा माँटी, माँटी दी गुलजार।
माँटी, माँटी-देखण आई, माँटी दी बहार॥
हँस-खेले फिर माँटी हां दी, पौंदी पाँव-पसार।
'बुल्लासाह' बुझावे बुज्झी, लाह सिरों भौं-भार॥'

अथवा—

'इक-दिन मानता वे राजा, एक-दिन माँटी में मिल जाना।
माँटी उढ़ैना, माँटी-बिछौना माँटी ही कफन बनाना॥
माँटी भाई, माँटी माई, माँटी जगत-लुभाना।
इक दिन सुदरता सग माँटी, माँटी पै बौराना॥

—कोई कवि

गोपी-वचन

(१४)

करँम-धूरि—शुद्ध कर्म-धूलि, अर्थात् कर्म-कांड, यज्ञादि वगैरह। आँनि—लेकर। प्रेम-अमृत—प्रेमरूपी अमृत। उर—हृदय, छाती, हिय, वक्षःस्थल-आदि।

'उरो'—वत्सञ्च वक्षश्च ....।'

—अमरकोश २। ६। २९

जीव—शुद्ध जीव, अर्थात् प्राणी, प्राणधारी, चेतन, जानदार।

..............."जीवो"ऽसुधारणम्।"

—अमरकोश २।८।८८

विमुख—विमुख, अर्थात् पराङ्मुख, मुख फेर लेना, विरोधी हो जाना। उदासीन, विरक्त, विरत, अतत्पर आदि।

करम-धूरि, आँनि,* प्रेम-अमृत, उर, जीव और बिमुख शब्दोंके सुन्दर प्रयोग।

"करम-धूरि" मिलि को सुख पायौ।"

—लालदास

बिषकौं "आँनि" कहा रस मेलति।

—ललित माधुरी प्रा०

धीर, सुख "प्रेम-अमृत" सौं चूभत।"

—जानकीदास

जिनि गुपाल किए बस अपने, "उर" धरि स्याम-भुजा।"

—परमानंददास

"जीव" वृथाँ कत भटकत डोलै।"

—ज्ञानदास

तू कत "बिमुख" होति प्यारे सौं·········।"

—मुरारीदास

उद्धव-बचन

१५

निंदौ—बुरा, दूषित, अयश, कुत्सा, गर्हा, अपवाद, दुर्नाम, निंदहुसे बना है—निंदौ।

·················"कुत्सा "निंदा" च गर्हणे।"

सदगति—अच्छी, सुन्दर गति, उत्तम गति, मरण-उपरान्त उत्तम लोककी प्राप्ति। बली—बलवान्, समर्थ, पराक्रमी। त्रिभुवन—

* आँनि शब्दके दो अर्थ और होते हैं—और तथा आना। जैसे—

कहति "आँनि-की-आँनि।" —हरिरायजी

"आँनि" हैं कालि, बहुर पिय-प्यारी।"

—कृष्णदास

तीन-भुवन, अर्थात् स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल। उतपत्ति—शुद्ध उत्पत्ति, अर्थात् पैदा होना, जन्म लेना। नास—शुद्ध, नाश अर्थात् क्षय, ध्वंस, लय, अदर्शन, पलायमान, गायब होना आदि।

अन्तो, "नाशो" द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनो स्त्रियाम्।"

—अमरकोश २।८।८५

सांख्यवाले कहते हैं कि कारणमें लय होना ही नाश है, क्योंकि जो वस्तु है उसका अभाव नहीं हो सकता। कारणमें लय हो जानेसे सूक्ष्मताके कारण वस्तुका बोध नहीं होता, अस्तु जब कोई कार्य कारणमें इस प्रकार लीन हो जाता है कि वह फिर कार्यरूपमें न आ सके तब नाश वा आत्यन्तिक नाश कहलाता है। नैयायिक नाशको ध्वंसाभाव मानते हैं।

मुक्ति—आवागमनसे पृथक्, पुनः जन्म न लेना, अथवा दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति और परम-नित्य सुखकी प्राप्ति। कैवल्य, निर्वाण, श्रेय, मोक्ष, अपवर्ग और परित्राण आदि।

"मुक्तिः" कैवल्यनिर्वाणश्रेयो निःश्रेयसाऽमृतम्।"

—अमरकोश १।५।१५

मुक्ति, "·······सालोक्यादिचतुष्टयम्" के अनुसार सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य" चार प्रकारकी कही जाती है, पर श्रीमद्भागवत पाँच प्रकारकी "मुक्ति" का भी उल्लेख करता है। जैसे—

"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत":
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।

—श्रीमद्भागवत ३।२९।१३

अर्थात् सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व यानी सायुज्य", लेकिन मुख्य चार ही हैं। सालोक्य-मुक्ति उसे कहते हैं—जब जीव अपने आराध्यदेवके साथ एक-लोकमें—एक जगह वास करे। सामीप्य-मुक्ति, जीवका भगवान्‌के समीप—पास पहुँचनेको कहते हैं और सारूप्य—मुक्ति उसे कहते हैं जब कि उपासक अपने उपास्यके रूप-जैसा हो जाय, अर्थात् समान रूप हो जाय—एकरूपता ग्रहण कर ले तथा सायुज्य-मुक्ति वह कि उपासक उपास्यमें मिल जाय, एकरूप हो जाय, अर्थात् वह वही हो जाय।

मुक्तिके विषयमें पुराण और साम्प्रदायिक—आचार्योंमें बड़ा विभेद है, कोई चार प्रकारकी मुक्ति मानते हैं तो कोई पाँच प्रकारकी। श्रीमद्भागवतमें भी चार प्रकारकी और पाँच प्रकारकी मुक्तिका उल्लेख मिलता है, जैसा उद्धृत किया जा चुका है। "ब्रह्मवैवर्त" दो प्रकारकी ही मुक्तिका उल्लेख करता है। यथा—

"मुक्तिस्तु" द्विविधा" साध्वि ! श्रुत्युक्ता सर्वसम्मता।
निर्वाणपददात्री च हरिभक्तिपदानृणाम् ॥"

—प्रकृति-खण्ड

नामोल्लेखमें भी मतभेद है। कोई तो सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व, अर्थात् सायुज्यको पाँच प्रकारकी मुक्ति मानते हैं और कोई "सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सायुज्य (एकत्व) और निर्वाण"—आदि पाँच प्रकारकी मुक्ति मानकर श्रीमद्भागवतके उक्त श्लोकका ही पाठ बदल देते हैं। जैसे—

"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।"

पाठान्तर—

सार्ष्टिसारूप्यसालोक्यनिर्वाणैकत्वमप्युत ।

चार प्रकारकी मुक्ति माननेवालोंमें भी मतभेद है। कोई "सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य आदिको—

..........सालोक्यादिचतुष्टयम् ।"

—श्रीमद्भागवत ९ । ४ । ६७

मुक्ति-चतुष्टय मानता है, तो कोई सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सायुज्यरूप मुक्ति-चतुष्टयको मानता है । इसी प्रकार मुक्तिकी व्युत्पत्तिमें भी मतभेद देखनेको मिलता है । वेदान्तिक कहते हैं—

"नित्यसुखावाप्तिः "मुक्तिः ।"

अर्थात् नित्य-सुखकी प्राप्ति ही मुक्ति है। नैयायिक कहते हैं—

आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिः "मुक्तिः" ।"

अर्थात्—अत्यन्त दुःख-निवृत्ति ही मुक्ति है । भरत-मुनि कहते हैं—

शरीरेन्द्रियाभ्यात्मात्मनो मुक्तत्वं "मुक्तिः ।"

परब्रह्म-पुर-वास—परब्रह्मके पुर—नगर, गाँवका बास, अर्थात् रहना । स्थान, वास-स्थान—रहनेका स्थान ।

परब्रह्म—जगत्से परे, अर्थात् निर्गुण निरुपाधि ब्रह्म ।

पुर—

पुरोधिकमुपर्य्यऽग्राण्य अगरे नगरे "पुरम्" ।"

—अमरकोश ३ । ४ । १८५

निंदौ, सदगति, बली, त्रिभुवन, उतपत्ति, नास, मुक्ति, परब्रह्म, पुर और बासके सरस प्रयोग।

"निंदौ" का सुरपति की पूजा।

—परमानन्ददास

"सद्गति" होति चरन-चित लाएँ।

—गुपालदास

"बली" जु ऐसे होहु, जाइ मारौ किनि कंसहिं।

—कुम्भनदास

"त्रिभुवन"—सोभा लूटि मनों राधिका बनाई।

—ग्वालदास

लै "उतपति" कौ कारन वही।"

—सूरदास

"भक्ति-बिपति कौं "नास" करन मैं तनक बार नहिं लावत।"

—जानकीदास

"सबैं बैकुंठ "मुक्ति" मोच्छ पाए।" —नानक

"सो "परब्रह्म" प्रगट ह्वै ब्रज मै लूटि-लूटि दधि खायौ है।"

—परमानन्ददास

"अब कहौ कैसें या "पुर" बसिए।" —श्यामदास

"महरि, हम छाँड्यौ हो यह "बास"।"

—नागरीदास प्राचीन

कुछ ऐसी ही कर्मकी महत्ता, श्रुतियाँ भी प्रतिपादित करती हैं, यथा—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।"

—ईशोपनिषद् २

"तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ—
यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः।"
—बृहदारण्यकोपनिषद् ३। २। १३

"योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥"
—कठोपनिषद् ५। ७

श्रीमद्भगवद्गीता भी यही कहती है—

"नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥"
"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥"

अथवा—

"नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥"
"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥ ९॥"
—श्रीमद्भगवद्गीता ३। ५ से ९

और भी—

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥"
"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥"
—श्रीमद्भगवद्गीता १८। ४५-४६

श्रीमद्भागवत कहती है—

"कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वातदर्पणम् ।"

—अध्याय ३ । १०

श्रीविष्णुपुराणमें कहते हैं—

"कर्मणा जायते सर्वं कर्मैव गतिसाधनम् ।"

—प्रथम अंश १२

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

"करम प्रधान बिस्व रचि राखा । को करि तर्क बढ़ावहिं साखा ॥"

—रामचरितमानस

गोपी-वचन

(१६)

पाप—वह कर्म, जिसका लोक-परलोकमें अशुभ फल हो । वह आचरण, जिसके करनेसे अदृष्टमें अशुभता उत्पन्न करे । वह कर्म, जो कर्ताका अधःपात करे अथवा ऐसा कार्य जिसका परिणाम कर्ताको दुःखप्रद हो । व्यक्ति और समाजके लिये अहितकर आचरण । धर्म और नीति-शास्त्रोंसे निंदित आचरण । अनाचार, गुनाह, निंदित काम, अकल्याणकर कर्म, अधर्म, कलुष, कल्मष, अघ—आदि ।

"अस्त्रीपङ्कं पुमान्पाप्मा "पापं" किल्बिषकल्मषम् ।"

—अमरकोश १ । ५ । ६

श्रीव्यास-वचनानुसार "पाप" और "पुण्य" की एक व्याख्या, और भी है । जैसे—

"परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम् ।"

श्रीमद्भगवद्गीता कहती है—

"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥"

पुन—शुद्ध पुण्य, अर्थात् वह कर्म जिसका फल शुभ हो। पवित्र कार्य, शुभ-कार्य, धर्म और नीतिविहित कार्य—काम। भले काम, शुभ-अदृष्ट, सुकृत-आदि।

"स्याद्धर्ममस्त्रियां "पुण्य" श्रेयसी सुकृतं वृषः।"
—अमरकोश १।५।२

सरग—शुद्ध स्वर्ग, अर्थात् देवताओंका लोक-निवासस्थान। अन्तरिक्ष।

"स्वरव्ययं "स्वर्ग" नाकत्रिदिवत्रिदशालयाः।"

भोग—सुख और दुःखोंका अनुभव। इन्द्रियजन्य विषयोंको भोगना। कर्मानुसार फलोंको पाना। दुःख-सुख सहना आदि।

"भोगः" सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः।"
—अमरकोश ३।४।२४

अथवा—

"पालनेऽभ्यवहारे च निर्वेशे पण्ययोषिताम् ॥'
—विश्व-कोश

बिषै-बासना—शुद्ध विषय-वासना, अर्थात् विषयोंकी वासना। विषय—इन्द्रियार्थ वस्तु, पदार्थ, भोग-विलासादिक।

"रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च "विषया"*—अमी।"
—अमरकोश १।५।१६

* यहाँ "विषया" बहुवचनात्मक है। एक वचन "विषय" ही होगा।

बासना—इच्छा, कामना, वाञ्छा, चाह, प्रत्याशा। अथवा किसी पूर्व स्थितिके जमे हुए प्रभावसे उत्पन्न मानसिक दशाविशेष। भावना, सस्कार, स्मृत हेतु। न्यायानुसार देहात्मबुद्धिजन्य मिथ्या सस्कार।

रोग—व्याधि, पीड़ा, दुःख, शारीरक अस्वस्थता। अथवा वह अवस्था जिससे शरीर भले प्रकार न चल सके और बढ़नेपर जीनेमें संदेह हो। बीमारी, मर्ज आदि।

"…………"रोग"—व्याधिगदामयाः"

पाप, पुन्न, सरग, भोग, बिषै-बासना और रोगादि शब्दोंके सरस प्रयोग।

"पाप" करति ही जनम गँवायौ, भज्यौ न नेंकु जगदीस।"

—रामदास

"उदयौ "पुन्न" कौ पुंज साँवरौ, सकल सिद्धि दातार।"

—चतुर्भुजदास

"मारयौ भूमि पछोरि स्याँम नें, ततछिन "सरग" गयौ।"

—सूरदास

"करम-अकरम करि-करि या जगमें, भोगत है नितै "भोग।"

—जानकीदास

"बिषै"-रस अबहूँ सुख ना मोरत।"

—जनत्रिलोक

"बासना" अबहूँ नाहिं बुझानी।"

—गदाधरभट्ट

"आजु उर उपज्यौ हो, नयौ "रोग"।"

— ….

"करँम पाप औ पुन्न, लोह-सोने की बेरी", अर्थात् कर्म रूप पाप और पुण्य, लोहे व सोनेकी बेड़ियाँ हैं। अच्छे वा बुरे दोनों प्रकारके ही कर्म, जीवात्माको बाँधनेवाली लोह और स्वर्ण जैसी बेड़ियाँ है। अस्तु: उक्त बेड़ियोंसे, अथवा कर्मरूप बंधनोंसे, जीवात्मा तब ही मुक्त होता है जब कि वह कर्मकाण्डका परित्यागकर, परमात्माको सच्चे प्रेमसे आराधना करने लगे। कर्म-अकर्मकी चिन्ता न कर, सच्चे दिलसे उसके ध्यानमें लग जाय। क्योंकि कर्म, स्वर्ग-नर्क, भोग-रोगके साधन हैं, भगवत्प्राप्तिके नहीं। जैसा कि श्रुतियाँ कहती हैं, यथा—

"एष ह्येवैनं साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधोनिनीषते।"

—कौशितक्योपनिषद् ३। ९

"……… । यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन। अथ खल्वाहुः काममयम् एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।"

—बृहदारण्योपनिषद् ४। ४। ५

गीतामें यही कर्मकी व्यवस्था, श्रीभगवान् भी अर्जुनके प्रति करते हुए कहते हैं:—

"युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥"

—गीता ५।

"सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥"
"तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥",
"तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥"
"प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥"
—गीता ३। २५, १९, २८, २९

"कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥"
"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥"
"त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥"
"निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥"
"यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते ॥"
—गीता ४। १७ १८, २०, २१, २

कुछ ऐसी ही बात श्रीमद्भागवतमें राजा-निमिके प्रति 'अन्तरिक्ष' द्वारा भी कहलायी गयी है, जैसे—

---

* हमने गीताकी इन उक्त सूक्तियोंको क्रम-विपर्ययके साथ उद्धृत किया है। लेकिन लाला कन्नोमलकृत "गीतादर्शन" के अनुसार उक्त सूक्तियोंका अर्थ-क्रम ठीक है।

"कर्माणि कर्मभिः कुर्वन्सनिमित्तानि देहभृत् ।
तत्तत्कर्मफलं गृह्णन्भ्रमतीह सुखेतरम् ॥
इत्थं कर्मगतीर्गच्छन्बह्वभद्रवहाः पुमान् ।
आभूतसम्प्लवात्सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ॥
—श्रीमद्भागवत ११ । ३ । ६, ७

"एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।
स तुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥"
—श्रीमद्भागवत ११ । ३ । २०

"कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन्देहेन तैः पुनः ।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥"
गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥
—श्रीमद्भागवत ११ । १० । २९, ३१

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

"सुभ अरु असुभ करम अनुहारी ।
ईस देइ फल हृदैं बिचारी ॥
काहु न कोउ सुख दुखकर दाता ।
निज कृत करम भोग सब भ्राता ॥
—रामचरितमानस, अयोध्या०

दादू-दयालजी कहते हैं—

"राहु-मिलै ज्यों चंद कौं, गहन मिलै ज्यों सूर ।
करम मिलै यों जीव कौं, नख-सिख लागै पूर ॥
करम-कुहाड़ा अंग-बन, काटत बारंबार,
अपने हाथों आपको काटत है संसार ॥"

जगजीवन साहब फर्माते हैं—

"कोउ बिनु भजन तरिहैं नाँहिं।
करैं आइ अचार केतौ, प्रात नित अन्हवाँहिं॥
दान-पुन्नि करि तपस्या, बरत बहुत रहाँहिं।
त्यागि चलौ, बैठि बन महँ, कंद-मूरहिं खाँहिं॥
पाठ करि, पढ़ि बहुत बिद्या, रैन-दिनहिं बकाँहिं।
गाइ बहुत बजाइ बाजा, मनहिं समुझति नाँहिं॥
करहिं स्वासा बंद कष्टित, भाँइकी गति आँहिं।
साधि पवन चढ़ाइ गगनहिं, कमल उलटैं नाँहिं॥
साध नहिं केहु कीन्हि ऐसैं, लीखि बहुत कहाँहिं।
प्रीति-रस मन नाँहिं उपजत, परे ते भव माँहिं॥
जस सँजोग-बियोग तैसैं तत अच्छर दुइ आँहिं।
रटत अंतर भेंटि गुरु तैं, मत्र अजपा माँहिं॥
कह्यौ प्रगट पुकारि जिहि के प्रीति अंतर आँहिं।
'जगजीवनदास' रीति अस तब चरन मँह मिलि जाँहिं॥"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कहते हैं—

"अहो, इन भूठेन मोहि भुलायौ।
कबहुँ जगत के कबहुँ सरग के, स्वाद न मुहिं ललचायौ॥
भलैं होइ किन लोह-हेमे की पुन्न-पाप दोउ बेरी।
लोभ मूल परमारथ-स्वारथ, नामहिं में कछु फेरी॥
इनमें भूलि कृपा-निधि तुमरौ चरन कमल बिसरायौ।
तेहि सौं भटकति फिरयौ जगत में, नाँहक जनम गँवायौ॥
हाइ-हाइ करि मोहि छाँडिकें कबहुँ न धीरज धारयौ।
या जग जगती जोर अगिनि में आयुस-दिन सब जारयौ॥
करौ कृपा करुना-निधि केसव, जग के जाल-छुड़ाई।
दीन-हीन "हरिचंद" दास कौं बेगि लेहु अपनाई॥

'उद्धव'-वचन

(१७)

पदमाँसन—पद्म—कमल-समान आसन। योगका आसन-विशेष जिसमें पाल्थी मारकर बैठा जाता है। अथवा—बाँई जाँघपर दाहिना पैर और दाँहिनी जाँघपर बाँयाँ पैर रखकर बाँये पैरका अँगूठा बाँये हाथसे और दाहिने पैरका अँगूठा दाहिने हाथसे पकड़कर नेत्र-द्वयको नाककी नोकपर रखनेसे—देखनेसे 'पद्मासन' होता है। कोई-कोई इसे 'बद्ध-पद्मासन' भी कहते हैं।

योगके चौरासी आसन कहे जाते हैं, जैसे—पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वीरासन, अर्द्धासन, बद्ध-पद्मासन, सिद्धासन, महामुद्रा पश्चिमोत्तानासन, मृतासन, गरुड़ासन, कमलासन, मयूरासन—आदि। पर अष्टाङ्गयोगमें मुख्यतया—'पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन, वीरासन आदि पाँच प्रकारके आसनोंका ही उल्लेख मिलता है।

इंद्री—वा इन्द्रिय, अर्थात् वे अवयव जिनके द्वारा विषयोंका ज्ञान हो। वह शक्तियाँ जिनसे वाहरी-विषयोंका बोध हो, अथवा भिन्न-भिन्न गुणोंके भिन्न-भिन्न रूपोंका अनुभव हो।

"हृषीकं विषयीन्द्रियम्।"

—अमरकोश १। ५। १०

सांख्यवालोंने कर्म करनेवाले अवयवोंको भी इन्द्रिय मानकर 'इन्द्रियों'के दो विभाग—'ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय'से किये हैं। ज्ञानेन्द्रिय—जिनसे केवल विषयोंके गुणोंका अनुभव हो, उन्हें कहते

हैं। जैसे—चक्षु, श्रोत्र, नासिका, रसना और त्वचा। कर्मेन्द्रिय उन्हें कहते हैं—जिनके द्वारा विविध कर्म किये जायँ और उनके नाम ये हैं—वाणी, हाथ, गुदा, पैर और उपस्थ। वेदान्तवाले इनके अतिरिक्त एक उभयात्मक अन्तरेन्द्रिय—मनको, मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्तरूप चार विभाग कर ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियमें जोड़ चौदह प्रकारकी मानते हैं।

"कर्मेन्द्रियं तु पाय्वादि मनोनेत्रादिधीन्द्रियम्।"

ब्रह्म-अगिन—शुद्ध ब्रह्म-अग्नि, अर्थात् ब्रह्मरूप अग्निमें जलाकर। ब्रह्म-अग्निमें कर्मोंको जलाकर।

श्रीनन्ददासजीने इस छन्दमें कर्मोंका हनन करनेके लिये—उनको त्यागनेके लिये ही अधिकरण बतलानेको ब्रह्मको अग्नि कहा है क्योंकि ब्रह्म-ज्ञानी, कर्मोंका ब्रह्ममें ही अधिकरण करनेसे तुष्टि लाभ करते हैं। जैसा श्रुतियाँ प्रतिपादन करती हैं, यथा—

"ब्रह्माग्नौ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।"

—तैत्तिरीयोपनिषद्

श्रीमद्भगवद्गीता कहती है—

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥"

अथवा—

"ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।"

(गीता ४। २४-२५)

समाधि—ध्यान-योगकी क्रियाविशेष। सबसे पहिले समाधिके मुख्यतया दो—सातिशय और निरतिशय भेद होते हैं। सातिशय-

समाधिमें ध्याता और ध्येयका बोध होता है और निरतिशय-समाधिमें वेदान्तियोंका अन्तिम अनुभव ही वर्तमान रह जाता है।

कहते हैं योगका चरम फल···समाधि है और यह आठ अंग---यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान-धारणा आदिमें मुख्यरूपसे अन्तिम अंग माना जाता है। समाधि-अवस्थामें साधक सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है, चित्तकी सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और बाह्य-जगत्से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उसे अनेक प्रकारकी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं और अन्तमें 'कैवल्य' भी। योगदर्शनमें 'समाधि' के कई भेद बतलाये हैं।

लीन---मिलना, समा जाना, डूबना, तन्मय, तत्पर--आदि।
साजुज्ज---शुद्ध सायुज्य अर्थात् एक प्रकारकी मुक्ति। जिसमें साधक वा भक्त साध्यमें---'ईश्वरमें मिल जाता है, एकत्वको प्राप्त हो जाता है, अभेदत्वको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् वह वही हो जाता है।

पदमाँसन, इंद्री, ब्रह्म-अगिन, समाधि, लीन और साजुज्जादि शब्दोंके सरस प्रयोग।

"ना हम "पदमाँसन" कों मारें, जोग-जुगत ना साधें।"

---रामदास

"इंद्री" अबहुँ न विषै तजत।" ---उद्धवदास

"ब्रह्म-अगिन" जरि मुक्ती पावौ।"

---गुपालदास

"सिद्ध-समाधि" स्वंत नहिं दरसी, मोंहनी मूरत प्यारी।"

---रामदास

मन अब ऐसौ "लीन" भयौ। ---मुरारीदास

"मानुज्ज-मुक्ती" कहौं बखान।
वेद-पुरान सबै परमान॥" —हरलाल

गीतामें भगवान् भी कुछ ऐसा ही कहते हैं—

"योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥"
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
—गीता २। ४८। ५०

क्योंकि—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥
—गीता ३। ९, २०

श्रीमद्भागवतमें भी यही कहा है—

"नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥
(एकादश ३। ४५-४६)

श्रीसूर कहते हैं—

गोपी पदमासन चित लावौ।
नैनि-मूँदि अंतर-गति ध्यावौ॥
हृदै-कँमल मध जोति प्रकासी।
सो अच्युत अबगति अबनासी॥
इहि उपाइ बिरहा-तन मेटौ।
"सूर" जोग जगदीसहिं भेंटौ॥

गोपी-वचन

१८

भक्त—सेवा करनेवाला, भजन करनेवाला, भक्ति करनेवाला। सेवक, तत्पर, अनुगत, उपासक। गीतानुसार भक्त, आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी आदि*। श्रीमद्भागवत-अनुसार भक्त नवधा-भक्तिः—

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥"

—के करनेसे नौ प्रकारका होता है। इसी तरह श्रीवल्लभाचार्यने भक्तोंको अन्यपूर्वा और अनन्यपूर्वा नामसे प्रथम दो भेदकर पुनः उसके सात्त्विक, राजस और तामसादि अठारह भेद मान और एक निर्गुण मिला, अठारह—नहीं उन्नीस भेद माने हैं। यथाः—

"राजसी तामसी चैव सात्त्विकी निर्गुणा तथा।
एवं चतुर्विधा गोप्यः पतिमत्योनिरूपिताः॥
तथैवानन्यपूर्वाश्च प्रार्थनामाहुरुत्तमाम्।
गुणातीताः सात्त्विकीश्च तामसी राजसीस्तथा॥
कृष्णभावनया सिद्धा विशेषेणाह ताः शुकः।

---

* सकाम-भक्तोंके आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चार भेद होते हैं, जैसा कि ऊपर उल्लेख हो चुका है। अस्तु, जो अपनेपर आये हुए संकटोंसे मुक्ति पानेके लिये अथवा विपरीत संयोगसे छूटनेके निमित्त जो भक्ति की जाती है वह आर्त-भक्त कहलाता है। जिज्ञासु-भक्त ईश्वरके प्रति प्रारम्भिक प्रेम न होनेपर भी उनके गुण और कार्य जाननेकी आतुरता दिखलाता है और जो किसी निश्चितकी इच्छासे ईशकी प्रार्थना करता है वह अर्थार्थी-भक्त कहलाता है।

अनन्यपूर्विका एव पुनस्तिस्रो मुदा जगुः ॥
सात्त्विकी तामसी चैव राजसी चेति विश्रुताः ।
सपूर्वश्च ततस्तिस्रः तामसी राजसी परा ॥
पुनस्ता एव त्रिविधा अटतीत्यादिभिस्त्रिभिः ।
राजसी तामसी चैव सात्त्विकीति विभेदतः ॥
अनन्यपूर्वा द्विविधा राजसी सात्त्विकी तथा ।
तमसा तामसी तत्र नास्तीत्येकोनविंशति ॥'

—सुबोधिनी टीका

श्रीमद्भागवतमें भक्तके उत्तम, मध्यम और अधम रूप तीन भेद और मिलते हैं तथा उनके लक्षण इस प्रकार हैं:—

उत्तम—

"सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥"

अथवा—

"गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन्स वै भागवतोत्तमः ॥"

अथवा—

"न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि संभवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥"

अथवा—

"देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥"

—एकादश २ । ४५, ४८,

मध्यम—

"ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥"

अधम—

"अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥"

—एकादश २। ४६, ४७

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी अर्जुन-प्रति भगवान् उत्तम भक्तकी व्याख्या करते हुए कहते हैं:—

"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

—गीता १२ वाँ अध्याय १३–२०

—और आप भक्तोंके लक्षण इस प्रकार कहते हुए उनकी यों प्रशंसा करते हैं:—

"कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥
आज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स सत्तमः ॥
ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥
श्रीमद्भा० ११ । ११ । २९,३०, ३१, ३२, ३३

अथवा—

"वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
—श्रीमद्भागवत ११ । १४ । २४

अब जरा भक्तोंपर ब्रज-भाषा कवि-कोविदोंकी सरस-सूक्तियाँ भी देख लीजिये । यथा—

"ऊधौ, ऐसौ "भक्त" मोहि भावै ।
सब तजि आस, निरंतर मेरे जनम, करम-गुन गावै ॥
कथनी कथै निरंतर मेरी, सेवा में चित लावै ।
मृदुल-हास, अँखियन-जल-धारा, करतल-ताल बजावै ॥

—और आप भक्तोंके लक्षण इस प्रकार कहते हुए उनकी यों प्रशंसा करते हैं:—

"कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥
आज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स सत्तमः ॥
ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥
श्रीमद्भा० ११ । ११ । २९, ३०, ३१, ३२, ३३

अथवा—

"वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
—श्रीमद्भागवत ११ । १४ । २४

अब जरा भक्तोंपर व्रज-भाषा कवि-कोविदोंकी सरस-सूक्तियाँ भी देख लीजिये । यथा—

"ऊधौ, ऐसौ "भक्त" मोहि भावै ।
सब तजि आस, निरंतर मेरे जनम, करम-गुन गावै ॥
कथनी कथै निरंतर मेरी, सेवा मैं चित लावै ।
मृदुल-हास, अँखियन-जल-धारा, करतल-ताल बजावै ॥

दाड़िम-दसँन दाँमिनि-दुति सोहै। मृदु-मुसिकाँन सु तन-मन-मोहै॥
चंद-झलक कंठा मनि-मोती। दूरि करत उडु-गन की जोती॥
कंकन, किंकिनि, पदक विराजै। गज-गति-चाल नूपुर-कल-बाजै॥
बन के धातु चित्र तन किएँ। श्रीबछ-चिन्ह, राजत अति हिएँ॥
पीत-बसन-छवि बरनि न जाई। नख-सिख सुंदर कुवँर-कन्हाई॥
रूप-रासि ग्वालन के संगी। कब देखौं वह ललित-त्रिभंगी॥
जो तू हित की बात बतावै। मदन-गुपालहिं क्यों न मिलावै॥

अथवा—

"नाहिंन रही मनमैं ठौर।
नंद-नंदन अछत कैसें, आँनिएँ उर और॥
चलत, चितवत, दिवस जागत, सुपन सोवत रात।
हृदे तें वह स्याँम-मूरति, छिन न इत-उत जात॥
स्याँम-गात, सरोज आँनन, ललित-गति मृदु-हास।
"सूर" ऐसे रूप कारँन, मरत लोचन प्यास॥"

दादूदयालजी कहते हैं—

"दादू" राता राम का, पीवै प्रेम अघाइ।
मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति बलाइ॥
"दादू" पाती प्रेम की, बिरला बाँचै कोइ।
वेद-पुराँन-पुस्तक पढ़ें, प्रेम बिना का होइ॥
प्रीति जो है मो पीव की, पैंठी पिंजर माँहिं।
रोंम-रोंम पिव-पिव करै, "दादू" दूसर नाँहिं॥"

सहजोबाई कहती हैं—

"जोगी पावै जोग सूं, ग्याँनी लहै विचार।
"सहजो" पावै भक्ति सूं, जोग-प्रेम आधार॥"

बॉबी—साँपके रहनेका स्थान, बिल, छिद्र ।

भक्त, नाग और बॉबी-शब्दके सरस प्रयोग ।

"हँम भक्तन के "भक्त" हमारे ।"

—सूरदास

"नाग" नाथ प्रभु बाहर ल्याए, फँन-फँन निरत करे ।"

—मीराबाई

मानों निकसि स्रोन-"बॉबी" तेँ नागिन करति किलोल ॥

—गंगाबाई

श्रीनन्ददासजीकी उक्त सरस-सूक्तिके साथ-साथ श्रीसूरकी भी इसी भावपर सुन्दर रचना देखने लायक है । जैसे—

अपने सगुन-गुपालै माई, इहि बिधि काहे देति ।
ऊधौ की इन मीठी-बातँन, निरगुन कैसें लेति ॥
धरम, अरथ, कॉमना सुनावत, सब सुख मुक्ति समेति ।
काकी भूँख गई मन-लडुवँन, सो देखौ चित-चेति ॥
जाकौं मोच्छ बिचारत, बरनत, निगम कहत हैं नेति ।
"सूर" स्यॉम तजि को भुस-फटिकै, मधुप तिहारे हेति ॥

जोगी होइ सो जोग-बखॉने । नौधा-भक्ति, दास-रति मॉनें ॥
भजनानंद अली हम प्यारौ । ब्रह्मानँद-सुख कौंन बिचारौ ॥
बतियाँ रचि-पचि कहत सयॉनी । अँखियाँ हरि के रूप-लुभॉनी ॥
ब्यावरि-बिथा न बंझा जॉनें । बिन-देखें कैसें रति मॉनें ॥
पुनि-पुनि,पुनि वौही सुधि आवै । कृष्ण-रूप बिनु और न भावै ॥
नव-किसोर जिहिं नैन-निहारयौ । कोटि-जोग वा छबि पै वारयौ ॥
सीस, मुकट, कुंडल, बनमाला । क्यौं बिसरें वे नैन-बिसाला ॥
मृगमद मलय अलक घुँघरारे । उन मोहन मन हरे हमारे ॥
भृकुटी कुटिल, नासिका राजै । अधर-अरुन मुरली कल-बाजै ॥

दाड़िम-दसँन दाँमिनि-दुति सोहै। मृदु-मुसिकाँन सु तन-मन-मोहै॥
चंद-झलक कंठा मनि-मोती। दूरि करत उडु-गन की जोती॥
कंकन, किंकिनि, पदक बिराजै। गज-गति-चाल नूपुर-कल-बाजै॥
बन के धातु चित्र तन किएँ। श्रीबछ-चिन्ह, राजत अति हिएँ॥
पीत-बसन-छबि बरनि न जाई। नख-सिख सुंदर कुवँर-कन्हाई॥
रूप-रासि ग्वालन के संगी। कब देखें वह ललित-त्रिभंगी॥
जो तू हित की बात बतावै। मदन-गुपालहिं क्यों न मिलावै॥

अथवा—

"नाहिंन रही मनमैं ठौर।
नंद-नंदन अछत कैसैं, आँनिएँ उर और॥
चलत, चितवत, दिबस जागत, सुपन सोवत रात।
हृदे तें वह स्याँम-मूरति, छिन न इत-उत जात॥
स्याँम-गात, सरोज आँनन, ललित-गति मृदु-हास।
"सूर" ऐसे रूप कारँन, मरत लोचन प्यास॥"

दादूदयालजी कहते हैं—

"दादू" राता राम का, पीवै प्रेम बलाइ।
मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति बलाइ॥
"दादू" पाती प्रेम की, बिरला बाँचै कोइ।
बेद-पुरान-पुस्तक पढ़ै, प्रेम बिना का होइ॥
प्रीति जो है मो पीव की, पैंठी पिंजर माँहिं।
रोम-रोम पिव-पिव करै, "दादू" दूसर नाँहिं॥"

सहजोबाई कहती हैं—

"जोगी पावै जोग सूं, ग्याँनी लहै विचार।
"सहजो" पावै भक्ति सूं, जोग-प्रेम आधार॥"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

"कहो, अद्वैत कहाँ तें आयौ।
हमें छोडि दूजो है को जिहिं, सब-थल दियो लखायौ॥
बिन वैसो चित पाएँ झूठौ, यह क्यों जाल बनायौ।
"हरीचंद" बिन परम-प्रेम के, यह अभेद नहिं पायौ॥"
—जैनकुतूहल

रसरूपजी भी कुछ ऐसा ही प्रकारान्तरसे कहते हैं—

कामधेनु पैन में अघानी रहै रैन-दिन,
आँधरे-अधम आक-दूध कौं सिधारे हैं।
पावन-तरंग आगें गंग की बिलोकि अंग-
आदृतो अपथ पाती पंथ मे पधारे हैं॥
भनै "रसरूप" सुचि सुंदर सरूप सेवा-
सगुन बिहाइ कै अगुन अनुसारे हैं।
मोती के सरोवर मराहि लेति सीप सुधा-
सागर समीप वे खनत कूप-खारे हैं॥"

रत्नाकरजी कहते हैं—

जोगिनि की, भोगिनि की, बिकल-बियोगिनि की,
जग मे न जागती जमातें रहि जाइँगी।
कहै "रत्नाकर" न सुख के रहे जो दिन-
तौ ए दुख-दंदकी न रातें रहि जाइँगी।
प्रेम-नेम छाँडि ग्यान-छेम जो बतावत सो-
भीति ही नहीं तो कहा छातें रहि जाइँगी।
घातें रहि जाइँगी न कान्हकी कृपा तें इती-
ऊधौ, कहिबे कौं बस बातें रहि जाइँगी।"

उद्धव-वचन

१९

हरि—भगवान्‌का नाम विशेष।

"सहेतुकं संसारं हरतीति हरिः।"

अर्थात्—अविद्यारूप कारणके सहित संसारको हरें, इसलिये हरि हैं।

भगवान्‌के हरि नामपर कविवर "रहीम"की एक सरस-सूक्ति याद आ गयी है। जैसे—

"हरि" "रहीम" ऐसी करी, ज्यों कँमान-सर-पूरि।
खैंचि आपनी ओर कों, डारि देति पुनि दूरि॥"

रसनिधिजी कहते हैं—

"भव-बाधा हरि लेति हैं, कहति नाम-अभिराम।
"रसनिधि" यातें अरथ सह, नाम परयौ "हरि" स्याँम॥"

वेद—शुद्ध वेद, अर्थात् भारतीय आर्योंका सर्वप्रधान और सर्व-मान्य धार्मिक ग्रन्थ जिसकी संख्या—ऋग्, यजु, साम और अथर्व-आदि चार है।

"श्रुतिः स्त्री "वेद"-आम्नायस्त्रयी धर्मास्तु तद्विधिः।
—अमरकोश १।६।३

कहते हैं वेद ब्रह्माके चारों मुखसे निकले हैं। आरम्भमें तो वेद तीन ही थे—ऋक्, यजु और साम। जैसे:—

"स्त्रियां—"ऋक् साम यजुषी" इति वेदास्त्रयस्त्रयी।"

अतः अथर्व बादमें बना। इन चारों वेदोंको प्राचीन साहित्यकारोंके साथ मनुने भी "वेदत्रयी" नामसे उल्लेख किया है। ऋग्वेद पद्यमें है, यजुर्वेद गद्यमें तथा 'साम" गानेयोग्य गीतोंमें—पद्योंमें हैं। अथर्ववेद जो कि पीछेसे बना इसमें शान्ति तथा पौष्टिक-अभिचार, प्रायश्चित्त-विधियाँ, तन्त्र-मन्त्र आदि विषय है। वेद—संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक वा उपनिषद्रूप तीन भागोंमें विभक्त है। संहिता अर्थात् संग्रह। वेदके संहिता-विभागमें स्तोत्र, प्रार्थना, मन्त्र-प्रयोग, आशीर्वादात्मक सूक्तियाँ यज्ञविधिसे सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्रादि और अरिष्ट निवारणात्मक प्रार्थनाएँ सम्मिलित हैं। वेदोंका यही विभाग "मन्त्र-भाग" कहलाता है। वेदका ब्राह्मण-विभाग गद्य-ग्रन्थात्मक है, जिसमें अनेक देवताओंकी कथाएँ, यज्ञ-सम्बन्धी विचार और भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें होनेवाले धार्मिक कृत्योंके व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक महत्त्वका निरूपण है। वनोंमें रहनेवाले यति और संन्यासी आदि परमेश्वर, जगत् और मनुष्य इन तीनोंके सम्बन्धमें जो-जो विचार-विनिमय किया करते थे, वह सब उपनिषदों और आरण्यकोंमे संगृहीत है। इन्हींमें भारतका प्राचीनतम तत्त्वज्ञान भरा पड़ा है। यह विभाग वेदोंका अन्तिम भाग है, इसलिये ही यह वेदान्त कहलाता है। वेदोंका प्रचार बहुत कालसे है, अतः काल-भेद, देश-भेद और व्यक्ति-भेदोंके कारण वेद-मन्त्रोंके उच्चारणमे अनेक पाठ-भेद हो गये हैं। साथ ही पाठोंमें कहीं-कहीं कुछ न्यूनता और अधिकता भी हो गयी है। इन पाठ-भेदोंके कारण "संहिताओं" को जो रूप प्राप्त हुआ है वह 'शाखा' कहलाते हैं और इस प्रकार प्रत्येक वेदकी कई शाखाएँ

अन अथर्व बादमें बना। इन चारों वेदोंको प्राचीन साहित्यकारोंके साथ मनुने भी "वेदत्रयी" नामसे उल्लेख किया है। ऋग्वेद पद्यमें है, यजुर्वेद गद्यमें तथा 'साम" गानेयोग्य गीतोंमें—पद्योंमें है। अथर्ववेद जो कि पीछेसे बना इसमें शान्ति तथा पौष्टिक-अभिचार, प्रायश्चित्त-विधियाँ, तन्त्र-मन्त्र आदि विषय हैं। वेद—संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक वा उपनिषद्रूप तीन भागोंमें विभक्त है। संहिता अर्थात् संग्रह। वेदके संहिता-विभागमें स्तोत्र, प्रार्थना, मन्त्र-प्रयोग, आशीर्वादात्मक सूक्तियाँ यज्ञविधिसे सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्रादि और अरिष्ट-निवारणात्मक प्रार्थनाएँ सम्मिलित हैं। वेदोंका यही विभाग "मन्त्र-भाग" कहलाता है। वेदका ब्राह्मण-विभाग गद्य-ग्रन्थात्मक है, जिसमें अनेक देवताओंकी कथाएँ, यज्ञ-सम्बन्धी विचार और भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें होनेवाले धार्मिक कृत्योंके व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक महत्त्वका निरूपण है। वनोंमें रहनेवाले यति और सन्यासी आदि परमेश्वर, जगत् और मनुष्य इन तीनोंके सम्बन्धमें जो-जो विचार-विनिमय किया करते थे, वह सब उपनिषदों और आरण्यकोंमें संगृहीत है। इन्हींमें भारतका प्राचीनतम तत्त्वज्ञान भरा पड़ा है। यह विभाग वेदोंका अन्तिम भाग है, इसलिये ही यह वेदान्त कहलाता है। वेदोंका प्रचार बहुत कालसे है, अतः काल-भेद, देश-भेद और व्यक्ति-भेदोंके कारण वेद-मन्त्रोंके उच्चारणमें अनेक पाठ-भेद हो गये हैं। साथ ही पाठोंमें कहीं-कहीं कुछ न्यूनता और अधिकता भी हो गयी है। इन पाठ-भेदोंके कारण "संहिताओं" को जो रूप प्राप्त हुआ है वह 'शाखा' कहलाते हैं और इस प्रकार प्रत्येक वेदकी कई शाखाएँ

हो गयी हैं। चारों वेदोंसे चार विद्याएँ निकली हुई कहते हैं, अतएव जिन ग्रन्थोंमें उक्त विद्याओंका वर्णन हो वे उपवेद कहलाते हैं। प्रत्येक वेदका एक-एक स्वतन्त्र उपवेद है। इसके अतिरिक्त शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द ये छः वेदोंके अङ्ग कहे जाते हैं। जैसे—

"शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गणः।
छंदो विचित्तिरित्येषः षडंगो वेद उच्यते॥"

—कल्पसूत्र

वेदोंका स्थान संसारके प्राचीन-से-प्राचीन इतिहासोंमें बहुत उच्च है। इन वेदोंमें हम भारतीयोंकी आरम्भिक आध्यात्मिकता, सामाजिकता और नैतिक-सभ्यताका बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन है। वेदोंको भारतीय जनता अपौरुषेय, अर्थात् ईश्वर-कृत मानते हैं और जैसा कि अभी लिखा जा चुका है—ब्रह्माने वेद चारों मुखसे कहे। अतः जिन-जिन ऋषियोंने जो-जो मन्त्र सुनकर संगृहीत किये वे उनके ऋषि (द्रष्टा) कहलाये जाते हैं। प्रायः सभी साम्प्रदायिक आचार्य-वर्गोंने वेदोंको परम प्रामाण्य माना है। स्मृति और पुराण आदिमें वेद, देवतादिके मार्गदर्शक नित्य अपौरुषेय और अप्रमेय कहा है। ब्राह्मणों और उपनिषदादिमें कहा गया है कि वेद सृष्टिसे भी पहिले उत्पन्न हुए और उनका निर्माण प्रजापतिने किया। पर वेदोंका वर्तमानरूपसे संग्रह-विभाग और संकलन महर्षि व्यासजीने ही किया है, इसलिये आप 'वेद-व्यास' कहलाते हैं। विष्णु और वायु-पुराणमें कहा है—स्वयं विष्णु भगवान्ने ही वेद-व्यासजीका रूप धारणकर

वेदके उक्त चार विभाग किये और क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनी और सुमत आदि चार ऋषियोंको दिये। जैसे—

"वेदद्रुमस्य मैत्रेय शाखाभेदास्सहस्रशः।
न शक्तो विस्तराद्वक्तुं संक्षेपेण शृणुष्व तम्॥"
द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने।
वेदमेकं सुबहुधा कुरुते जगतो हितः॥
वीर्यं तेजो बलं चाल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य च।
हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान्करोति सः॥
ययासौ कुरुते तन्वा वेदमेकं पृथक् प्रभुः।
वेदव्यासाभिधाना तु सा च मूर्तिर्मधुद्विषः॥"

—विष्णुपुराण ३ अश ३। ४, ५, ६, ७

वेदांतवादी वेदोंको ब्रह्मसे उत्पन्न मानते हैं। जैमिनि और कपिल वेदोंको स्वत. सिद्ध कहते हैं। वेदोंके रचना-काल-विषयमें आधुनिक विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है। मैक्समूलर आदि पाश्चात्त्य विद्वानोंका कथन है कि वेदोंकी रचना ईशासे प्रायः हजार वा डेढ़ हजार वर्ष पहिले हुई थी। उस समय ही आर्यजाति पंजाबमें आकर बसी थी, परंतु लोकमान्य बाल गगाधर 'तिलक'ने ज्योतिष-शास्त्रके साथ अन्य कितने ही आधारोंसे यह प्रमाणित किया है कि 'वेद, ईशासे साढ़े चार हजार वर्ष पहिले स्थिर थे। बुहलर आदि विद्वानोंका अभिमत है कि आर्य-सभ्यता ईशासे प्रायः चार हजार वर्षसे भी पहिले थी और वैदिक साहित्यकी रचना ईशासे लगभग तीन हजार वर्ष पहिले हुई। अधिकांश विद्वान् यही अभिमत; स्वीकार करते हैं, आदि-आदि।

नेति—जिसकी इति न हो, आदि हो, पर अंत न हो, अंत-रहित, अनंत, बेहद।

नेति—शब्द उपनिषदोंमें ब्रह्म वा ईश्वरकी अनन्तता सूचित करनेके लिये आता है।

आतमा—शुद्ध आत्मा, अर्थात् ब्रह्म, जीव, चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन, देह, स्वभाव, यत्न और धृति आदि।

"आत्मा" यत्नोधृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्म च।"

—अमरकोश ३।४।११२

अथवा—

"आत्मा" कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि।
चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्त्तनेऽपि च॥"

—धरणि

अथवा—

"प्रत्यग्रूपः पराग्रूपाद्व्यावृत्तोऽनुभवात्मकः।
प्रयतेयः स "आत्मेति" प्राहुरात्मविदो बुधः॥"

आत्मा—शब्दका प्रयोग प्रायः ब्रह्म और जीवके अर्थमें प्रयुक्त होता है, जैसा कि यहाँ अर्थ है। इसका यौगिक अर्थ 'व्याप्त' है। जिस प्रकार ब्रह्म संसारके प्रत्येक अणु और अवकाशमें व्याप्त है, उसी प्रकार जीव भी प्रत्येक प्राणीके अंग-अंगमें 'व्याप्त' है। इसलिये 'आत्मा' शब्दका व्यवहार प्राचीन शास्त्रकारोंने दोनोंके लिये किया है। साधारणतः जीव, ब्रह्म और प्रकृति इन तीनोंके लिये, अथवा अनिर्वचनीय पदार्थोंके लिये इस शब्दका व्यवहार करते आये हैं, परंतु

मुख्यतया इसका प्रयोग जीवके संबंधमें विशेष और ब्रह्म तथा प्रकृतिके अर्थमें गौणरूपसे किया गया है। संसारमें प्रायः दो भेद देखनेमें आते हैं—एक आत्मवादी और दूसरे अनात्मवादी। प्रकृतिसे पृथक् आत्माको पदार्थ-विशेष माननेवाले आत्मवादी और प्रकृति-विकार-विशेषको ही आत्मा माननेवाले अनात्मवादी कहलाते हैं। उनके मतमें आत्मा कोई पदार्थ नहीं, अपितु प्रकृतिका विकारमात्र है। अनात्मवादी यूरोपमें विशेष हैं। उनका कहना है—आत्मा, प्रकृति-के भिन्न-भिन्न वैकारिक अंशोंके सयोगसे समुत्पन्न एक शक्ति विशेष है, जो कि प्राणियोंमें गर्भावस्थासे ही उत्पन्न होकर मरणपर्यन्त रहती है और बादको जिन तत्त्वोंके विश्लेषणसे यह उत्पन्न हुई थी उन्हींमें मिलकर नष्ट हो जाती हैं। बहुत दिन हुए भारतवर्षमें यही बात प्रसिद्ध विद्वान् 'बृहस्पति' ने कही थी जो कि 'चार्वाक्' नामसे प्रख्यात था। चार्वाक्का कथन है—

"तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्।"

अर्थात्—देहके अतिरिक्त अन्यत्र आत्माके होनेका कोई प्रमाण नहीं है, अतः चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है। इस मुख्य-मतके बाद कई और भेद उत्पन्न हो गये और क्रमशः शरीरकी स्थिति तथा ज्ञानकी प्राप्तिमें कारणभूत इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अहंकारको आत्मा मानने लगे। कोई इसे विज्ञानमात्र, अर्थात् क्षणिक मानने लगा, तो कोई कुछ और ही। वैशेषिक-दर्शन आत्माको एक द्रव्य मानकर लिखता है कि प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मन, गति-

इन्द्रिय, अंतर्विकार जैसे—भूख-प्यास, ज्वर-पीड़ादि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्नादि आत्माके लिंग हैं, अर्थात् जहाँ प्राणादि लिंग वा चिह्न दीख पड़ें, वहाँ आत्मा रहती है; लेकिन न्यायकार गौतममुनिने—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख और ज्ञानादि ही को आत्माका चिह्न माना है। जैसे—

"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानान्यात्मनो लिंगम्।"

—न्यायसूत्र १।१०

सांख्य-शास्त्रानुसार आत्मा—अकर्ता, साक्षीभूत, असंग और प्रकृतिसे परे (भिन्न) अतींद्रिय पदार्थ माना जाता है। योगशास्त्रानुसार आत्मा—वह अतींद्रिय-पदार्थ है जिसमें क्लेश, कर्मविपाक और आशय हो। सांख्य और योग ये दोनों ही आत्माके स्थानपर पुरुष शब्दका प्रयोग करते हैं। मीमांसकोंके अनुसार आत्मा कर्मोंका कर्ता और फलोंका भोक्ता स्वतंत्र अतींद्रिय-पदार्थ है। पर मीमांसकोंमें प्रभाकर, कुमारिल-भट्ट आत्माको अज्ञानोपहत-चैतन्य मानते हैं। वेदान्तानुसार आत्मा—नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव ब्रह्मका अंशविशेष है। बौद्ध-मतसे आत्मा, अनिर्वचनीय पदार्थ जिसका आदि और अंत-अवस्था न हो माना जाता है। पर उत्तरीय बौद्ध आत्माको एक शून्य पदार्थ मानते हैं। जैनी आत्माको कर्मोंका कर्ता, फलोंका भोक्ता और अपने कर्मोंसे मोक्ष और बंधनको प्राप्त होनेवाला एक अरूपी-पदार्थ मानते हैं।

उपनिषद्—वेदकी शाखा और ब्राह्मणोंका वह अंतिम भाग जिसमें ब्रह्मविद्या, अर्थात् आत्मा और परमात्माका सम्यक् निरूपण

हो। वेदांत-शास्त्र, तत्त्व-ज्ञान, वेदका शिरोभाग, वेद-रहस्य, ब्रह्म-विद्या आदि।

"धर्मे रहस्यु'पनिषद्" ....।"

(अमरकोश ३। ४। ६५)

"अत्र चोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचरः।
तच्छब्दावयवार्थस्य विद्यायामेव संभवात्॥"

अथवा—

"उपोपसर्गः सामीप्ये तत्प्रतीचिसमाप्यते।
सामीप्यतारतम्यस्य विश्रांतेः स्वात्मनीक्षणात्॥"
"त्रिविधस्य सदर्थस्य निःशब्दोऽपि विशेषणम्।
उपनीयतमात्मानं ब्रह्मायास्तिद्वयं यतः॥"
"निहन्त्यविद्यां तज्जंचतस्मादुपनिषद् भवेत्।
निहत्यानर्थं मूलं स्वा विद्यां प्रत्यक्तयापरम्॥"
"गमयन्यस्तसंभेद मतो वोपनिषद् भवेत्।
प्रवृत्तिहेतून्निःशेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः ॥"
"यतोवसादयेद्विद्या तस्मादुपनिषद् भवेत्।
यथोक्तविद्या हेतुत्वांग्रंथोऽपितद्भेदतः॥"

—शब्दार्थ-चिंतामणिः

वैसे तो—उपनिषदोंकी संख्या अठारह ही मानी जाती है, पर कोई-कोई अठारहके अतिरिक्त चौंतीस, बावन, एक सौ आठ तथा एक हजारसे भी अधिक मानते हैं।

"तत्राशीतिसहितशताधिकसहस्रसंख्याका उपनिषदश्चतुर्णां वेदानाम्।"

पर प्रधानतः दस ही है और उनके नाम ये हैं—ईश वा वाजसनेय, केन वा तवल्कार, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य और बृहदारण्यक। इनसे अतिरिक्त उपनिषद् कौषीतकी, मैत्रायणी और श्वेताश्वतर—उपनिषदोंको आर्षप्रणीत मानते हैं तथा एक सौ छः उपनिषद् छपे हुए भी मिलते हैं।

पुरान—शुद्ध पुराण, अर्थात् प्राचीन आख्यान, पुरानी कथा। भारतीय आर्य जातिके धर्म-सम्बन्धी आख्यान-ग्रंथ, जिनमें सृष्टि, लय, प्राचीन ऋषि-मुनियों और राजाओंके इतिवृत्त होते हैं। अथवा सृष्टि, मनुष्य-देव-दानव, राजा और महात्माओंके वृत्तांत जो परंपरागत चले आते हों। कहते हैं जिसमें यह पाँच लक्षण हों वह पुराण, जैसे—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥"

पुराण—अठारह हैं, जैसे-विष्णु[३], पद्म[२], ब्रह्म[१], शिव[४], भागवत[५], नारद[६], मार्कण्डेय[७], अग्नि[८], ब्रह्मवैवर्त्त[१०], लिंग[११], वाराह[१२], स्कन्द[१३], वामन[१४], कूर्म्म[१५], मत्स्य[१६], गरुड[१७], ब्रह्माण्ड[१८] और भविष्य[९], जैसे:—

"ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवञ्च शैवं भागवतं तथा।
तथान्यं नारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तमम्॥
आग्नेयमष्टमं चैव भविष्यन्नवमं स्मृतम्।
दशमं ब्रह्मवैवर्त्तं लैंगमेकादशं स्मृतम्॥
वाराहं द्वादशं चैव स्कान्दं चात्र त्रयोदशम्॥
चातुर्दशं वामनं च कौर्म्मं पंचदशं तथा॥
मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डं च ततः परम्।
महापुराणान्येतानि ह्यष्टादश महामुने॥"

—विष्णुपुराण ३।६।२१—२४

पर कहीं-कहीं इन नामोंमें मतभेद भी है। कोई श्रीमद्भागवत-को महापुराण मानकर उसके बाद वायु-पुराणको मानता है, तो कोई लिंग-पुराणके स्थानपर नृसिंह-पुराणकी सृष्टि करता है।

हरि, बेद, नेति, आतमा, उपनिषद् और पुरान-आदि सरस-शब्दोंके सुन्दर प्रयोग।

"हरि" तेरी माया को न बिगोयौ।"

—सूरदास

"बेद" रटत, ब्रह्मा रटत, नारद, सुक, ब्यास रटत······।"

—तानसेन

"ललित-बचन समुझति भई प्यारी, "नेति-नेति" ए बैन"

—हरिराय

······"आतमा" असंग लखि देह कौ बिहार है।"

—सुन्दरदास

मोहि भुरावत बेद "उपनिषद्", भरमि करम के भेद।

—ज्ञानदास

ब्रह्म मैं ढूढ्यौ "पुराननि" बेदनि, भेद सुन्यौ चित-चौगुने चायन।

—रसखान

गोपी-वचन

२०

बीज—फलवाले वृक्षोंका गर्भांड जिससे वृक्ष अंकुरित होकर उत्पन्न होता है। यह गर्भांड एक छिलकेके भीतर बंद रहता है, और इसीमें *अव्यक्तरूपसे भावी वृक्षका भ्रूण रहता है।* जब यह गर्भांडको उपयुक्त जल, वायु और स्थान मिलता है तब वह भ्रूण जिसमें अंकुर अव्यक्त रहता है प्रबुद्ध होकर बढ़ता है और अंकुररूपमें

परिणत हो जाता है। यही अंकुर समयानुसार बढ़कर वैसा ही पेड़ हो जाता जैसे पेड़के गर्भाण्डसे वह स्वयं निकला था। आदि-आदि

तरु—वृक्ष, द्रुम, पेड़, गाछ आदि

"वृक्षोमहीरुहशाखी विटपीपादपः—"तरुः"

—अमरकोश २। ४। ५

माया—ईश्वरकी वह शक्ति जिसके द्वारा सब कार्य होता है। सृष्टिकी उत्पत्तिका मुख्य कारण। अविद्या, अज्ञानता, भ्रम आदि।

वेदान्तवादियोंका कथन है कि माया ऐसी वस्तु है जो न सत् है, न असत् है, अपितु अनिर्वचनीय है और उसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण हैं तथा ज्ञानकी विरोधिनी है और केवल भान-रूप है। आगे चलकर कहते हैं कि जबतक मायाजनित उक्त तीनों गुण एकसे, अर्थात् साम्यावस्थामें रहते हैं तबतक जगत्की उत्पत्ति नहीं होती। जब इसमें तमोगुणकी अधिकता होती है तब इसमें एक प्रकार क्षोभ उत्पन्न होता है, जिसके परिणामस्वरूप जगत्की उत्पत्ति होती है।

मायामें दो शक्तियाँ हैं, एक आवरण-शक्ति और दूसरी विक्षेप-शक्ति। आवरण-शक्तिसे वस्तुका यथार्थ रूप ढक जाता है और विक्षेप-शक्तिसे मिथ्या कल्पना हो जाती है। बादल सूर्यके सामने आ जानेपर सूर्यको दृष्टिसे छिपा लेता है, इसी तरह आवरण-शक्तिद्वारा आछिन्न होनेपर—आच्छादित होनेपर आत्मा भी दिखलायी नहीं पड़ती। अँधेरेमें सूखे वृक्षको देखनेपर भूतकी कल्पना हो जाती

है, उसी तरह विक्षेप-शक्ति भी आत्मापर मिथ्या-जगत्‌की कल्पना कर देती है। कोई मनुष्य अँधेरे मकानमें जाय और वहाँ रस्सीके टुकडे-को पड़ा देख सर्प मानकर डर जाय तथा फिर बाहर आकर दिया ले जानेपर उसके प्रकाशसे उसे ज्ञात हो कि जिस रस्सीके टुकडेको मैं सर्प समझकर डर रहा था वह वास्तवमें रस्सीका ही टुकड़ा है, सर्प नहीं। यहाँ रस्सीका असली रूप न दिखलायी पडना एक बात है और रस्सीपर सर्पकी कल्पना दूसरी बात तथा प्रकाशसे उसका असली रूप ज्ञात होना तीसरी बात है। यहाँ पहिलीका कारण आवरण-शक्ति है, दूसरीका विक्षेप-शक्ति और तीसरीका कारण वह वेदान्तिक शास्त्र-ज्ञान है जो कि माया, अर्थात् अविद्याको मोहका, भ्रमका और अज्ञानका कारण समझता है। माया, अपनी इन आवरण और विक्षेप-शक्तियोंद्वारा आत्माको छिपाकर उसपर मिथ्या-जगत्‌की कल्पना कर देती है, अतः जगत् वास्तवमें सत्य नहीं, अपितु मायाका विकार है, पर रखता है व्यावहारिक सत्ता।

मायाजनित जगत्‌की उत्पत्तिके विषयमें वेदान्तियोंका कहना है—मायाका पहिला स्वरूप कारण शरीर है, अर्थात् जहाँतक माया है, वह सब ब्रह्मके सत्त्व-गुण प्रधानात्मक अल्प अंशसे मिली हुई है और शरीर संसारभरकी अखिल वस्तुओंका भंडार, अतएव इस माया पुंज शरीरके साथ जो ब्रह्मका वह अल्प भाग मिला है, वह ईश्वर अनुरूप ही है—ईश्वर ही है। यह सत्त्व-गुणवेष्टित ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् और सबका नियन्ता कहलाता है। शरीर भी सत्त्व-गुणप्रधान है, इसलिये इसे आनंदसे परिपूर्ण मानते हुए आनंदमय-

कोश भी कहते हैं। शरीरकी अवस्था सुषुप्ति है, यह सुषुप्ति-अवस्था ही स्थूल और सूक्ष्म-शरीरोंका लय-स्थान है; कारण शरीर इनके परे है। जगत्‌भरका कारण, शरीर होनेसे प्रत्येकका अर्थपर मनुष्यादि-का कारण शरीर होना ही चाहिये। अतः इस कारण शरीरका चैतन्यत्वके साथ जो सम्बन्ध है, वह चैतन्यत्व ईश्वरका ही एक भाग है जो कि 'प्राज्ञ' कहलाता है और मायाकी मलिन-उपाधिद्वारा अल्पज्ञ और अनीश्वर भी। अस्तु, इस शरीरके ही कारण अपनपेकी कमनीय कल्पना होती है, जैसे—सम्पूर्ण जगत्‌का कारण शरीर आनंदमय कोश कहलाता है उसी तरह ब्रह्मका वह अल्पांश चैतन्यरूप भी आनंदमय कोश कहलाता है। इसकी भी अवस्था सुषुप्ति है और जीवके सूक्ष्म और स्थूल शरीरका लय-स्थान भी यही है। अतः समस्त जगत्‌का कारण शरीर और किसी व्यक्ति-विशेषका कारण शरीर उक्त एकत्वके अनुसार पृथक्-पृथक् नहीं हैं, अपितु एक ही है। पृथक्-पृथक् भान होना तो दृष्टि-विकारका फल है। जैसे वन और वृक्ष, जलाशय और जल, पृथक्-पृथक् वस्तुएँ नहीं, बल्कि एक ही हैं; इसी प्रकार संसारका कारण-शरीर और किसी व्यक्ति-विशेषका कारण-शरीर भी पृथक्-पृथक् नहीं हैं। जब वृक्षोंको पृथक्-पृथक् देखा जाय तब तो वे सब पृथक्-पृथक् वृक्ष हैं और जब उन्हें समूहरूपसे देखा जाय तो वे वन हैं। यही समष्टि और व्यष्टित्व कहलाता है। किसी समूहरूपको समुदायकपनेसे कहनेपर वह समष्टि और उसका पृथक्-पृथक् वर्णन करनेसे—विलग-विलग अंशोंका निरूपण करनेसे व्यष्टिरूप कहलाता है। सम्पूर्ण माया-पुंजका ब्रह्म-अंश चैतन्यरूपसे मिला हुआ देखा

जाय तो समष्टि कहलायेगा। और जब प्रत्येक शरीरको उक्त चैतन्य-से पृथक्-पृथक् रूपमें देखा जाय तब व्यष्टि कहलायेगा। ईश्वर और प्राज्ञ एक ही हैं। ईश्वर समष्टिरूप है और प्राज्ञ व्यष्टिरूप। वन और वृक्षोंमें सम्पूर्ण आकाश लय नहीं होता, उससे पृथक् कुछ-न कुछ विशेष बचा ही रहता है। इसी तरह सब माया-पुजमें वह ब्रह्म सम्पूर्ण रूपसे लय नहीं होता, बहुत कुछ बाहर रह जाता है, उसका कुछ ही अंश मायासे मिला हुआ रहता है। अतः वह अविशेष-अंश तुरीय वा तुर्य कहलाता है। तुर्य वा तुरीय अज्ञानतासे प्राप्त चेतनताका आधार। मायाजनित जगत्‌की उत्पत्तिका ब्रह्मसे यही कारण है। मकड़ीके जालेकी उत्पत्ति मकड़ीसे है। मकड़ी जालेके निमित्त और उपादान रूप दोनों कारणोंसे गुंफित है—जकड़ी हुई है। जालेके तंतुओंको बनाते समय वह निमित्त-कारण है और उसके शरीरसे तंतुओंका पैदा होना उपादान-कारण है। ऐसे ही वह अज्ञान-युक्त चैतन्य अपनी प्रधानतासे आवरण और विक्षेप-शक्तियोंद्वारा जगत्‌का निमित्त-कारण हैं तथा अपनी उपाधियोंसे उपादान-कारण, आदि-आदि।

दरपन—शुद्ध, दर्पण, अर्थात् आइना, मुकुर, मुख देखनेका शीशाविशेष, जैसेः—

"दर्पणे"मुकुरादर्शौ .... ।"

—अमरकोश २।६।४१

अमल—मलरहित, अर्थात् स्वच्छ, निर्मल, निर्दोष।

बारि—शुद्ध वारि, अर्थात् जल, पानी, सलिल, आप आदि।

"आपः स्त्री भूम्निवा—"वारि" सलिलं कमलं जलम् ।"

—अमरकोश १ । १० । ३

कीच—कीचड़, पंक, कर्दम ।

बीज, तरु, माया, दरपन, अमल, बारि और कीच आदि शब्दोंके सरस-प्रयोग ।

"ब्रह्म-"बीज" काया में बोवै ।"

—दादूदयाल

"तरु-तर" ठाढ़े स्याँम सुजाँन ।"

—गोविंद स्वामी

"माया" नटनि लकुट कर लीएँ, कोटिक नाँच नचावै ।"

—सूरदास

"मुखड़ा, क्या देखे "दरपन" में ।"

—कबीरदास

"कुंज-कुंज दोऊ ब्रजराज-लाड़िली रमत
रजनी-"अमल" सरस-परस करत केलि ।"

—छछनदास

"जसुधा अपने सुतहिं न्हवावत, तातौ-सीरौ "वारि" जुलाई ।"

—गंगाबाई

"माया-"कीच" फस्यौ मन मेरौ ।"

—मलूकदास

श्रीसूरने भी नन्ददासजीकी तरह श्रीउद्धवके बहुत निर्गुण-निर्गुण पर एक करारी फटकार बतलायी है, जैसे—

ऊधौ, है तू हरि के हितकौ ।
हम निरगुन तबही तें जान्यौं, गुन मेट्यौ जब पितु कौ ॥
समुझौ नेंकु स्रवन दै सुनिएँ, प्रघट बखानों नित कौ ।
कूप-बसनघरमहुँ क्यों निकसै, बिनु गुन बहुतै बित्त कौ ॥

पूरनता तौ तब हीं बूडीं, संग गए लै चित कौं।
हम तौ रुगहिं "सूर" मुनि षट-पद, लोग बटाऊ हित कौं॥
—सूरसागर

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकरने भी श्रीउद्धवके बार-बार ब्रह्म-ब्रह्म चिल्लानेपर गोपियोंद्वारा कुछ ऐसी ही मीठी फटकार दिलवायी थी, यथा—

"कॉन्ह-दूत कैधौं ब्रह्म-दूत है पधारे आप,
धारे प्रॅन फेरॅन कौ मति ब्रजबारी की।
कहै "रतनाकर" पै प्रीति-रीति जॉनति ना,
ठॉनति अनीति आँनि नीति लै अँनारी की॥
मान्यौं कॉन्ह-ब्रह्म एकु ही कह्यौ जो तुम—
तौहू हमे भावति ना भावना अन्यारी की।
जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूंदता बिलैहै बूंद बिबसि बिचारी की॥"

अथवा—

"जग सपनौं सौ सब परति दिखाई तुम्हें,
तातें तुम ऊधौ! हमे सोवत लखात हौ।
कहै "रतनाकर" सुनें को बात सोवत की,
जोई म्हाँह आवत सो बिबस बयात हौ॥
सोवत में जागत लखत अपने कों जिमि,
त्यौंहीं तुम आपुही सुग्यॉनी समुझात हौ।
जोग-जोग कबहूँ न जानें कहा जोहि जकौ,
ब्रह्म-ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ॥"

उद्धव-वचन

२१

सॉनों—मिलाओ। भेद—रहस्य, छिपा हुआ हाल, गुप्त-तत्त्व आदि। बदत—कहते हैं।

साँनों, भेद और बदतके सुन्दर प्रयोग, यथा—

"प्रीति-रीति सों मोहन "साँनों", बिगरी सब बन जाई।"
—साँवरी सखी

"सुर-ताल, स्रुति-ग्राम, मूर्छना-"भेद" सब—
बानी सों कहि करो गुनीजन गाँन।"
—तानसेन

"सूरदास" भगवंत "बदत" थे, ह भजेहूँ जमपुर जैहैं।"
—सूरसागर

गोपी-वचन

२२

स्वाँस—मुखसे निकलनेवाली हवा। *निसरे*—निकले, बाहर आये। *क्रिया*—किसी प्रकार व्यापार, व्यवहार, कृत्य, उपाय, बिधि, प्रयत्न, चेष्टा, अनुष्ठान, प्रायश्चित्तादि कर्म।

बिसेषि—शुद्ध विशेष, अर्थात् मुख्य, प्रधान, अधिक।

विशेष शब्दके और भी अर्थ होते हैं जैसे—भेद, अन्तर, फरक, तरह, ढंग आदि। कणादने—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, "विशेष", समवाय और अभावरूप सात पदार्थ मानकर "विशेष"को अधिक महत्व दिया है, क्योंकि विशेष वे गुण हैं जिनके कारण कोई एक पदार्थ शेष दूसरे पदार्थोंसे भिन्न समझा जाता है। दो वस्तुओंमें रूप, रस, गन्धका जो अन्तर होता है वह इसी विशेष-गुणके कारण होता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द ये वैशेषिक-गुण वा विशेष गुण कहलाते हैं। कणादके दर्शनमें

इन्हीं विशेष-पदार्थों वा गुणोंका विवेचन किया गया है, इसलिये वह "वैशेषिक-दर्शन" नामसे कहा जाता है।

खाँस, निसरे, क्रिया और बिसेखि—आदि सरस-शब्दोंके सुन्दर प्रयोग।

"स्वाँस"-स्वाँसमें रमि रह्यौ, मोहन नंदकिसोर।"
—नागरीदास

"मो द्वारें है "निसरे" मोहन, आजु बड़े ही भोर।"
—गुपाल-नायक

"करि-करि "क्रिया" न मरै पचि मूरख—
तौहू न पावत अंत।"
—रज्जनदास

"प्रेम तें नाहिन और "बिसेखि।" —प्रेमसखी

यही बात श्रुतियाँ भी कहती हैं—

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥"
—पुरुषसूक्त

अथवा—

"अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो—
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥"
—बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१०

"स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि।"
—बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।११

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना ।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥"

—अयोध्याकाण्ड

श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

"ऊधो, चरचा करी न जाइ ।
तुम न जानत प्रेम-पथ, हम कहत जिय-सकुचाइ ॥
कथा अकथ सनेह की बिन, उर न आवत और ।
वेद-स्मृति-उपनिषद कों जिय रही नाँहिंन ठौर ॥
मौन ही में कहन ताकी, सुनत स्रोता-नैन ।
सोव "नागर" तुम न जाँनत, कहि न आवत बैंन ॥"

—नागरसमुच्चय

भारतेन्दु बाबू श्रीहरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

"पियारो, पैऐ केवल प्रेम में ।
नाँहिं ग्याँन में, नाँहिं ध्याँन में, नाँहिं करँम-कुल-नेंम में ॥
नहिं भारत में, नहिं रमाइन, नहिं मनु में, नहिं वेद में ।
नहिं झगरे में, नाँहिं जुगति में, नाँहिं मतँन के भेद में ॥
नहिं मंदिरमें, नहिं पूजा में, नहिं घंटा की घोर में ।
"हरीचंद" वो बँध्यौ जु डोलत, एकु प्रीति की डोर में ॥"

—जैनकुतुहल

श्रीरसनिधिजी कहते हैं—

अलख-जाल इन दगन सौं, विदत न देखी जाइ ।
प्रेम-कांति वा की प्रघट, सब-ही-ठौर दिखाइ ॥"

—रसिक-हजारा

उद्धव-वचन

२३

दृष्टि—देखना, अवलोकन, निरीक्षण, बुद्धि, विवेक, विचार नजर, निगाह आदि।

"दृष्टि"र्ज्ञानेऽक्ष्णि दर्शने।"
—अमरकोश ३।४।४१

अथवा—

"चक्षुर्जन्यमनोवृत्तिश्चियुक्तारूपभासिका।
"दृष्टि' रित्युच्यते द्रष्टा दृष्टेः कर्त्तेति लौकिकैः'॥"

तरनि—शुद्ध तरणि, अर्थात् सूर्य, रवि, भानु, दिवाकर

"द्युमणि"स्तरणि"र्मित्रश्चित्रभानुर्विरोचनः।"
—अमरकोश १।३।३१

चंद्र—चंद्रमा, चाँद, चंद, सुधांशु, विधु, निशापति आदि।

"हिमांशुश्चन्द्रमा "चन्द्र" इन्दुकुमुदबान्धवः।"
—अमरकोश १।३।१५

कहते हैं—चद्र या चंद्रमा आकाशमें चमकनेवाला एक उपग्रह है, जो कि एक महीनेमें पृथ्वीकी प्रदक्षिणा एक बार करता है और सूर्यसे प्रकाश पाकर चमकता है। चद्रमा पृथ्वीके अन्य नक्षत्रोंकी बजाय निकट है। यह पृथ्वीसे २२८८०० मीलकी दूरीपर है, और इसका व्यास है २१६२ मील तथा इसे पृथ्वीके चारों ओर

---

१ यहाँ "दृष्टि" का वस्तुके साथ सम्बन्ध जोड़नेपर ही अर्थकी संगति बैठेगी। वस्तु—दृष्टि, अर्थात् प्रत्यक्ष चीज, देखी हुई वस्तु आदि।

घूमनेमें सत्ताईस दिन, सात घंटे तैंतालीस मिनट और साढ़े ग्यारह सेकेंड लगते हैं, लेकिन व्यवहारमें जो महीना आता है वह उन्तीस दिन बारह घंटे चौवालीस मिनट और सत्ताईस सेकेंडका होता है। चन्द्रमाके परिक्रमणकी गतिमें सूर्यकी क्रियासे विशेष अन्तर पड़ता रहता है। जब वह अपने अक्षपर महीनेमें एक बारके हिसाबसे घूमता है तब प्राय: उसका एक ही पार्श्व पृथ्वीकी तरफ रहता है। इस विलक्षणताको देखकर ही कुछ लोगोंको यह भ्रम हुआ था कि यह अक्षपर नहीं घूमता। चन्द्र-मण्डलमें बहुत धब्बे दिखलायी देते हैं, जिसे पुराणानुसार कलंक, पृथ्वीकी छाया, काला दाग, हिरन आदि कहते हैं। यूरोपीय विद्वानोंका इन धब्बोंके विषयमें कथन है—ये धब्बे नहीं, अपितु पर्वत, घाटी, गर्त और ज्वालामुखी पर्वत आदि हैं। चन्द्रमामें वायु-मण्डल नहीं जान पड़ता और न बादल वा जलहीके कोई चिह्न दिखलायी पड़ते हैं। उसमें गरमी भी कम दिखलायी देती है। प्राचीन भारतीय ज्योतिषियोंके अभिमतसे चन्द्र एक ग्रह है। भास्कराचार्य कहते हैं—वह जलमय है और उसमें निजका तेज नहीं है। उसका जितना भाग सूर्यके सामने पड़ता है, बस उतना ही दिखलायी पड़ता है और वही चमकता है। जिस दिन चन्द्रका निचला भाग जो कि हमलोगोंकी, अर्थात् पृथ्वीकी ओर रहता है, उसपर सूर्यका प्रकाश न पड़नेसे अँधेरा होनेके कारण अमावास्याका दिन माना जाता है। ऐसा तभी होता है जब कि सूर्य और चन्द्र एक ही राशिपर यानी सम-सूत्रमें होते हैं। यह सूर्यकी सीधसे—सम-सूत्रपातसे बहुत शीघ्र पूर्वकी ओर हट जाता है जिससे उसकी

एक-एक कला क्रमशः प्रकाशित होने लगती है। वह जितना ही इस सीधसे हटता जायगा उतना ही उसका अधिक भाग प्रकाशित होता जायगा। द्वितीयाके दिन चन्द्रके पश्चिमभागपर सूर्यका जितना प्रकाश पड़ता है उसका उतना ही भाग प्रकाशित दिखलायी पड़ता है। सूर्य-सिद्धान्तानुसार चन्द्रमा जब सूर्यकी सीधसे छठी राशिपर चला जाता है तब उसका समग्र आधा भाग प्रकाशित हो जाता है और हमे पूर्णिमाका पूरा चाँद दिखलायी पड़ने लगता है। पूर्णिमाके अनंतर ज्यों-ज्यो वह बढ़ता जाता है त्यों-त्यो ही उसका अंतर सूर्य-की सीधसे कम होता जाता है, अर्थात् वह सूर्यकी सीधके ओर आता जाता है और उसका सूर्यकी सीधमें आनेके कारण प्रकाशित भाग क्रमशः अन्धकारमे पड़ता जाता है। अनुपातके मतानुसार उक्त प्रकाशित और अप्रकाशित भागोंके इस ह्रास और वृद्धिका हिसाब जाना जा सकता है। यही मत आर्य-भट्ट, श्रीपति, ज्ञानराज, लल्ल और ब्रह्मगुप्त आदि प्राचीन ज्योतिषियोंका भी है। चन्द्रमाके धब्बोंके प्रति इन महानुभावोंने कुछ नही कहा, यहाँतक कि सूर्य-सिद्धान्त, सिद्धान्त-शिरोमणि और बृहत्संहिता आदि भी इन धब्बोंके प्रति चुप हैं।

पुराणानुसार चन्द्र समुद्र-मन्थन-द्वारा निकले हुए प्रसिद्ध चौदह रत्नोंमेंसे एक रत्न हैं और उसकी गिनती देवताओंमे की जाती है। चन्द्रग्रहणके प्रति पुराणोंका कथन है—समुद्र-मन्थनके अन्तमें जब अमृत निकला तब राक्षस-वर्ग उसे छिन ले गया, तदुपरान्त विष्णु-भगवान्‌ने मोहिनी स्वरूप-द्वारा राक्षसोंसे उसे पुनः लेकर समझौतेके

साथ पहिले देवताओंको अमृत पिलाने लगे। अस्तु, चंद्रमाके पास बैठकर और देवताओं-जैसा वेश बनाकर एक राक्षसने चन्द्रमाके साथ अमृत पी लिया। यह वृत्तान्त चन्द्रमाको किसी प्रकार मालूम हो गया कि यह देवता नहीं अपितु राक्षस है—असुर है और उसने अमृत पिलाते हुए मोहिनी-स्वरूपसे यह भेद प्रकट कर दिया। मोहिनी-स्वरूप विष्णु भगवान्ने सुदर्शन-चक्र (एक हथियार-विशेष) से उस असुरके दो खण्ड कर दिये जो कि राहु और केतुके रूपमें परिणत हो गये। इस वैर-विरोधके कारण ही राहु ग्रहणके समय चन्द्रमाको ग्रसा करता है और उदर—पेट न होनेके कारण उसे हजम नहीं कर पाता और वह (चन्द्र) बाहर निकल आता है। चन्द्र-धब्बोंके प्रति जैसा कि पूर्वमें कहा गया है विभिन्न मत हैं। कोई इसे दक्षप्रजापति-द्वारा पाये गये यक्ष्मा-रूप शापको शांति-निमित्त गोदमें लिया हुआ हिरन बताते हैं, तो कोई इसे *गुरुपत्नीगमनके* कारण गुरु बृहस्पति-द्वारा दिये गये शापका फलरूप काला दाग बतलाते हैं और कोई इसे अहिल्याके सतीत्व-भंग करनेवाले देवराज इन्द्रको सतीत्व-भंगमें सहायता देनेपर क्रोधावेशमें गौतम ऋषिद्वारा मारे गये कमंडल और मृग-चर्मका दाग बतलाते हैं। इससे इसके नामोंमें भी वृद्धि हो गयी, जैसे—मृगलांछन, रोहिणी-पति, हरिणाङ्क, दोषाकर आदि-आदि।

चन्द्र, कवियोंकी भी अपूर्व उड़ानोंका, चित्त चुरानेवाला चौगान रहा है। संस्कृतसे लेकर तमाम भाषाओंके कवि-कोविदोंने चन्द्र-पर, उसके धब्बोंपर, इन निरंकुशों (कवि) ने बड़े-बड़े कुलाबे

बाँधे हैं, जमीन-आसमान एक कर दिया है—तूफान बर्पा कर दिया है। उपमा-उत्प्रेक्षादि अलङ्कारोंसे अलङ्कृत निज-निज भाषाओंमें वह मजमून भिड़ाये हैं कि कुछ कहा नहीं जाता, जैसे—

"ततः कुमुदनाथेन कामिनीगंडपांडुना।
नेत्रानन्देन चंद्रेण माहेंद्री दिगलंकृता॥"
"पिनष्टीव तरंगाग्रैः समुद्रः फेनचंदनम्।
तदादाय करैरिंदुर्लिंपतीव दिगंगनाः॥"
"आकाशवापीसितपुंडरीकं
शाणोपलं मन्मथसायकानाम्।
पश्योदितं शारदमंबुजाक्षि-
सन्ध्यांगनाकंदुकमिन्दुबिंबम्॥"
"वीथीषु वीथीषु विलासिनीनां
मुखानि संवीक्ष्य शुचिस्मितानि।
जालेषु जालेषु करं प्रसार्य
लावण्यभिक्षामटतीव चंद्रः॥"
"नवकुंकुमचर्चिका रजन्या गगनाशोकतरोः प्रवालपंक्तिः।
मणिकुंतलता स्मरस्य मन्ये शशिनः प्राथमिकी मयूखलेखा॥"
"शंकरार्धतनुबद्धपार्वती कुंकुमाक्तकुचकोकाकृतिः।
सूच्यते कमलिनीभिरुन्नमत्यद्य कोशकरलीलाय शशी॥"
"कलिलमंबरमाकलयन्करैर्मुदितपंकजकोशपयोधरः।
विकसदुत्पलनेत्रविलोकितः सखि निशां सरसीकुरुते विधुः॥"
"यदेतच्चंद्रांतर्जलदलवलीलां प्रकुरुते
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा।
अहं त्विंदुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रांततरुणी-
कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलंकांकिततनुम्॥"

"अंकं केऽपि शशांकिरे जलनिधेः पंकं परे मेनिरे
सारंगं कतिचिच्च संजगदिरे भूमेश्च बिंबं परे।
इंदौ यद्दलितेंद्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते
तन्मन्ये रविभीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमालक्ष्यते॥"*

पश्य चंद्रमुखी चंद्रमंडलं व्योममार्गसरसीसरोरुहम्।
यामिनीयुवतिकर्णकुण्डलं भारमार्गणानिघर्षणोत्पलम्॥"

"स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात्—
किमु विधुं ग्रसते स विधुंतुदः।
नियतितं वदने कथमन्यथा—
वलिकरंभनिभं निजमुज्झति॥"

"कुरु करे गुरुमेकमयोधनं
विहिरितो मुकरं च कुरुष्व मे।
विशति तत्रयदैव विधुस्तदा—
सखि! सुखादहितं जहितं द्रुतम्॥"

---

* संस्कृतकी इस उक्तिपर गोस्वामी तुलसीदासजीकी ये सुमधुर सूक्तियाँ बरबस याद आ जाती हैं, जैसे—

"कह प्रभु ससि महँ मेचकताई। कहहु काह निज-निज-मति भाई॥
कह सुग्रीव सुनहुँ रघुराई। ससि महँ प्रगट भूमि कै झाई॥
मारयो राहु ससिहिं कह कोई। उर महँ परी स्याँमता सोई॥
कोउ कह जब बिधि रति-मुख कीन्हा। सार-भाग ससि कर हरि लीन्हा।
छिद्र सो प्रगट इंदु-उर माँहीं। तिहि मग देखिय नभ-परछाँहीं।
प्रभु कह गरल-बंधु ससिकेरा। अति प्रियतम उर दीन्ह बसेरा
बिष-संजुत कर-निकर पसारी। जारत बिरहवंत नर-नारी
"कह हनुमंत सुनहुँ प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय-दास।
तव मूरति बिधु-उर बसी, सोई स्याँमता भास॥"

"द्विजपतिग्रसनाहितपातक-
प्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः ।
विरहिणीवदनेंदुजिघांसया
स्फुरति राहुरयं न निशाकरः ॥"*

श्रीशीतलजीने भी इस भव्य-भावपर एक बड़ी अनूठी उक्ति कही है, जैसे—

"थी शरद-चंद्र की जौन्ह खिली—
सोवै था सब-गुण जटा हुआ ।
चोवा की चमक अधर-विहँसन—
रस-भीजा-दाडिम-फटा हुआ ॥
इतने में प्रसन समे वेला—
छवि म्याऊ बड़ा भटपटा हुआ ।
अवनी से नभ, नभ से अवनी,
उछले भगु नटका बटा हुआ ॥"
—आनंदघन

अब तनिक "व्रजभाषा"-कवियोंकी सूझ-बूझ भी देखें, उन्होंने क्या-क्या उड़ानें उड़ी हैं, जैसे—

"अति ही अमंद-कंद चंद्रिका सुधाकर की,
पुंडरीक पथिक-प्रिया कौं प्रतिकूल है ।

* "श्रीहर्षकी उक्त उत्तम उक्तिपर किसी व्रजभाषा-कविकी यह सरससूक्ति कितनी सुन्दर है। देखिये न, जैसे—

"आँगन में मत सोवै री राधे,—
मैंने सुनी आज ग्रहन परैगो।
तो मुख-चंद, चंदहू ते निरमल—
चंद छाँड़ि प्यारी, तोहि गहैगो ॥"
—आँगन में मत····

कहत "किसोर" निसि-नारि के हिए की मनि,
दरसावै कुँवरि-किसोरी दिन-दूल है ॥
दरद-हरँन वर-परव कौ दुंदु स्वच्छ,
सरद सुइंदिरा कौ मुख सुख मूल है ।
तारकाँन-कलित मँझार चारु दुति फूल्यौ,
अंतरिच्छ कलप-तरोवर कौ फूल है ॥*

"गगन-गयंद पै करि हंका-बंका—
पिक-नाँद आगें-आगें होत मन भायौ है ।
भनत "कविंद" तारे सुभट अघोर जोर—
पैदर चकोर-मोर, सोर सरसायौ है ॥
तोहि तम अग्ग-खग्ग लैकर उदग्ग वर,
मदन-हरौल माँन-गढ़ पैजु धायौ है ।
चमू-चंद्रिकाँन के पसारे अवलेस-नख—
तेसु आजु गौतँम-नरेस वनि आयौ है ॥"

"कहत निसाकर दिवाकर सौं दीठि पर्यौ—
अंधकार सो तौ एकु पल में पलायौ है ।
भोर-भयौ जाँनि कें विहंगँन में सोर मच्यौ,
अवनि-अकास में प्रकास सरसायौ है ॥

---

* संदेहालंकारसे अलंकृत कुछ ऐसी ही अनूठी उक्ति महाकवि केशवदासने भी कही है, यथा—

"फूलन की सुभ गेंद नई, सूँघि सची जनु डारि दई ।
दरपन सौ ससि श्रीरति कौ, आसँन काँम-महीपति कौ ॥
मोतिन कौ स्त्रुति भूषन मनों, भूलि गई रवि की तिय मनों ।
देव-नदी-जल राँम कह्यौ, माँनहुँ भूलि सरोज रह्यौ ।
फेंन किधौं नभ-सिंधु लसै, देव-नदी-जल-हंस बसै ॥"

—आदि-आदि ।

परी चलाचल बाल-चमू-चतुरंगिनी मे—
"नागर" तपत तेज ब्रज पर आयौ है।
चंद्रमाँ न होहि यह मॉनिनी के जीतिबे कौं
मेन-महारथी ब्रह्म-अस्त्र लै चलायौ है॥"

"हरत किसोर जो चकोरँन कौ ताप किल—
कुमुद कलाप मुकलीकर सुछंद भौ।
मॉनिनीन हूँ के हिय-दरप-दलित कर,
कंदरप-कलित कर अति जग-चंद भौ॥
मुदित कमल-अवली कर तिमिर—
कवली कर दिसॉन-धवली कर अमंद भौ।
ऑनद ॲमित कर, लोक-प्रमुदित कर,
कोक ॲमुदित कर सॅमुदित चंद भौ॥"

सवैया

"पिय-देखॅन मानों रमा उझकी, मुख कुँमकुँम-रंजित भ्राजत है।
रजनी-उर कौ अनुराग इहै, किधौं मूरतवंत बिराजत है॥
किधौं पूरन-चंद सुछंद उदोत, "मुकुंद" सबै सुख साजत है।
किधौं प्राची-दिसा नव बाल के भाल, गुलाल कौ बिंदु बिराजत है॥"
"सिगरे दिन बारि पहार समेत, तची अति दुस्सह पूपन सों।
भई मैली महा "रघुनाथ' कहै, वह छार बयार के रूषन सों॥
पल डीठि लगाइ न जाइ लखी, इमि भूमि रही भरि दूखन सों।
सोई लीपत सौ 'ससि' आवत है, दिमि भीजी पियूष मयूषन सों॥"

चंद्र-कलंक—

"चारु चंद्रिका सिंधु में सीतल स्वच्छ सतेज।
मनौं सेस मै सो भिजै हिरनाधिष्ठिन-सेज॥"

☸

"कोउ कहै है कलंक, कोऊ कहै सिंधु-पंक,
कोऊ कहै छाया है तमोगुन के भाम की।

कोऊ कहै मृग-मद, कोऊ कहै राहु-रद,
कोऊ कहै नीलि-गिरि, सोभा आस-पास की ॥
"भंजन" जू मेरे जाँन चंद्रमा कौं छीलि बिधि—
दैंन चाँहीं समता जो राधा-मुख खास की।
तादिन तें छाती छीन भई है छपाकर की,
वार-पार दीखत है नीलमा अकास की ॥'

&

सुंदर वदन तेरौ सोभा कौ सदँन राधे ?
मदँन बनायौ चारि-बदँन बनाइ कें।
ता की रुचि लैंन कौं उदित भयो रैंनि-पति,
राखौ मति-मूढ़ निज कर बगराइ कें ॥
कहै कवि "चिंतामनि" ताहि निसि-चोर जानि-
दई है सजा सु पाक-सासन रिसाइ कें।
यातें सदाँ फिरै अमरावती के आस-पास,
मुख पै कलंक-मिसि कारिख लगाइ कें ॥*

---

* कुछ ऐसी बात कवि गोविंद-गिल्ला भाईने भी कही है, जैसे—

अमृत कौं ऐंचि धरयौ राधिका के ओठन में,
चंद्रिका-छिनाइ दई देखौ दसनादि कौं।
षोडस-कलानि-काटि बत्तिस बनाए दंत,
जा कौं बिलोकि हीरा पावत प्रमाद कौं ॥
पोषँन-सकति छीन धारी है बचन माँहिं,
ऐसें सब छीन लियो मेटि मरजाद कौं।
"गोविँद" कहत तब काइ में कलेस पाइ,
चंद लै कलंक नभ-फिरत फिराद कौं ॥
अथवा—
"जगमगात है हौंन कौं, या आँनन लौं चंद।
ताही तें पूरन भएँ, मंद परत तम फंद ॥

पूरब इँगित-वनिता कौ मुख-पत्र तामैं-
रचना रुचिर वर मृगमद-रँग की।
कैधौं नभ-सरवर फूल्यौ है कँमल तामैं-
मेचक-प्रभा है अली अवली उमंग की॥
औरौ कवि कोविदन उपमा अनेक कही
"चंदन" बखानैं एकु इहि बिधि अंग की।
बिरही निरखि याहि नाँखन निसाँस या तैं-
दागिल दिखात मानौं आरसी अनंग की॥"

सवैया

"बिध ब्रह्म-कुलाल कौ चक्र कि जा मधि, राजति कालिमा रेंनु लगी।
छलिकैं सुर-नीर पियूष की कीच कि बोहन पीठि की छाँह खगी॥
कवि "आलम" रैंनि सँजोगिनि है, पिय के सुभ अंक सुरंग पगी।
गए लोचन बूड़ि चकोरन के, सु मनौं पुतरीन की पाँति जगी॥"

दोहा

"बढ़ि-बढ़ि मुख-समता लयैं, चढ़ि आयौ निसंक।
ता तैं रंक मयंक री, पायौ अंक-कलंक॥"

चंद्रोपालंभ—

"एरे मतिमंद चंद, धिग है अनद तेरौ,
जो पै बिरहिनि जरि जात तेरे ताप ते।
तू तौ दोषाकर, दूजैं धरैं है कलंक उर-
तीसरैं कपाली-संग देख्यौ सिर छाप ते॥
कहै "मतिराम" हाल जाहिर जहाँन तेरौ
बारुनी कौ बासी, भासी रवि के प्रताप ते।
बाँध्यौ गयौ, मथ्यौ गयौ, पियौ गयौ, खारौ भयौ,
बापुरौ समुद्र तो कपूत ही के पाप ते॥"

सिंधु कौ सपूत-सुत सिंधु-तनया कौ बंधु,
मंदिर अमंद सुभ सुंदर सुधाइ के।
कहै "पद्माकर" गिरीस के बस्यौ है सीस,
तारन कौ ईस, कुल-कारँन-कँन्हाई के॥
हाल ही तू बिरह-बिचारी ब्रज-बाल ही पैं-
ज्वाल से जगावत जुवाल सी जुन्हाई के।
ऐरे मति-मंद-चंद आवत न तोहि लाज,
ह्वै कें द्विजराज, काज करत कसाई के॥"*
"करत निकाँम-काँम स्याँम-मुख जाकौ भयौ,
बिधि सब अंग साँम कोइल बनाई तू।

---

* पद्माकरजीके इस भव्य-भावको अयोध्यानरेश महाराज मानसिंह उपनाम "द्विजदेव" जीने भी अपनाया है, जैसे—

"साँझ ही तें आवत हलावत कटारी-कर
पाइ कें कुसंगत कृसाँनु-दुखदाई कौ।
निपट, निसंक ह्वै तजी तें कुल-काँनि-खाँनि,
औगुन अनेक नैंकु तुलै न बाप-भाई कौ॥
ऐरे मतिमंद-चंद, आवत न लाज तोहि,
देति दुख बापुरे-बियोग-समुदाई कौ।
ह्वै कें सुधा-धाँम काँम-बिष कों बगारै मूढ़,
ह्वै कें द्विजराज, काज करत कसाई कौ॥"

कुछ ऐसा ही किसी संस्कृत-कविने भी कहा है, जैसे—

"सूतिर्दुग्धसमुद्रतो भगवतः श्रीकौस्तुभो सोदरो
सौहार्दं कुमुदाकरेषु किरणः पीयूषधाराकिरः।
स्पर्धां ते वदनाम्बुजैर्मृगदृशां तत्स्थाणुचूडामणे
इंदो चन्द्र! कथं न सिञ्चसि मयि ज्वालामुचो सेचि॥"

पूरब हँसित-बनिता कौ मुख-पत्र तामैं-
रचना रुचिर बर मृगमद-रंग की।
कैधौं नभ-सरवर फूल्यौ है कँमल तामैं-
मेचक-प्रभा है अली अवली उमंग की॥
औरों कवि कोबिदन उपमा अनेक कहीं
"वंदन" बखानें एक इहि बिधि अंग की।
बिरही निरखि याहि नाँखन निर्मान या तें-
दाग़िल दिखात मानों आरसी अनंग की॥"

सवैया

"बिधि ब्रह्म-कुलाल कौ चक्र कि जा मधि, राजति कालिमा रेनु लगी।
छलिकैं सुर-नीर पियूष की कीच कि बौहत पीठि की छाँह खगी॥
कवि "आलम" रैंनि सँजोगिनि है, पिय के सुभ अंक सुरंग पगी।
गए लोचन बूड़ि चकोरन के, सु मनों पुतरीन की पाँति जगी॥"

दोहा

"बढ़ि-बढ़ि मुख-ममता लएँ, चढ़ि आयौ निसंक।
ता तैं रंक मयंक री, पायौ अंक-कलंक॥"

चंद्रोपालंभ—

"एरे मतिमंद चंद, धिग है अनंद तेरौ,
जो पै बिरहिनि जरि जात तेरे ताप ते।
तू तौ दोषाकर, दूजें धरें है कलंक उर-
तीसरें कपाली-संग देख्यौ सिर छाप ते॥
कहै "मतिराम" हाल जाहिर जहाँन तेरौ
बारुनी कौ बासी, आयौ रबि के प्रताप ते।
बाँध्यौ गयौ, मथ्यौ गयौ, पियौ गयौ, खारौ भयौ,
बापुरौ समुद्र तो कपूत ही के पाप ते॥"

सिंधु कौ सपूत-सुत सिंधु-तनया कौ बंधु,
मंदिर अमंद सुभ सुंदर सुधाइ के।
कहै "पदमाकर" गिरीस के बस्यौ है सीस,
तारन कौ ईस, कुल-कारँन-कँन्हाई के ॥
हाल ही तू बिरह-बिचारी ब्रज-बाल ही पैं-
ज्वाल से जगावत जुवाल सी जुन्हाई के।
ऐरे मति-मंद-चंद आवत न तोहि लाज,
ह्वै कैं द्विजराज, काज करत कसाई के ॥"*
"करत निकाँम-काँम स्याँम-मुख जाकौ भयौ,
बिधि सब अंग स्याँम कोइल बनाई तू।

---

* पद्माकरजीके इस भव्य-भावको अयोध्यानरेश महाराज मानसिंह उपनाम "द्विजदेव" जीने भी अपनाया है, जैसे—

"साँझ ही तें आवत हलावत कटारी-कर
पाइ कें कुसंगत कृसाँनु-दुखदाई कौ।
निपट, निसंक ह्वै तजी तें कुल-काँनि-खाँनि,
औगुन अनेक नैंकु तुलै न बाप-माई कौ ॥
ऐरे मतिमंद-चंद, आवत न लाज तोहि,
देति दुख बापुरे-बियोग-समुदाई कौ।
ह्वै कें सुधा-धाँम काँम-बिष कौं बगारै मूढ़,
ह्वै कें द्विजराज, काज करत कसाई कौ ॥"

कुछ ऐसा ही किसी संस्कृत-कविने भी कहा है, जैसे—

"सूतिर्दुग्धसमुद्रतो भगवतः श्रीकौस्तुभो सोदरो
सौहार्दं कुमदाकरेषु किरणः पीयूषधाराकिरः।
स्पर्धां ते वदनाम्बुजैर्मृगदृशां तत्स्याणुचूडामणे
हंहो चन्द्र ? कथं न सिञ्चसि मयि ज्वालामुचो सेचि ॥"

पूरब हँसित-वनिता कौ मुख-पत्र तामें-
रचना रुचिर बर मृगमद-रंग की।
कैधौं नभ-सरवर फूल्यौ है कँवल तामें-
मेचक-प्रभा है भरी अवली उमंग की॥
औरौ कवि कोबिदन उपमा अनेक कहीं
"चंदन" बखानें एकु इहि बिधि अंग की।
बिरही निरखि याहि नौखन निर्माम या तें-
दागिल दिखात मानों आरसी अनंग की॥"

सवैया

"बिध ब्रह्म-कुलाल कौ चक्र कि जा मधि, राजति कालिमा रेनु लगी।
छलिकें सुर-भीर पियूष की कोष कि बोंहन पीठि की छाँह लगी॥
कवि "आलम" रैनि सँजोगिनि है, पिय के सुभ अंक सुरंग पगी।
गए लोचन बूड़ि चकोरन के, सु मनों पुतरीन की पाँति जगी॥"

दोहा

"बढ़ि-बढ़ि मुख-समता लएँ, चढ़ि आयौ निस्संक।
ता तें रंक मयंक रो, पायौ अंक-कलंक॥"

चंद्रोपालंभ—

"एरे मतिमंद चंद, धिग है अनंद तेरौ,
जो पै बिरहिनि जरि जात तेरे ताप ते।
तू तौ दोषाकर, दूजें धरें है कलंक उर-
तीसरें कपाली-संग देख्यौ सिर छाप ते॥
कहैं "मतिराम" हाल जाहिर जहान तेरौ
बारुनी कौ बासी, भासी रबि के प्रताप ते।
बाँध्यौ गयौ, मथ्यौ गयौ, पियौ गयौ, खारौ भयौ,
बापुरौ समुद्र तौ कपूत ही के पाप ते॥"

सिंधु कौ सपूत-सुत सिंधु-तनया कौ बंधु,
मंदिर अमंद सुभ सुंदर सुधाइ के।
कहै "पद्माकर" गिरीस के बस्यौ है सीस,
तारन कौ ईस, कुल-कारँन-कँन्हाई के॥
हाल ही तू बिरह-बिचारी ब्रज-बाल ही पैं-
ज्वाल से जगावत जुवाल सी जुन्हाई के।
ऐरे मति-मंद-चंद आवत न तोहि लाज,
ह्वै कें द्विजराज, काज करत कसाई के॥"*
"करत निकाँम-काँम स्याँम-मुख जाकौ भयौ,
बिधि सब अंग स्याँम कोइल बनाई तू।

---

* पद्माकरजीके इस भव्य-भावको अयोध्यानरेश महाराज मानसिंह उपनाम "द्विजदेव" जीने भी अपनाया है, जैसे—

"साँझ ही तें आवत हलावत कटारी-कर
पाइ कें कुसंगत कृसाँनु-दुखदाई कौ।
निपट, निसंक ह्वै तजी तें कुल-काँनि-खाँनि,
औगुन अनेक नेंकु तुले न बाप-भाई कौ॥
ऐरे मतिमंद-चंद, आवत न लाज तोहि,
देति दुख बापुरे-बियोग-समुदाई कौ।
ह्वै कें सुधा-धाँम काँम-बिष कौं बगारै मूढ़,
ह्वै कें द्विजराज, काज करत कसाई कौ॥"

कुछ ऐसा ही किसी संस्कृत-कविने भी कहा है, जैसे—

"सूतिर्दुग्धसमुद्रतो भगवतः श्रीकौस्तुभौ सोदरौ
सौहार्दं कुमदाकरेषु किरणः पीयूषधाराकिरः।
स्पर्धा ते वदनाम्बुजैर्मृगदृशां तत्स्थाणुचूडामणे
हंहो चन्द्र? कथं न सिञ्चसि मयि ज्वालामुचो सेचि॥"

पॉहन जॅनम औ भुजंग-अंग संग सदाँ,
चंदन अपौर-पोर जानैं का पराई तू ॥
"ग्वाल कवि" काम है मनोज मनमथ बाँरे,
पितु कौ नसैया क्यों न होहि दुख-दाई तू ।
सिंधु-सिर पाइ, सिंधु-नॅद कहि वाइ,
द्विजराज-पद पाइ, हाइ होत क्यों कसाई तू ॥"
बिरह की जारी, मनमथ की मरोर मारी,
अबला बिचारी जानैं मारग भलाई कौ ॥
अति सुकुमार ऐसी कौल-नैनी, कुल-बधू
गावैं गुन देव-बधू जाकी सुभनाई कौ ॥
ऐसी निरदई दई, दाहै तिनहूँ कौं मीखौ—
सिगरे उपाइ धौं कहाँ तें पतिताई कौ ।
भाई बैद्राज कौ, अमृतताई नॉम पाइ,
बॉम्हन कहाइ काम करत कसाई कौ ॥"
"मूल मलयज के नमूल जरि जैयो अरु—
गुन-गरि जैयो या सुगंध सरसाई कौ ।
कढि जैयो भूतल तें केतकी-कमल फूल,
हूजियो कतल अलि-कुल-दुखदाई कौ ॥
"मोतीरॉम" सुकबि मनोज मालती कौ हूजो
पूँजो जनि आस बिरही-जन हँसाई कौ ।
राजहंस-बंमन के बंस निरबस हूजो,
अंस मिटि जैयो या कलानिधि-कमाई कौ ॥"

सवैया

"सेत-पठार अगार भए, अबनी जनु पारद-मॉहि पखारी ।
होत ही इंदु उदोत, लसै चहुँ ओर तें सोर चकोर कौ भारी ॥
फूली कमोद कली निकली, अवली अलि की चलि यै निरधारी ।
कोपि कैं चंद तियाँन के माँन पै, मानों मियाँन तें तेग निकारी ॥"

गुनाँतीत—गुण+अतीत, गुणोंसे परे, पृथक्, निर्गुण। गुणोंके प्रभावसे पृथक्। त्रिगुणात्मिकासे निर्लिप्त।

वेदान्तवादी जिसे माया कहते हैं उसीको सांख्यवाले त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं, अतः त्रिगुणातीत होना ही गुणोंसे परे होना ही, मायासे छूटकर परब्रह्मको प्राप्त होना, पहिचान लेना कहा है। इसीको 'ब्राह्मी अवस्था' भी कहते हैं, जैसे—

"प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि न संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥"
"उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥"
× × × ×
"समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥"
"मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी "गुणातीतः" स उच्यते॥"

—श्रीमद्भगवद्गीता १७। २२, २३, २४, २५

—अर्थात् हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (क्रमसे सत्व, रज, तम आदि गुणोंके कार्य अथवा फल) होनेसे जो उनका द्वेष नहीं करता और प्राप्त न हों तो उनकी आकांक्षा भी नहीं रखता, जो उदासीन-सा रहता है, अर्थात् गुण जिसे चल-विचल नहीं कर सकते; वह इतना ही मानकर स्थिर रहता है कि गुण अपना-अपना काम करते हैं, मुझसे उनका क्या प्रयोजन। जो डिगता नहीं—विकार नहीं पाता, सुख-दुःख जिसे एक-से ही हैं। मिट्टी, पत्थर और

सोना जिसे समान है, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति भी जिसे समान हैं और जो सदा धैर्यसे युक्त है। मान-अपमान वा मित्र और शत्रु जिसे तुल्य है—बराबर हैं और जिसके सब उद्योग (काम्य) छूट गये हैं, उसे "गुणातीत" कहते हैं।

भगवॉन—षट्-ऐश्वर्य-युक्त, नारायण। षट् (छै) ऐश्वर्य, यथा—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥"
—विष्णुपुराण ६। ५। ७४

अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य आदिसे संयुक्त, भगवान्, अथवा—

"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥"
—विष्णुपुराण ६। ५। ७८

अर्थात् उत्पत्ति, प्रलय, प्राणियोंका आना-जाना, विद्या और अविद्याको जाननेवाला 'भगवान्' कहे जाते हैं। अथवा—

"भगंश्री योनिवीर्येच्छाज्ञानवैराग्यकीर्त्तिषु।
माहात्म्यैश्वर्ययत्नेषु धर्मे मोक्षे च नारवौ॥"
—मेदिनीकोषे

दृष्टि, तरनि, चंद, गुनॉतीत और भगवॉन शब्दके सरस प्रयोग।

"दृष्टि' दुराइ अगिनि सब खाई॥" —श्रीसूर
"खेलत 'तरनि'-तनया तीर।" —पद्मनाभदास
"चंद' खिलौना लैहों मैया मेरी।" —श्रीसूर
"गुनॉतीत भगवॉन कहावै।" —मधुर अलि

२४

गोपी-वचन

दुराई—छिप रहा। दिव्य-दृष्टि (दृष्टि)—अलौकिक ज्ञान-संपन्न। सर्वज्ञ। बिसवास (विश्वास)—प्रतीत, धारणा, भरोसा। यथा—

"समौ विश्रंभविश्वासौ······।"

—अमरकोष २।८।२३

विश्वास, अर्थात् वह धारणा जो कि मनमें किसी व्यक्ति-विशेषके प्रति उसका सद्भाव, हितैषिता, सत्यता, दृढ़ता अथवा किसी सिद्धांत आदिकी सत्यता वा उत्तमताका ज्ञान होनेके कारण होती है। अथवा किसीके गुण आदिका निश्चय होनेपर उसके प्रति उत्पन्न होनेवाले मनके भावको—प्रतीतको विश्वास कहते हैं।

कूप—कुआँ, इनारा आदि······।

"पुंस्येवाऽन्धुः प्रहिः कूप उदपानं तु पुंसि वा।"

—अमरकोष १।१०।२६

दुराई, दिव्य-दृष्टि, बिसवास और कूपके सरस प्रयोग।

"राधे, परम सुजान 'दुराई' कित मो बंसी॥"

—रसिकदास

"जाइ न देख्यौ दिव्य-दिष्टि-बिनु, कोटिक करौ उपाई।"

—परमानंददास

"सुनि राधे, नवनागरी हो, हमन करैं बिसवास।"

—हरिराम

"चिबुक—"कूप" की का कहौं सोभा।"

—कृष्णदास

श्रीनंददासजीके इस उत्तम-भावपर भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्रजीकी भी एक सरस सूक्ति है, जैसे—

"चहिऐ इन बातन कौ प्रेम ।
कोरी हम सों काँम चलै नहिं, मरौ वृथाँ करि नेंम ॥
जब लौं मूरति प्राननाथकी, आँखिन में न समाइ ।
तब लौं सब थल पीतम-प्यारौ, कैसें सबहिं लखाइ ॥
'अहं ब्रह्म' सब मूरख भाँखें, ग्याँन-गरूर बढ़ाइ ।
तनक चोट के लगत उठत हैं, रोइ-रोइ करि हाइ ॥
जो तुम ब्रह्म-चोट किहि लागी, रोइ तजौ क्यों प्रॉन ।
"हरीचंद" हाँसी नाही है, करनौं ग्यॉन-बिधॉन ॥"

—जैनकुतूहल

कवि रसरूपजी कहते हैं—

"बसि गई नासिका में बदन-सरोज बास,
फँसि गई ओठॅन मिठाई ओठ सारे की ।
रसि गई रस-रीति रमै से रोम-रोम ढँसे—
आवै कहर लहर जैसें कारे की ॥
त्रसि गई सुगति एकै मनकी अनेक संग,
ऊधव, बिचारि देखौ बिपत बिचारे की ।
कसि गई 'रसरूप' कॉन मे सुबसी-तॉन,
बसि गई ऑखिन सुरति बंसीवारे की ॥"

—उपालंभशतक

२५

उद्धव-वचन

भक्ति—परमात्मामें परम अनुराग । यथा—

"सा परानुरक्तिरीश्वरे··· ··।"

—शाण्डिल्यभक्तिसूत्र ७ । २

भक्त-प्रवर श्रीनारदजीने अपने भक्ति-सूत्रमें—किसी भी पदार्थसे गाढ़ प्रेम रखनेको 'भक्ति' कहा है, जैसे—

"सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।"*

—नारदभक्तिसूत्र-२

भक्तिके सबसे प्रथम दो-भेद—रागात्मिका,† जिसे 'अहैतुकी' भी कहते हैं और 'वैधी' (स्वार्थमय, वा गौणी) कहे जाते हैं। वैधी जिसे कि 'गौणी' भी कहा जाता है पुनः तीन भेदोंमें विभाजित की गयी है, जैसे—

"गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा।"

—नारदभक्तिसूत्र-५६

अर्थात् गौणीभक्ति, सात्त्विक, राजस और तामस तीन गुणोंसे युक्त हो सात्त्विकी (पवित्र), राजसी (अहंभाविक) और तामसी (मोहरूप)—आदि तीन प्रकारकी होती है।

---

* भक्ति-रसात्मकसिंधुके कर्ताने भी—"हमारे इष्ट पदार्थोंकी ओर जो हमारा आन्तरिक प्रेम रहता है, उसी उत्साहित प्रेमको भक्ति कहा है।"

† रागात्मिका 'भक्ति'की व्याख्या करते हुए श्रीरूप गोस्वामीजी कहते हैं—

"इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता॥"

अर्थात् अपने प्रियमें स्वाभाविक प्रेम, पूर्ण आवेश और तन्मयतायुक्त जो भक्ति हो उसे 'रागात्मिका' भक्ति कहते हैं।

साधनाके अनुसार 'भक्ति' नौ प्रकारकी और कही जाती है, जैसे—

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥"

—भागवत ७ । ५ । २३

जैन-मतानुसार भक्ति, वह ज्ञान है जिसमे निरतिशय आनंद हो—सर्वप्रिय, अनन्य, प्रयोजन विशिष्ट और वितृष्णाका उदय-कारक हो।

नवधा भक्ति जैसे—कि श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदनके अनतर एक प्रकार-की और भी कही जाती है, जिसे "प्रेमरूपा फलात्मिका" भक्ति कहते हैं।

भक्तिमे दो विभाग है, एक प्रकृतिका दूसरा प्रत्ययका, अतः 'भज्' प्रकृति है और 'ति' 'प्रत्यय' भज्का अर्थ है सेवा—परि-चर्यारूप क्रिया और 'ति' का अर्थ है भाव, प्रेम वा रति। अतएव प्रेमोत्तर सेवा, अर्थात् भगवत्-प्रेम होनेके लिये जो सेवा की जाय उसे 'भक्ति' कहा जाता है। भक्ति शब्दके अर्थके साथ एक बात और भी कही जानी है, वह यह कि जिस प्रकार भक्ति शब्दके प्रकृति और प्रत्ययमें सेवा और प्रेम समाया हुआ है उसी प्रकार उसमें ज्ञान भी समाया हुआ है, क्योंकि—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दाऽनुगमाद्दते।"

अर्थात् ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं जो कि शब्दके साथ नहीं

रहता, अतः सेवा-संबंधी, आत्मसंबंधी और ब्रह्मसंबंधी ज्ञानसहित प्रेम होनेके लिये जो विविधकी सेवा या कृति की जाय वह 'भक्ति' कहलाती है।

नारदजीने अपने 'भक्तिसूत्र'में ग्यारह प्रकारकी भक्ति जैसे— ईश्वरके गुण माहात्म्यमें, उसकी सुन्दरतामें, स्मरणमें, सेवामें, दास, मित्र और कांता-भावमें, पुत्र-भावमें आत्म-समर्पणमें, तन्मयतामें और परम विरह मान उसके ध्यानमें प्रेम-आदि कही है, जैसे—

"गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति सख्यासक्ति कांतासक्ति वात्सल्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परमविरहासक्ति,—रूपा एक-धाप्येकादशधा भवति ॥" —नारदभक्तिसूत्र-८२

निहकरम—शुद्ध निष्कर्म, अर्थात् कर्म-रहित, कर्मोंसे परे, अलग, जो कामोंमें लिप्त न हो।

भक्ति और निहकरम शब्दके सरस प्रयोग—

"बिना 'भक्ति' क्यों जनम गमावै रे मूरख अग्याँन।" —सूर

"बिस्नु नराइन कृष्ण जो, बासुदेव ही ब्रह्म ॥"
परमेस्वर परमात्मा बिस्वंभर निहकर्म ॥"
—विश्रामसागर

उपनिषद् भी यही बात कहते हैं कि कर्मसे ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती, अपितु निष्कर्म होनेसे ही प्राप्ति होती है। जैसे—

"जानाम्यहꣳशेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥"
—कठोपनिषद् १।२।१०

रहता, अतः सेवा-संबंधी, आत्मसंबंधी और ब्रह्मसंबंधी ज्ञानसहित प्रेम होनेके लिये जो विविधकी सेवा या कृति की जाय वह 'भक्ति' कहलाती है।

नारद्जीने अपने 'भक्तिसूत्र'में ग्यारह प्रकारकी भक्ति जैसे—ईश्वरके गुण माहात्म्यमें, उसकी सुन्दरतामें, स्मरणमें, सेवामें, दास, मित्र और कांता-भावमें, पुत्र-भावमें आत्म-समर्पणमें, तन्मयतामें और परम विरह मान उसके ध्यानमें प्रेम-आदि कही है, जैसे—

"गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति सख्यासक्ति कांतासक्ति वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परमविरहासक्ति,—रूपा एकधाप्येकादशधा भवति॥" —नारदभक्तिसूत्र-८२

निहकरम—शुद्ध निष्कर्म, अर्थात् कर्म-रहित, कर्मोंसे परे, अलग, जो कामोंमें लिप्त न हो।

भक्ति और निहकरम शब्दके सरस प्रयोग—

"बिना 'भक्ति' क्यों जनम गमावै रे मूरख अग्याँन।" —सूर

"विस्नु नराइन कृष्ण जो, बासुदेव ही ब्रह्म॥"
परमेस्वर परमात्मा बिस्वंभर निहकर्म॥"

—विश्रामसागर

उपनिषद् भी यही बात कहते हैं कि कर्मसे ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती, अपितु निष्कर्म होनेसे ही प्राप्ति होती है। जैसे—

"जानाम्यहꣳशेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्॥"

—कठोपनिषद् १।२।१०

साधनाके अनुसार 'भक्ति' नौ प्रकारकी और कही जाती है, जैसे—

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥"

—भागवत ७ । ५ । २३

जैन-मतानुसार भक्ति, वह ज्ञान है जिसमें निरतिशय आनन्द हो—सर्वप्रिय, अनन्य, प्रयोजन विशिष्ट और वितृष्णाका उदय-कारक हो ।

नवधा भक्ति जैसे—कि श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदनके अनंतर एक प्रकार-की और भी कही जाती है, जिसे "प्रेमरूपा फलात्मिका" भक्ति कहते हैं ।

भक्तिमें दो विभाग हैं, एक प्रकृतिका दूसरा प्रत्ययका, अतः 'भज्' प्रकृति है और 'ति' 'प्रत्यय' भज्का अर्थ है सेवा—परि-चर्यारूप क्रिया और 'ति' का अर्थ है भाव, प्रेम वा रति। अतएव प्रेमोत्तर सेवा, अर्थात् भगवत्-प्रेम होनेके लिये जो सेवा की जाय उसे 'भक्ति' कहा जाता है। भक्ति शब्दके अर्थके साथ एक बात और भी कही जाती है, वह यह कि जिस प्रकार भक्ति शब्दके प्रकृति और प्रत्ययमें सेवा और प्रेम समाया हुआ है उसी प्रकार उसमें ज्ञान भी समाया हुआ है, क्योंकि—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दाऽनुगमादृते ।"

अर्थात् ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं जो कि शब्दके साथ नहीं

रहता, अतः सेवा-संबंधी, आत्मसंबंधी और ब्रह्मसंबंधी ज्ञानसहित प्रेम होनेके लिये जो विविधकी सेवा या कृति की जाय वह 'भक्ति' कहलाती है।

नारदजीने अपने 'भक्तिसूत्र'में ग्यारह प्रकारकी भक्ति जैसे—ईश्वरके गुण माहात्म्यमें, उसकी सुन्दरतामें, स्मरणमें, सेवामें, दास, मित्र और कांता-भावमें, पुत्र-भावमें आत्म-समर्पणमें, तन्मयतामें और परम विरह मान उसके ध्यानमें प्रेम-आदि कही है, जैसे—

"गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति सख्यासक्ति कांतासक्ति वात्सल्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परमविरहासक्ति,—रूपा एक-धाप्येकादशधा भवति ॥" —नारदभक्तिसूत्र-८२

निहकरम—शुद्ध निष्कर्म, अर्थात् कर्म-रहित, कर्मोंसे परे, अलग, जो कामोंमें लिप्त न हो।

भक्ति और निहकरम शब्दके सरस प्रयोग—

"बिना 'भक्ति' क्यों जनम गमावै रे मूरख अग्यॉन।" —सूर

"बिस्नु नराइन कृष्ण जो, बासुदेव ही ब्रह्म ॥"
परमेस्वर परमात्मा बिस्वंभर निहकर्म ॥"
—विश्रामसागर

उपनिषद् भी यही बात कहते हैं कि कर्मसे ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती, अपितु निष्कर्म होनेसे ही प्राप्ति होती है। जैसे—

"जानाम्यहꣳशेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥"
—कठोपनिषद् १।२।१०

"अंधन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳺरताः ॥
"अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥"
—ईशावास्योपनिषद् ९ । १०

"परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥"
—मुण्डकोपनिषद् १ । २ । १२

श्रीमद्भागवत भी यही बात कहती है—
"वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥"
—श्रीमद्भागवत ११ । ३ । ४६

२६
गोपी-वचन

परमान—सीमा, सबूत, सचवान, विश्वास, प्रमाण । प्रभुता—आधिपत्य, ऐश्वर्य । अतीत—बीता हुआ, भूत विरक्त, न्यारा, परे, बाहर, निर्लेप, असंग आदि ।

परमान, प्रभुता और अतीत शब्दके सरस प्रयोग—

वेद उपनिषद् बदत 'परमाँन' ।"—श्रीसूर

'प्रभुता' पाइ कछू इतराने ।—कुम्भनदास

"गुन 'अतीत' अविगत अविनासी ।"—श्रीसूर

सूरदासजी कहते हैं—

"बतियँन, सब कोऊ समुझावै।
ऐसौ कोउ नाँहिन आली, पीतम सिरी ब्रजनाथ मिलावै॥
आयौ दूत कपट कौ वासी, निरगुन-ग्यान बतावै।
सखा हमारे स्याँम-मनोहर, नैंननि-भरि न दिखावै॥
ग्याँन-ध्याँन कौ मरम न जानैं चतुरहि चतुर कहावै।
'सूरजदास' सबै काहूकों अपनों हीं हित भावै॥"

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

"जो पै ईस्वर साँचो जाँन।
तौ क्यों जग कों सगरे मूरख झूँठौ करत बखाँन॥
जौ करता साँचौ है तौ सब कारजहू साँच।
जौ झूठौ है ईस्वर तौ सब जग हू जानौं काँच॥
जौ हरि एक अहै तौ माया यह दूजी है कौंन।
"हरी चंद" कछु भेद मिल्यौ नहिं, बकौ जिय आयौ जौंन॥"

—जैन-कुतूहल

२७

उद्धव-वचन

नस्वर—नाशवान, भंगुर, मिथ्या। वासुदेव— वसुदेवजीके पुत्र, भगवान् श्रीकृष्ण अथवा—

"वसति वासयति आच्छादयति सर्वमिति वा वासुः।
दीव्यति क्रीडते विजिगीषते व्यवहरति द्योतते स्तूयते
गच्छतीति वा देवः, वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः॥"

—विष्णुसहस्रनाम शं० भा०

अर्थात् बसते हैं, अथवा वासित यानी आच्छादित करते हैं इसलिये 'वासु' हैं और दिव्यति, अर्थात् क्रीड़ा करते, जीतनेकी इच्छा

करते, व्यवहार करते, प्रकाशित होते, स्तुति किये जाते, इसलिये 'देव' हैं। अत इस प्रकार जो 'वासु' भी है और 'देव' भी है उनका नाम भगवान् 'वासुदेव' है, यथा—

"छादयामि जगत्सर्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः।
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततः स्मृतः॥

—महाभा० शा० ३४१। ४१

अथवा—

"वासनात्सर्वभूतानां वसुत्वाद्देवयोनितः।
वासुदेवस्ततो वेद्यः.................... ....॥"

—महाभा० उद्यो० ७०। ३

अथवा—

"जगदाच्छादयति माययेति वासुः स एव देव इति-वासुदेवः।"

अर्थात् जगत्को मायासे आच्छादित करते हैं इसलिये 'वासु' हैं और वे वासु ही 'देव' भी हैं, इसलिये 'वासुदेव' हैं। यथा—

"छादयामि जगद्विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः।"

—विष्णुस० शां० भा०

अधोछज—शुद्ध अधोक्षज, जिसका स्वरूप इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष न हो वह अधोक्षज, अर्थात् भगवान् विष्णु, यथा—

"अक्षात् इंद्रियात् जायते अक्षजं प्रत्यक्षज्ञानम्।"

अथवा—

"अधो न क्षीयते यस्मादीशस्तस्मादधोक्षजः।"

—महाभा० उद्यो० ७०। १०

कभी नीचे, अर्थात् अपने स्वरूपसे क्षीण न हों वे अधोक्षज।

अथवा—

"द्यौरक्षं पृथिवी चाधः तयोर्यस्मादजायत मध्ये वैराजरूपेण इति वा अधोक्षजः।"

अर्थात् आकाश अक्ष है और पृथ्वी अधः है, भगवान् इनके मध्यमें विराट्‌रूपसे प्रकट होते हैं, इसलिये 'अधोक्षज' हैं।

अथवा—

"अधोभूते प्रत्यक् प्रवाहिते अक्षगणे जायते इति वा अधोक्षजः।"

अर्थात् अक्षगण (इन्द्रिय) के अधोमुख यानी अन्तर्मुख होनेपर प्रकट होते हैं, इसलिये अधोक्षज हैं, यथा—

"अधोभूते ह्यक्षगणे प्रत्यग्रूपप्रवाहिते।
जायते तस्य वै ज्ञानं तेनाधोक्षज उच्यते॥"

अतः श्रीकृष्ण, नारायण—

"वनमाली बलिध्वंसी कंसारातिरधोक्षजः।"

—अमरकोश

सरूपी—स्वरूपी, अपने स्वरूपकी—रूपकी। प्रापति—प्राप्ति, पाना, लाभ अधिगम, उपार्जन।

"प्राप्तिर्महोदये, लाभेऽपि च स्त्रियाम्।"

—मेदिनीकोश

नस्वर, वासुदेव, अधोच्छज, सरूपी और प्रापति आदि शब्दोंके सरस प्रयोग।

"नस्वर सकल बिस्व, हरि नाँहीं।" —श्रीसूर

"जनमे आइ बसुदेव-देवकी,'वासुदेव'कहिवाए।"—कृष्णदास

"नेति-नेति कहि वेद पुकारत, सुद्ध, 'अधोच्छज' रूप।"

—रामदास

"बुद्धि-सरूपी, कहा नाहि कछु ग्यान बखानों।"

—धीरजदास

"प्रापति सहैज सोम की होइ।"

—चरनदास

२८

गोपी-वचन

नास्तिक—ईश्वरको न माननेवाला, अनीश्वरवादी, अथवा जो श्रुति-स्मृतियोंको प्रमाण नहीं मानते, वेद-निंदक पाखंडी।

"नास्तिको वेदनिन्दकः।"

अथवा—

"नास्तिकाय कृतघ्नाय ।"

—मुक्तिकोपनिषद् १।४८

निज—अपना, यथार्थ, सच्चा, खास। *भाँनु*—सूर्य, सूरज, भास्कर आदि—

"भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपन: सविता रविः।"

—अमरकोश १।३।३१

परछाँही—शरीर या अन्य वस्तुकी छाया, प्रतिबिंब, प्रतिछाया। *करतल-आभास*—हथेलीपर छाया, प्रतिबिंबकी तरह। *कोटिक*—करोड़ों। *ब्रह्म*—परमेश्वर।

नास्तिक, निज, भाँनु, परछाँहीं, करतल-आभास, कोटैन और ब्रह्म शब्दोंके सरस प्रयोग, यथा—

"नास्तिकँन" कैसी रीति चलाई।"

—गोकुलदास

आई उघरि कनक-कलई ज्यों, द्वै 'निज' गए दगाई।"

—सूरदास

"उदयौ 'भाँनु' ,आजु कित इत तें······।"

—मानदास

"छुअँन पैहौ लाल, 'परछाँहीं' कित······।"

—लालदास

"लाल करौ 'कोटिक' चतुराई।'—ध्यानदास

"ब्रह्म-ब्रह्म क्यों बकत वृथाँ ही गुलचाऐ······।"—सूरदास

आलमकवि कहते हैं—

"पतियाँ-पठाए अलुपात तौ भलें पै होत,
बतियँन बिरह बितैबौ कछु हाँसी है।
"आलम" निरास बैंन-सुनें कौंन जोरै नैंन,
हिए कौ कठिन ऐसौ कौंन ब्रज-बासी है॥
ऊधौ, यै सँदेसे जैऐ वाही चित-चोर पै लै,
आपुन कठिन भऐ और कौ बिसासी है।
यहाँ लौं न आवै नेंकु बासुरी सुनावै आँनि,
बिनसैगौ कहा आऐं जो पै अविनासी है॥"

—आलमकेलि

रत्नाकरजी कहते हैं—

"नेंम, व्रत, संजम के पीजरै परै को जब—
लाज-कुल-कॉनि-प्रतिबंधहिं निवारि चुकीं।
कौंन गुन-गौरव कौ लंगर लगावै जब—
सुधि-बुधि हीं कौ भार टेक करि टारि चुकीं॥

जोग-"रतनाकर" में साँस-घूँटि बूडै कौन—
ऊधौ हम सूधौ यह बानिक बिचारि चुकीं।
मुक्ति-मुकता कौ मोल-तोल ही कहा है जब—
मोहनलला पै मन-माँनिक हीं वारि चुकी॥"
—उद्धवशतक

२९

कृष्ण-प्रति उपालम्भ-वर्णन

(प्रथम-कवि-उक्ति)

छबि-छाइ—छवि, सौंदर्य, छाइ फैलाता, बिखेरता हुआ। अंबुज—कमल, पद्म। तरक—तर्क, विवेचना, हेतु-पूर्ण उक्ति, चमत्कारपूर्ण कथन, कल्पना,। चुहलकी-हँसीकी बातें, चोजकी बातें, चतुराईसे भरी बाते, व्यंग, ताना। यथा—

"अध्याहारस्तर्क ऊहः......।"—अमरकोष १।५।३

तर्क, न्यायके सोलह पदार्थोंमेंसे—विषयोंमेंसे एक है। जब किसी वस्तुके संबंधमें वास्तविक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तब उस तत्त्व-के ज्ञानार्थ—किसी निगमनके पक्षमें कुछ हेतुपूर्ण युक्तियाँ दी जाती हैं, जिसमें कि निगमनकी अनुपपत्ति दिखलायी जाती है। अतः ऐसी युक्ति-पूर्ण बातोंको 'तर्क' कहते हैं। तर्कमें शंकाका होना भी आवश्यक है, क्योंकि जब शंका होगी तभी उसके प्रति हेतुपूर्ण उक्ति दी जायगी।

छबि-छाइ, अंबुज और तरक शब्दोंका सरस प्रयोग।

"कैसी 'छबि-छाइ रही इन नैंननि'...।"—नागरीदास
"अंबुज-नैंन कछुक रतनारे।"—स्यामदास
'तरक' करत बालक सब लखि-लखि

३०

गोपी-वचन

नाथ——स्वामी, पति । रमा-नाथ——लक्ष्मीके पति । जदुनाथ——यदुनाथ भगवान् कृष्णका नाम विशेष । बिड़राति——मारी-मारी, बिना रखवालेके । दुख-जल-निधि——दुःखका समुद्र, सागर । अवलंब——सहारा आश्रय, शरण, आधार । निठुर——निष्ठुर, निर्दयी, कठोर, यथा—

"कक्खटं कठिनं क्रूरं कठोरं 'निष्ठुरं' दृढम् ।"

—अमरकोष ३ । १ । ७६

नाथ, रमानाथ, जदुनाथ, बिड़राति, दुख-जल-निधि, अवलंब और निठुर——आदि शब्दोंके सुंदर प्रयोग ।

"'नाथ' कहाँ, ऐती देर लगाई ।" —रामदास

"रमानाथ, 'जदुनाथ' गुसाँई, श्रीपति कमल-कंथ ।" —मानदास

"सब दिन जात सखी, 'बिड़रात' ।" —गोकुलदास

"बूड़त-उत्तरत 'दुख-जल-निधि'में को करै······।" —सूरदास

"तुमहीं हौ 'अवलंब' नाथ, मो······।" —सूरदास

"ऐसौ निठुर' न नेंकौ मानत······।" —ग्वालदास

घनानंदजी कहते हैं——

"पहिलें 'घनआनँद' सींचि सुजाँन, कही बतियाँ अति-प्यार-पगी ।
अब लाइ वियोग की लाइ बलाइ, बढ़ाइ बिसास-दगाँनि दगी ॥
अँखियाँ-दुखयाँनि कुबाँनि परी, न कहूँ लगैं कौन घरी सु लगी ।
मति दौरि थकी न लहै ठिक ठौर, अमोही के मोह-मिठास ठगी ॥"

अथवा—

"दीन भए जल-मीन अधीन, कहा कछु मो अकुलानि समानैं।
नीरस-नेह कौ लाइ कलंक, निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानैं॥
प्रीति की रीति सु क्यों समझै जड़-मीत सु पानैं परै को प्रमानैं।
या मन की जु दसा 'घन-आनँद' जीव की जीवँन जाँनही जाँनैं॥"

—सुजानसागर

रहीमजी फर्माते हैं—

"कहियो पथिक, सँदेसवा गहिकै पाँइ।
मोहन, तुम बिन तनकहु रह्यौ न जाइ॥"
"मोहन-लेहु मयाकर मो सुधि आइ।
तुम-बिनु मीत, अहर-निसि, तरफत जाइ॥"

—रहीम रत्नावली

भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

"देखो अबाँ प्यारा बनवारी, म्हारी ओर।
दीन-बचन सुनितौं उठि धावौ, नेंकु न करहु अबारी॥
कृपा-सिंधु छाँडो निठुराई अपनों बिरद सँभारी।
थाँनें जग दीणदयाल कहै छै, क्यों म्हारी सुरत बिसारी॥
प्राण-दान दीजै म्हानें प्यारा, हौं छूं दासी थारी।
क्यों नहिं दीठा-बैंगा सुणआवौ, कौन चूक है म्हारी॥
तलफै प्राण रहै ना तणमें, बिरह-बिथा बढ़ी भारी।
'हरीचंद' गहि बाँह उबारो, तुम धौ चतुर-बिहारी॥"

३१

छल-विद्या—छलकी विद्या, दगाबाजी, छिपनेकी विद्या धूर्तता, ठगपना। *दीन*—नम्र, हीन-दशा-सूचक। *मीन*—मछली। *रावरे*—आपही, सरदार।

छल-विद्या, दींन, मींन और रावरे शब्दोंका सुन्दर प्रयोग।

"नित नई 'छल-बिद्या' करत, आवत तनक न लाज।"
—गोविंद स्वामी

"'दींन' बचन सुनि आतुर आए, मोंहन मदन गुपाल।"
—सूरदास

"'मींन' ज्यों तलफत प्रान'-पिया-बिनु।" —लालदास

"केती मैं बड़ाई 'रावरे'की सुनी······।"* —गोपालदास

घनानंदजी कहते हैं—

"मेरौ मन तोहिं चाँहै, तू न तनकौ उमाँहै,
मीन-जल-कथा हैं कि याहू तें बिसेखिऐ।
ता बिन सो मरै, छूटि परै जड़ कहाँ टरै,
भरौं हौं न मरों जाँन हिऐं अवरेखिऐ॥
पलकौ बिछोह आगें कलपौ अलप लागै,
बिलपों सदाँई नेंकु तलफनि देखिऐ।
सूनौं जग हेरों रे अमोही काहि कहि टेरों,
'आनँद के घन' ऐसी कोंन लेखें लेखिऐ॥"
—सुजानसागर

रहीमजी फ़र्माते हैं—

"जाल परें जल जाति बहि, तजि मीनन कौ मोह।
'रहिमन' मछरी नीर कौ, तऊ न छाँड़त छोह॥
—रहीम-रत्नावली

---

* रावरे, राउरे आदि शब्दका प्रयोग व्रजभाषामें बहुत कम मिलता है, कोशकारोंने भी इस शब्दको त्याज्य मानकर छोड़ दिया है। रावरी, राउरी शब्दोंका प्रयोग अवश्य मिलते हैं। राउर शब्दका भी प्रयोग मिलता है, यथा—

"भरत कि 'राउर' पूत न हौंही।" —रामायण

अथवा—

"दीन भए जल-मीन अधीन, कहा कछु मो अकुलानि सँयानें।
नीरस-नेह कौं लाइ कलंक, निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानें॥
प्रीति की रीति सु क्यो समझै जड-मीत सु पानें परै को प्रमाँनें।
या मन की जु दसा 'घन-आनँद' जीव की जीवँन जाँनहीं जाँनें॥"

—सुजानसागर

रहीमजी फर्माते हैं—

"कहियो पथिक, सँदेसवा गहिकै पाइ।
मोहन, तुम बिन तनकहु रह्यौ न जाइ॥"
"मोहन-लेहु मया कर मो सुधि आइ।
तुम-बिनु मींत, अहर-निसि, तरफत जाइ॥"

—रहीम रत्नावली

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

"बेगो आवौ प्यारा बनवारी, म्हारी ओर।
दीन-बचन सुनितों उठि धावौ, नेंकु न करहु अबारी॥
कृपा-सिंधु छाँडौ निठुराई अपनों बिरद सँभारी।
थाँनें जग दीणदयाल कहै छै, क्यों म्हारी सुरत बिसारी॥
प्राण-दाँन दीजै म्होंनें प्यारा, हौं छूं दासी थारी।
क्यों नहिं दीदा-बेग मुणआवौ, कौन चूक है म्हारी॥
तलफैं प्राण रहैं ना तण मे, बिरह-बिथा बडी भारी।
'हरीचंद' गहि बाँह उबारौ, तुम धौ चतुर-बिहारी॥"

३१

छल-विद्या—छलकी विद्या, दगाबाजी, छिपनेकी विद्या धूर्तता, ठगपना। दींन—नम्र, हीन-दशा-सूचक। मीन—मछली। रावरे—आपही, सरदार।

छल-विद्या, दींन, मींन और रावरे शब्दोंका सुन्दर प्रयोग।

"नित नई 'छल-विद्या' करत, आवत तनक न लाज।"

—गोविंद स्वामी

"'दींन' बचन सुनि आतुर आए, मोंहन मदन गुपाल।"

—सूरदास

"'मींन' ज्यों तलफत प्रान'-पिया-बिनु।" —लालदास

"केती मैं बड़ाई 'रावरे'की सुनी······।"* —गोपालदास

घनानंदजी कहते हैं—

"मेरौ मन तोहिं चाँहै, तू न तनकौ उमाँहै,
मीन-जल-कथा हैं कि याहू तें विसेखिऐ।
ता बिन सो मरै, छूटि परै जड़ कहाँ टरै,
मरों हौं न मरों जाँन हिऐं अवरेखिऐ॥
पलकौ बिछोह आगें कलपौ अलप लागै,
बिलपों सदाँई नेंकु तलफनि देखिऐ।
सूनों जग हेरों रे अमोही काहि कहि टेरों,
'आनँद के घन' ऐसी कोंन लेखें लेखिऐ॥"

—सुजानसागर

रहीमजी फ़र्माते हैं—

"जाल परें जल जाति बहि, तजि मीनन कौ मोह।
'रहिमन' मछरी नीर कौ, तऊ न छाँड़त छोह॥

—रहीम-रत्नावली

---

* रावरे, राउरे आदि शब्दका प्रयोग व्रजभाषामें बहुत कम मिलता है, कोशकारोंने भी इस शब्दको त्याज्य मानकर छोड़ दिया है। रावरी, राउरी शब्दोंका प्रयोग अवश्य मिलते हैं। राउर शब्दका भी प्रयोग मिलता है, यथा—

"भरत कि 'राउर' पूत न हौंही।" —रामायण

३२

दुरि-दुरि—छिप-छिप । लोंन—लवण, नौन, नमक कोरि—करोड़, गिनती विशेष, संख्या विशेष, गिननेकी सख्य विशेष । बहुताइत—विशेषता, अधिकता ।

दुरि-दुरि, लोन, कोरि और बहुताइत शब्दोंका सुंदर प्रयोग ।

"दुरि-दुरि पिय-हिय अति तरसावै ...।" —मधुरअली

"राई-लोंन वारि-फेरि .....।" —सूरदास

"जतन 'कोरि' करि हँम सम हारीं ...।" —कुम्भनदास

"बहुताइत' की प्रीति न तोरौ, ए हो चतुर-बिहारी ॥"

—चतुर बिहारीदास

कुछ ऐसी ही बात धर्मदासजी भी कहते हैं—

"साहिब, चितवौ हमरी ओर।
हम चितवैं तुम चितवौ नाँहीं, तुम्हरौ हियौ कठोर ॥
औरँन कौ तौ और भरोसौ, हमें भरोसौ तोर।
'धरमदास' बिनवै कर-जोरी, साहिब कबीर बंदी-छोर ॥"

—सतबानी संग्रह २ भाग

घनानदजी कहते हैं—

"चातक चुहल चहुँओर चाँहैं स्वाँति ही कौं,
सूरेपन-पूरे जिन्हैं बिष-सँम अँमी हैं।
प्रफुलित होत भाँनु के उद्दोत कंज-पुंज,
ता बिन बिचारनि हीं जोति-जाल तेमी हैं ॥
चाँही-अनचाँही जाँन प्यारे पै 'आनँदघन'
प्रीति-रीति बिषम सु रोंम-रोंम रँमी हैं।
मोहि तुम एक, तुम्हे मो सम अनेक आँहि,
कहा कछु चंदहि चकोरन की कँमी है ॥"

अथवा—

"हम एकु तिहारिऐ टेकु गहैं, तुम छैल अनेकँनि सौं सरसौ।
हम नाँम-अधार जिवावत ज्यौं, तुम दै बिसवास बिषै बरसौ॥
'घन आनँद' मीत सुजान सुनौं, तब गौं-गहि क्यों अब मौं सरसौ।
तकि नेंकु दई त्यौं दया ढिग है, सु कहूँ किन दूरहूँ तैं दरसौ॥"

—सुजानसागर

३२

इतराइ—इतराना, घमंड करना। अधिकार—प्रभुत्व, हक। अबला—बलहीना, नारी, स्त्री, यथा—

"स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधू।"

—अमरकोश २।६।२

इतराइ, अधिकार और अबला शब्दोंका सुंदर प्रयोग।

"बात कहति ग्वालिनि 'इतराइ'।" —सूरदास
"ब्रज कौ का 'अधिकार' लयौ तुम......।"

—गोविंद स्वामी

कुछ ऐसी ही बात आलम कविने भी कही है, जैसे—

"प्रेम, नेंम गहें नेह बातें निरबहें जातें,
अब उन्हें कहा परी 'महाराज' भए हैं।
कछुक सँदेसौ ऊधौ, मुख के सुनाउ आँनि,
हम सुख मानें, उन जेते दुख दए हैं॥
इहाँ 'कवि आलम' पुराँनी पैहिचाँनि जाँनि,
जोगी सुधि आए ते बियोगी भूलि गए हैं।
इहाँ बैरी बिरह बिहाल करै बार-बार,
सालत करेजै नटसाल नित नए हैं॥"

—आलमकेलि

ठाकुर कवि कहते हैं—

"थेगरो न लागै ऊधौ चित के चँदोआ फटैं,
बिगरी नहिं सुधरै सनेह सरदँन कौ।
आपनेई हाथ लै कैं करत हवाल ऐसौ,
काप हाँनहार यों हलाल गरदँन कौ॥
"ठाकुर" कहत हौं बिचार यों बिचारि देख्यौ,
बिरलौ मिलै है जो सदाइ दरदँन कौ।
बैर, प्रीति, रीति जासौं जैसी जहाँ माँनि लई,
एक सौ निबाहिबौ है काँम मरदँन कौ॥"

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

"जोड़ कौ खोजि लाल, लरिऐ।
हम अबलँन पै बिना बात ही, रोष नहीं करिऐ॥
मधुसूदन, हरि, कंस-निकंदन, शकट-हरन मुरारि।
इन नाँमन की सुरत करौ, क्यों ठाँनत हमसों रारि॥
निबलँन कौ बध जस नहिं पैहौ, साँची कहत गुपाल।
'हरीचंद' ब्रज ही पै इतने कहा खिस्याने लाल॥

—प्रेम-मलार

३४

ब्याल-अनल—सर्प, साँपके जहरकी ज्वाला, अग्नि, आग।
यथा—

"... कृशानुः पावकोऽनलः।"

—अमरकोश १ । १ । ५४

विष-ज्वाल—विष, जहरकी ज्वाला, लपटें, यथा—

"वह्नेर्द्वयोर्ज्वाल कीलौ ....।"

—अमरकोश १ । १ । ५७

व्याल-अँनल, विप-ज्वाल-आदिके सरस प्रयोग ।

'व्याल-अनँल' सों सब सखा जरत लखि·········।"

—सूरदास

'विप-ज्वाला' तें रूख न उपजत·········।" —श्यामदास

श्रीनंददासजीने उक्त भाव श्रीमद्भागवतसे लिया है । जैसे—

''विपजलाप्ययाद्व्यालराक्षसाद्-
वर्षमारुताद्वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद्विश्वतोभया-
दृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥"

—श्रीमद्भागवत १० । ३१ । ३

अर्थात्—

'सविप-ताल सों, व्याल-काल सों-
अनिल-मेघ सों, बिज्जु-बेग सों ।
वृषभ-व्योम सों, बिस्व-कोप सों,
रिषभ, तू करी है सहाइ हो ॥"

—कन्हैयालाल पोद्दार

नंददासजीके—''गोबरधँन कर धारि करी रच्छा तुम कैसैं'' रूप इस उक्त अवतरणपर 'रहीम' की भी एक सरस सूक्ति है, जैसे—

''जौ 'रहीम' करिबौ हुतो, ब्रजकौ इहै हवाल ।
तौ काहे कर पर धरयौ, गोबरधँन गोपाल ? ॥"

—रहीम-रत्नावली

मतिरामजी कहते हैं—

''कहा दवागिनि के पिएँ, कहा धरें गिरि धीर ।
विरहानल मैं जरत ब्रज, बूड़त लोचन-नीर ॥"

—मतिरामसतसई

नंददासके इस अंशपर कि—“चोरि चित लै गयौ” स-निधिजीकी एक सूक्ति देखिये, जैसे—

“माखन-चोरी सौं अरी, परकि रह्यौ नँदलाल।
चोरन लाग्यौ अब लखौ, नेहिन कौ मन-माल॥”

—रतनहजारा

और भी—

“तब गोबरधँन नख-धरयौ, गोपी-ग्वाल-बचाइ।
अब गिरिधर, यह बिरह सिर, क्यौं न उठावत आइ॥”

—रतनहजारा

विशेष—

भ्रमर-गीतकी सपूर्ण प्रतियोमें इस छदके दोनों—‘ब्याल-अनल और बिष-ज्वाल’ को समासांत पद माना है, जिससे अर्थमें पुनरुक्ति दोष आ जाता है। ‘ब्याल-अनल और बिष-ज्वाल’ एक ही घटनाके द्योतक हैं। अत: ब्याल-अनलको समासान्त पद न मान उसे पृथक-पृथक्, अर्थात् ब्याल पृथक् और अनल पृथक् करके अर्थ करनेसे उसकी—घटनाक्रमकी सगति बैठेगी। अतएव ब्याल, अर्थात् अघासुर और अनल, दावाग्नि, बिष ज्वाल—कालिय सर्पके जहरकी लपटोंसे राख लीं—बचा ली, इत्यादि। सूरदासजीने भी इनको पृथक्-पृथक् ही वर्णन किया है, जैसे—

“ऊधौ, हरि कहिएँ प्रतिपालक।
जे रिपु तुम पहिलें हति छाँडे, बहुरि भए अनि सालक॥
अघ, बक, बकी, तिरनाव्रत, केसी, ए सब मिलि ब्रज घेरत।
सूनौं जाँनि नंद-नंदन-बिन, बैर आपुनौं फेरत॥
बस अपनी हाँसी फेरन को, इंद्र रह्यौ करि घात।
सत्वर ‘सूर’ सहाइ करै को, रही छिनक की बात॥”

—सू[illegible]

३५

पातक—वह कर्म जिसके करनेसे नरक जाया जाता है, कर्ता-को नीचे पटकने—ढकेलनेवाला कर्म, पाप, कल्मष, अघ, बदकारी, गुनाह-आदि।

"पातकोद्योगचरक........।"

—अमरकोश ३।५।३३

प्रायश्चित्त-मतानुसार 'पातक' के नौ भेद कहे जाते हैं, जैसे—अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, संकरीकरण, अपात्री-करण, जातिभ्रंशंकर, मलावह और प्रकीर्णक।

करनहार—करनेवाले। पै-प्यावत—दूध पिलाते,

यथा—

"प्रथम कंस पूतना पठाई।
नंद-घरनि जहँ सुत लएँ बैठी, चलि तिहिं धामहिं आई॥
अति मोहिनी-रूप धरि लीन्हौं, देखति सबही के मन-भाई।
जसुमति रही देखि वाकौ मुख, का की बधू कौन धौं आई॥
नंद-सुवन तबहीं पहिचाँनी, असुर-घरनि असुरँन की जाई।
आपुन वज्र-समान भए हरि, माता दुखित भई अरिपाई॥
अहो महरि, पालागन मेरौ, हौं तुम्हरौ सुत देखँन आई।
यह कहि गोद लयौ अपने तब, त्रिभुवन-पति अति मन मुसिकाई॥
मुख-चूम्यौ गहि कंठ लगाए, विष-लपटयौ अस्तन मुख लाई।
पै-सँग प्रान ऐंचि हरि लीए, जोजँन एक परी मुरिझाई॥
त्राहि-त्राहि करि ब्रज-जन धाए, अति बालक क्यौं बच्यौ कँन्हाई।
अति आँनंद-सहित सुत पायौ, हिरदै-माँझि रहे लपटाई॥
करवर टरी बड़ी मेरे की, घर-घर आँनंद करत बधाई।
'सूर' स्याँम पूतनाँ-पछारी, यै सुनि जिय डरप्यौ नृपराई॥

—सूरसागर

पूतनाँ—राक्षसीविशेष, इस राक्षसीको—दानवीको कंसने कृष्णके मारनेके लिये गोकुलको भेजा था। यह मायासे अपनेको सर्वसुंदर बनाकर नंदके घर गयी थी और वहाँ श्रीकृष्णको अपनी गोदीमें ले विष-लगा स्तन पान कराने लगी। श्रीकृष्ण भी स्तन पान करने लगे, जिससे दानवी पूतनाके स्तनोंमें पीड़ा होने लगी। अतः उसने अपना असली रूप प्रकट कर स्तन छुड़ाना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्ण कब छोड़ने लगे। विशेष वेदना होनेपर दानवी घोर गर्जन करती हुई सदाके लिये सो गयी और श्रीकृष्ण उसकी छातीपर खेलने लगे।

मित्र—वह जो सब बातोंमें अपना साथी, सहायक, समर्थक और शुभचिंतक हो, सब प्रकारसे अपने अनुकूल आचरण करनेवाला और अपना हित चाहनेवाला। बन्धु, सखा, सुहृद्, दोस्त आदि।

"अथ मित्रं सखा सुहृद्।"

—अमरकोश २। ८। १२

पातक, करनहार, पै-प्यावन, पूतनाँ और मित्र शब्दके सुंदर प्रयोग, यथा—

"जहँ व्यापत तनको तन 'पातक' कारन-करता-आप।"

—सूरदास

"जा के 'करनहार' तुम स्वाँमी, सचराचर जु समाज।"

—गोविंददास

"घसि कैं गरल लगाइ उरोजँन, लै रुचि सौं 'पै'-प्यावत।"

—सूरदास

"कपट करि ब्रजहिं 'पूतनाँ' आई।"

—सूरदास

"कपटी 'मित्र' कॉन्ह दुखदाई ·······।"

—चरनदास

कुछ-कुछ ऐसी ही बात श्रीसूर भी कहते हैं—

"उघरि आए, कॉन्ह कपट की खाँनि।
सरबसु हरौं बजाइ-बाँसुरी, अब छोड़ी पैहचाँनि॥
जिन पै-प्यावत पूतनाँ मारी, दालत करी न हाँनि।
बलि-छलि बाँधि पताल पठायौ, नेंक न कीनीं काँनि॥
जैसें बधिक अधिक मृग बिधवत, राग-रागिनी ठाँनि।
अवधि-आस परतीति ओट दै, हँनत बिषम-सर-ताँनि॥
जैसें नाटस टरत न उर तें, तुम ऊधौ, अति जाँनी।
'सूरदास' प्रभु के जिय भावै, आयुस माथें माँनी॥"

—सूरसागर

३६

आगें—आगाड़ीसे ही, पहिलेसे ही। रामचंद—अयोध्याके इक्ष्वाकु-वंशी राजा महाराज दशरथके बड़े पुत्र जो ईश्वर या विष्णु भगवान्‌के बारह कलायुक्त मुख्य अवतार माने जाते हैं और जिनकी कमनीय कथा रामायणमें वर्णित है।

विस्वामित्र—एक लोकप्रसिद्ध महर्षि, इनको गाधिज, गाधेय और कौशिक भी कहते हैं।

विश्वामित्र, कान्यकुब्ज देशके महाराज 'गाधि' के पुत्र थे, अतः क्षत्रियकुलमें जन्म लेनेपर भी अपने तपोबलसे ब्रह्मर्षि कहलाये। ऋग्वेदमें अनेक मंत्र हैं जिनके द्रष्टा विश्वामित्र और उनके वंशज माने जाते हैं। इनका विश्वामित्र नाम ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेपर

पड़ा। ये यज्ञोंमें पुरोहितका कार्य भी किया करते थे। पुराणोंमें लिखा है कि इनके पिता राजा गाधिको एक सत्यवती नामकी कन्या उत्पन्न हुई, जिसे उन्होंने ऋचीक ऋषिको ब्याह दी। ऋषिने एक बार पृथक्-पृथक् दो चरु तैयार कर अपनी स्त्रीको दिये और कहा कि यह एक चरु तो तुम खा लेना जिससे तुम्हें ब्राह्मणोचित गुणों-वाला एक उत्तम पुत्र होगा और दूसरा यह अपनी माँको खिला देना, जिससे उन्हें भी क्षत्रियोचित गुणोंवाला अति तेजस्वी पुत्र होगा। ऋषि-पत्नीकी माँने अपनी पुत्रीका चरु अधिक अच्छा जान उसे खा लिया और अपना चरु अपनी पुत्रीको खिला दिया। अतः ऋषि-पत्नीको तो जमदग्नि नामक पुत्र उत्पन्न हुए जो कि ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रियोचित गुणोंसे पूर्ण थे और ऋषि-पत्नीकी माँको क्षत्रिय होनेपर भी ब्राह्मणत्वके गुणोंसे सम्पन्न विश्वामित्र नामक पुत्र उत्पन्न हुए। विश्वामित्रके शुनःशेप, देवरात, देवश्रवा, हिरण्याक्ष, गालव, जय, अष्टक, कच्छप, नारायण और नर आदि सौ पुत्र उत्पन्न हुए, जिनसे इनके कौशिक वंशकी खूब वृद्धि हुई। एक बार विश्वा-मित्रने बड़ा तप किया जिससे घबड़ाकर इन्द्रने इनका तप भग करने-को 'मेनका' नामकी अप्सरा इनके पास भेजी। उस मेनका अप्सरा-से इनके 'शकुन्तला' नामकी एक कन्या जन्मी जो कि कण्व ऋषिके आश्रममें पलकर 'दुष्यन्त' को ब्याही गयी। इनके विषयमें यह और भी प्रसिद्ध है कि—इक्ष्वाकुवंशके राजा त्रिशंकुने एक बार सशरीर स्वर्ग जानेकी कामनासे एक यज्ञ करना चाहा, परंतु उनके पुरोहित वशिष्ठने कहा कि ऐसा होना असम्भव है। इसपर त्रिशंकुने

विश्वामित्रकी शरण ली, और इन्होंने उसे सशरीर स्वर्ग पहुँचा दिया। ये बड़े क्रोधी थे, प्रायः लोगोंको तनक-तनक-सी बातोंपर शाप दे दिया करते थे। महाराज हरिश्चन्द्रकी सत्यताकी परीक्षा लेनेवाले भी आप ही थे।

तारका—ताड़का, राक्षसीविशेष, जिसे कि विश्वामित्र ऋषिकी आज्ञासे श्रीरामचन्द्रने मारी थी।

कहते हैं ताड़का, सुकेतु नामक एक वीर यक्षकी कन्या थी। सुकेतुने तपस्याद्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्नकर इस बलवती कन्याको पाया, जिसमें हजार हाथियोंका बल था। यह कन्या सुकेतुने सुंदको ब्याही। एक बार अगस्त्य ऋषिने किसी बातपर कोपित हो सुंदको मार डाला; अतः ये अपने पुत्र मारीचको लेकर ऋषिको खा जानेके लिये दौड़ी। इसपर ऋषिने शाप दिया और ये माता-पुत्र दोनों राक्षस हो गये। उसी वैरके कारण ऋषिके तपोवनका नाश करने लगे, जिससे वह तपोवन प्राणियोंसे शून्य हो गया। यह सब व्यवस्था विश्वामित्रने महाराज दशरथजीसे कह श्रीरामचंद्र और लक्ष्मणको लाये और उनके हाथसे ताड़काका वध कराया, यथा—

'ऋषि सँग हरखि चले दोउ भाई।
पितु-पद बंदि सीस लै आयुस, सुनि सिष आसिस पाई॥
नील-पीत-पाथोज बँरन बपु, वै किसोर बनि आई।
सर-धँनु-पाँनि, पीतपट कटि तट, कसे निखंग बनाई॥
कलित कंठ मनि-माल कलेवर, चंदन खौरि सुहाई।
सुंदर बदन, सरोरुह लोचन, मुख-छबि बरनि न जाई॥

पल्लव, पंख, सुमन सिर सोहत, क्यों कहौं बेष लुनाई।
मनु मूरति धरि उभै भाग भई, त्रिभुवन सुंदरताई॥
पैठति सरनि मिलनि-चढ़ि चितवत खग-मृग-वन-रुचिराई।
सादर, सभै सप्रेम पुलकि मुनि, पुनि-पुनि लेति बुलाई॥
'एकु तीर तकि हती 'तारिका', बिद्या बिप्र पढ़ाई।'
राख्यो जग्य जीति रजनीचर, भइ जग-बिदित बड़ाई॥
चरन-कँमल-रज-परसि अहिल्या, निज पति-लोक पठाई।
'तुलसिदास' प्रभु के बूझें मुनि, सुरसरि-कथा सुनाई॥

—गीतावली

अथवा—

'दसरथ सों ऋषि आनि कह्यौ।
असुरन सों जग होंन न पावत, राम-लखन तब संग दयौ॥
मारि 'तारिका' जग्य करायौ, बिस्वामित्र अनंद भयौ।
सीय-सुयंबर जानि 'सूर' प्रभु कौं ऋषि लै ता ठौर गयौ॥'

—सूरसागर

कुलदीप—कुलके दीपक, उजाला करनेवाले।

आगें, रामचंद, बिस्वामित्र, तारका और कुलदीप शब्दोंके सरस प्रयोग, यथा—

'आगें गाय, पाछें गाय, इत गाय, उत गाय ....।'

—छीतस्वामी

'गरभ सुच्यौ कौसिल्या माता, 'रामचंद' निधि आई॥'

—सूरदास

चले जात मुनि दीन्ह दिखाई।
सुनि 'तारिका' क्रोध कर आई॥'

—

'भले भए 'कुलदीप' लाड़िले, मागत लाज न आई ॥'

—गंगाबाई

कुछ ऐसी ही बात श्रीसूर भी कहते हैं—

'को गोपाल कहा को बासी, कासों है पैहचाँनि ।
तुम सँदेस कोंन के पठए, कहत कोंन कै आँनि ॥
अपनी चोंप मधुप उड़ि बैठत, भोर भलैं रस-जाँनि ।
पुनि वह बेलि बढ़ो कै सूखौ, ताहि कहा हित-हाँनि ॥
प्रथम बेंनु मन हरयो अहीरिन, राग-रागिनी-ठाँनि ।
पुनि वौ बधिक बिसास सुघाती, हँनत बिसम-सर-ताँनि ॥
पै-प्यावत पूतनाँ बिनाँसी, छले सु बलि से दाँनि ।
सूपनखा, तारका निपाती, 'सूरदास' यै बाँनि ॥

—सूरसागर

३७

स्त्री-जित—स्त्रीके आधीन, स्त्री-वश्य, स्त्रीने जीत लिया, स्त्रैण । लछ-लाघव—लक्ष्य, निसाना मारनेमें चतुर । कोपि—कोपकर, क्रोधित होकर, गुस्सेमें आकर । बिरूप—कुरूप, भोंड़ा, लोपि—खोकर, तोड़कर, नष्टकर ।

स्त्री-जित, लछ-लाघव, कोपि, बिरूप, और लोपि शब्दोंके सुंदर प्रयोग, यथा —

"ए निरखे 'इसत्री-जित' पुरे, तनक न माँन-अमाँन ।

—ज्ञानदास

"लछ-लाघव में चतुर कहावत, ऐ दोटा दोऊ बारे ॥"

—रामदास

"गिरि पे 'कोपि' कर चढ्यौ इंद्र रिसाइ ।"

—केसोदास

"वाम्हन रूप-'बिरूप' कियौ, अति हरष बढायौ ।"

—गदाधरदास

"लाज 'लोपि' गिरिधर सब घेरीं, सखियँन करि चतुराई ।"

—चतुर्भुजदास

सूरदासजी कहते हैं—

"दंडक-बन आए दोउ भाई ।
कॉम-बिवस, ब्याकुल उर-अंतर, राच्छसि एकु तहाँ चलि आई ॥
हँसिकर रॉम कह्यौ सीता सौं, इहि लछमन के निकट पठाई ।
भृकुटी, कुटिल, अरन अति लोचन, अगिनि-सिखा-मुख कहयाँ फिराई ॥
यै बोरी भई मदन-बिबस सो, ध्यॉन चरन रघुराई ।
बिरह-बिथा-मन लाज गई छुटि, बार-बार अकुलाई ॥
रघुपति कहयाँ निलज्ज निपट तू, नारि राछसी ह्याँ तें जाई ।
'सूरज' प्रभु पतिनी-ब्रत एकै, काटी नॉक गई खिसिआई ॥"

—सूरसागर

३८

आली—सखी, सहचरी, सहेली । बराबरवाली, समवयस्क, यथा—

"आलिः सखी वयस्या च.........।"

—अमरकोष २ । ६ । १२

बलि राजा—दानव-पति, बलि, दानवपति विरोचनके पुत्र और परम भक्त प्रह्लादके पौत्र (नाती) थे । विष्णु भगवान्ने वामन अवतार लेकर इसे छला था और पुन पातालका राज्य दिया था।
बनमाली—भगवान् श्रीकृष्णका नाम विशेष, यथा—

"वनमाली बलिध्वंसी.........।"

—अमरकोष १ । १ । २१

अथवा—

"वनमाली तु गोविंदे······।"

—मेदिनीकोष

अथवा वनमालाको जो धारण करे वह 'वनमाली'। वनमाला—

"आपादपद्मं या माला 'वनमालि' इति सा मता।"

—कलिंगो

अथवा—

"भूततन्मात्ररूपां वैजयन्त्याख्यां वनमालां
वहन् सा 'वनमाली'।" —विष्णुसहस्रनामशांकरभाष्य

अर्थात् भूततन्मात्रोंकी बनी हुई वैजयंती नामक वनमाला धारण करनेसे भगवान् 'वनमाली' कहलाते हैं।

बाँमन—शुद्ध वामन, विष्णु भगवान्का नाम विशेष, विष्णुका पाँचवाँ अवतार जो कि दानवपति बलि राजाको छलनेके निमित्त हुआ था, यथा—

"जैसें भयौ 'बाँमन' अवतार।
कहौं सुनौं सो अब चित-धार॥
हरि जब अंमृत सुरन-पियायौ।
तब बलि असुर बहुत दुख पायौ॥
सुक्र ताहि पुनि जग्य करायौ।
सुर जै राज्य त्रिलोकी पायौ॥
निन्यानबैं जग्य पुनि किए।
तब दुख भयौ अदिति के हिए॥
हरि-हित उन्ह पुनि बहुत पुकारयौ।
'सूर' स्याँम बाँमन-बपु धारयौ॥"

द्वारें ठाढे हैं द्विज बाँमन।
चारों बेद पढ़त मुख-आगर, अति सुगंध सुर गाँमन॥
बाँनी-सुनि बलि पूछन लागे, इहाँ बिप्र करो आँमन।
चरचित चंदन, नील कलेवर, बरसत बूँदन साँमन॥
चरन-धोइ चरनोदक लीयौ, माँगि देउँ मन-भाँमन।
तीन पैंड बसुधा हौं चाहौं, परन-कुटी के छाँमन॥
इतनो कहा बिप्र तैं माँग्यौ, बहुत रतन देउँ गाँमन।
'सूरदास' प्रभु बोलि छल्यौ बलि, धरयौ पीठि पै पाँमन॥

—सूरसागर

वामन शब्दका एक और कमनीय अर्थ होता है, जैसे—

"सम्भजनीय इति वामनः।"

—वि० स० शा० भा०

अर्थात् भली प्रकार भजने योग्य होनेसे आप 'वामन' हैं, जैसा कि मन्त्रवर्णमें लिखा है—

"मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते।"

—कठोपनिषद् २।५।३

अर्थात् मध्यमें स्थित वामनको विश्वेदेवा उपासना किया करते हैं।

परबत—पहाड़, शैल, गिरि, नग। यथा—

"महीध्रे शिखरिक्ष्माभृदहार्यधरपर्वताः।"

—अमरकोष २।३।१

अकाइ—शरीर, बिना मतलब। सत्त—सत्य, ठीक यथार्थ—

"सत्यं तथ्यमृतं सम्यग् ...... ।"

—अमरकोष १।७।२२

लोभ—तृष्णा, लालच, लुब्ध, दूसरेके पदार्थको लेनेकी इच्छा करना।

आली, बलिराजा, बनमाली, बाँमन, परवत, अकाइ, सत्त और लोभ शब्दोंके सुंदर प्रयोग, यथा—

"हो मेरी 'आली' भाँनु-सुता के तीर भँवीर उड़ावहीं।"
—परमानंददास

"सुनि आँनद चले 'बलिराजा' आहुति जग्य बिसारी।"
—सूरदास

"ठाढ़ौ उत 'बनमाली' गैल में''माँगत गोरस दाँन।"
—चतुर्भुजदास

"चारौं बेद पढ़त मुख आगर, है 'बाँमन' बपुधारी॥"
—सूरदास

"आबौ सिमटि सकल ब्रजबासी, 'परवत' कौं बलि दीजै।"
—आसकरन

"बदि 'अकाइ' फारि मुत्र दीन्हौं'''''''।" —सूरदास

"ग्वालिनि 'सत्त' बचन मुख भाँखि।" —कृष्णदास

"दूध, दही कौ 'लोभ' न मेरें, चाहे जेतौ खाइ।"
—माधौदास

श्रीनंददासजीने ३० और ३८ वें छंद, श्रीमद्भागवतके निम्न-लिखित श्लोकोंके आधारपर रचे हैं—

"मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥"
—श्रीमद्भागवत १०। ४७। १७

अर्थात्—

निठुर बनि बधौ है व्याध ज्यों बालि हू कौं,
स्व-रत तिय कुरूपा कीन्ह यों के बसी हो।
बलि नृप बलि हू लै काक ज्यों पास दी है,
तज सकै न कथा, पै स्याम-प्रीती बुरी है॥

—कन्हैयालाल पोद्दार

श्रीसूर कहते हैं—

'ऊधौ, तनक सुजस हरि को स्रवननि सुन।
कंचन-काँच कपूर कटुर रस, सम दुख-सुख गुन-औगुन॥
नीम सुनत तजि घर कुरंब मग, जाइ बसत पर कॉनन।
परमहंस बिहंग देखतहिं आवत भिच्छा-माँगन॥
बालकपन को राज बिहारयौ, लोक-लाज-डर-डारी।
सूपनखा की नाक बिदारी, तिय-बस भए मुरारी॥
बलि कौं बाँधि पताल पठायौ, कीन्हे जाचनि आई।
'सूर' प्रीति जानी तैं हरि की, कथा जात नहीं गाई॥

—सूरसागर

श्रीनंददासजीके—'माँगत बाँमन रूप धरि·········'पर कविवर ठाकुरकी भी यह सूक्ति देखने लायक है, जैसे—

'साँची कहारें करी हम सों, हम तौ तऊ नैंकु न मॉनती हैं।
उन बामन ह्वै बलि जाइ छले, हम सो बतियाँ पहिचाँनती हैं॥
कवि 'ठाकुर' बाँधि गईं अखियाँ, तिनसों मिलि कैं सुख मॉनती हैं।
तुम तौ अब राम के राज करौ, हम तौ घरै बास न जाँनती हैं॥'

—ठाकुरशतक

पद्माकरजी कहते हैं—

'तीनि पैग पुहुमी लई, प्रथमहिं परम पुनीत।
बहुरि बढ़त लखि बामनहिं, भे बलि कछुक सभीत॥'

—जगद्विनोद

बिहारीलालने भी 'बलि वामन' की करतूतपर बड़ी व्यंगभरी रुचिर रचना रची है, जैसे—

दृहै दिगुनी पहुँचौ गिलति, अति दीनता दिखाइ।
'बलि-बाँमन' कौ ब्यौंत लखि, को बलि तुम्हें पत्याइ॥

—बिहारी सतसई

३९

परसराँम—परशुराम, महर्षिविशेष। कहते हैं परशुराम ईश्वरके छठे अवतार हैं। इनके पिताका नाम महर्षि जमदग्नि और माता रेणुका थीं। पहिले इनका नाम केवल 'राम' था, परंतु गंधमादन पर्वतपर अपनी घोर तपस्यासे महादेवको प्रसन्नकर उनसे एक तेजोमय परशु पाया, तभीसे आपका नाम 'परशुराम' पड़ा। पुराणोंमें लिखा है—इन्होंने अपने पिताकी आज्ञासे माता रेणुकाका सिर काट डाला था। इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियरहित भी किया था आपने पिताके बदलेमें।

संघारी—संहारी, नाश कर दी, मार डाली। सोंनितकुंड—शोणितकुण्ड, रुधिरकुण्ड, रुधिरके कुण्ड, चहबच्चा, खड्डा, गड्हा। पोखे—पोषित किये, पालन किये, परवरिश किये। पित्र—पुरखे, पिता—प्रपितामहादि, बाप-दादे-परदादे आदि। बिलग—बुरा, रंज।

परसराँम, सघारी, सोंनितकुंड, पोखे, पित्र और बिलग आदि शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, यथा—

'तिन्ह सेना बहुतक 'संघारी'।'

—कृपाराम

'भयौ ज्यौं 'परसराँम' अवतार।'

—सूरदास

'सोंनित-कुंड' बहुत तहँ भरे।'

—तोषनिधि

'जनम लियौ बसुदेव-देवकी, नंद-जसोमति 'पोखे' हो।'

—अनन्यअली

'पित्र-करम' करन नँदराई, चले जमुन-जल न्हाँन।'

—माधौदास

'बिलग, जनि मानो' ऊधौ प्यारे।'

—सूरदास

परशुरामकी इस कथापर सूरदासजीका यह पद देखिये, आप कहते हैं—

'परसराँम जमदग्नि-घर लीन्हौं यों अवतार।
माता ताकी जमुन-जल, लेन गई इकबार॥
लागी तहाँ अबार, तिहिं ऋषि करि क्रोध अपार।
परसराँम सों यों कह्यो या को बेगि सँहार॥
और सुतन सब कही पिता, नहिं कीजै ऐसी।
क्रोधवंत रिषि कह्यौ, करौ इनहूँ सों वैसी॥
परसराँम तिन सबन कों मार्‌यौ खरग प्रहार।
रिषि कह्यौ होइ प्रसन्न बर, माँगौ देऊँ कुमार॥
परसराँम तब कह्यौ यहै बर देउ तात अब।
जानैं नाहिंन मुए फेरि कैं जीवैं ए सब॥

रिषि कह्यौ यह बर दियौ, मैं इनकों देहुँ उठाई ।
परसराँम उनकों दियौ, सोधत मनों जगाई ॥
परसराँम बन गए, तहाँ दिन बहुत लगाए ।
सहस-बाहु तिहिं समें रिषी के आस्रम आए ॥
काँमधेंनु जमदग्नि की लै गयौ नृपति छिनाइ ।
परसराँम कों बोलि रिषि, दियौ बृत्तांत सुनाइ ॥
परसराँम सुनि पिता-बचन, ताकों संहारयौ ।
काँमधेंनु दई आँनि, बचन रिषि कौ प्रतिपारयौ ॥
सहसबाहु के सुतँन पुनि राखी घात-लगाइ ।
परसराँम जब बन-गए, मारे रिषि कों धाइ ॥
रिषि की इहि गति देखि, मात तब रोइ पुकारी ।
परसराँम तुम आइ, लगत क्यों नाहिं गुहारी ॥
यों सुनि कें आए तुरत, मारे तिन्हें प्रचार ।
बहुरो जिय-धरि क्रोध हति छत्रिय इक्किसवार ॥
जग अराज ह्वै गयौ, रिषिँन तब अति दुख पायौ ।
लै पृथ्वी कौ दाँन, ताहि फिरि बनहिं पठायौ ॥
बहुरि राज दियौ छत्रियन, भयौ रिषिँन आनंद ।
'सूरदास' पावत हरख, गावत गुन-गोबिंद ॥'

—सूरसागर

४०

हिरनकच्छप—दैत्यविशेष, जो कि प्रह्लाद भक्तके पिता थे। शुद्ध नाम हिरण्यकशिपु और प्रसिद्ध विष्णु-विरोधी। हिरण्यकशिपु महर्षि कश्यप और दितिके पुत्र थे। इन्हें ब्रह्मासे यह वर मिला था कि मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी आदि किसीसे न मरूँ। इससे ये अत्यन्त प्रबल और अजेय हो गये। जब इन्होंने अपने परम भागवत पुत्र

प्रह्लादको भगवद्भक्ति करनेके कारण बहुत सताया और एक दिन उसे खंभेसे बाँध और तलवार खींचकर मारनेको बार-बार पूछने लगा कि बता ? तेरा भगवान् कहाँ है ? जो आकर बचावे, तब भगवान् नृसिंह (आधे सिंह आधे मनुष्य) का रूप धारणकर खंभेको फाड़ प्रकट हुए और हिरण्यकशिपुको फाड़कर मार डाला।

ढीठ—धृष्ट, बेअदब, कही न माननेवाला।

'धृष्टे धृष्णग्वियातश्च ।'

—अमरकोश ३ । १ । २५

प्रहलाद—प्रह्लाद, दैत्येंद्र हिरण्यकशिपुके परमभक्त बेटे जिनके निमित्त विष्णु भगवान्का चौथा नृसिंह अवतार हुआ था। झगरयौ—झगड़ा किया, तकरार ठानी। सिच्छा (शिक्षा)—शिक्षा, उपदेश। बपु—शरीर, अवतार। नरसिंह—नृसिंह, प्रसिद्ध नृसिंहावतार जो अपने भक्त प्रह्लादके लिये किया था। नखँन—नाखूनोंसे।

हिरनकच्छप, ढीठ, प्रहलाद, झगरयौ, सिच्छा, बपु, नरसिंघ और नखँन शब्दोंके सुंदर प्रयोग, यथा—

"'हिरनकच्छप' अति प्रबल दनुज है, तप कीन्हौं परचंड।"

—सूरदास

"मारग जान न पावत कोऊ भयौ 'ढीठ' अति स्याँम।"

—आम कथन

"तबहिं असुर 'प्रहलाद' बुलाए, लए गोद-भरिअंक।"

—सूरदास

"मोरहिं कीन्ह करत मोसों 'झगरयौ'।"

—[illegible]

"'सिच्छा' दई नई इहि ग्वालिनि, सिव पैं हाथ धराई।"

—कृष्णदास

"प्रघट भए नरहरि-'वपु' धरि हरि, कटकटकर उचारी।"

—सूरदास

"तब बोले 'नरसिंघ' कृपाकरि सुनहुँ भक्त मम बात।"

—सूरदास

"पकरि लियौ छिन माँहि असुर बलि, डारयौ 'नखँन' बिदारी।"

—सूरदास

४१

सिसुपाल—शिशुपाल, चेदि देशके राजा दमघोषके पुत्र थे। दमघोषको भगवान् श्रीकृष्णकी बूआ (भूआ) व्याही थी। शिशुपालकी माता सुप्रभाको यह माळूम हो गया था कि इसे (शिशुपालको) श्रीकृष्ण ही मारेंगे, अतः उसने भगवान्‌से शिशुपालके सौ अपराध क्षमा करा लिये थे। महाराज युधिष्ठिरके प्रसिद्ध राजसूय-यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णका सर्वोपरि पूजन होनेके कारण शिशुपालने श्रीकृष्णको बड़ी गालियाँ दीं, अतएव भगवान् श्रीकृष्णने उसकी सौ गालियाँ खानेके बाद मार डाला। इस घटनाके आधारपर माघ कविने एक बड़ा सुंदर नाटक जिसका नाम 'शिशुपालवध' है रचा।

भीषँम—भीष्मक, राजा विशेष, भीष्मक विदर्भ देशके राजा थे। इन्हींकी पुत्री श्रीरुक्मिणी भगवान् श्रीकृष्णको व्याही थीं।

देसै—देशको, नगरको। दुल्ही—दुलहिन, नयी बहू, वधू, नव परिणीता वधू, नई व्याही बहू। छुधित—क्षुधित, भूखा, विभुक्षित।

"बुभुक्षितः स्यात्क्षुधितो जिघत्सुरशनायितः ।"
—अमरकोश ३ । १ । २०

ग्रास—कौर, कवल, यथा—

"ग्रासस्तु कवलः पुमान् ।"
—अमरकोश २ । ९ । ५४

सिसुपाल, भीषँम, देसै, दुल्ही, छुधित और ग्रास शब्दोंके सुंदर प्रयोग । यथा—

"रुकुम कह्यौ 'सिसुपालहिं' दैहों, नाहिं कृष्ण सौं काम ।"
—सूरदास

"एक समें नारद मुनि आए, नृप 'भीषँम' के देस ।"
—सूरदास

"ऐसेहि साधु बसत वा 'देसै' ।"
—लोकनाथ

"'दुलही' लाल नई तोहि लैहौं ।"
—परमानंददास

"लाल होहिगौ 'छुधित' ग्वालिनी · · · ।"
—कृष्णदास

"सिंघ-'ग्रास' का स्यारहिं भाखि है, माधव ।"
—चरनदास

श्रीनंददासजीके इस छंदके—'आपनैं स्वारथी' पर श्रीसूरकी यह सूक्ति भी बड़ी सुंदर है, जैसे—

"अपने स्वारथ के सब कोऊ ।
चुपि करि रहौ मधुप रस लंपट, तुम देखे औ ओऊ ॥
जो कुछ कहौ, कह्यौ चाहत हौ, करि निरवारौ सोऊ ।
अब मेरे मन ऐसी परंद, होइ होउ सो होऊ ॥

तब कित रास रच्यौ वृंदावन, जौ ग्याँनी हो तोऊ।
लीन्हें जोग फिरत जुवतिन में, बड़े सुजस तुम दोऊ॥
छुटि गयौ मौन-परेखौ रे अलि, हिऐं हतो बहु जोऊ।
'सूरदास' प्रभु गोकुल बिसरौ, चित चिंतामनि खोऊ॥"

—सूरसागर

४२

कवि-कथन

आवेस—उन्मत्त, जोश, व्याप्ति, संचार। रँगीली—रँगी हुई, अनुरागी, प्रेममें अनुरक्त।

आवेस और रँगीली शब्दके सरस प्रयोग। यथा—

"भरि 'आवेस' झुकी मोंहन पै, हो-हो करि सब गोरी।"

—नागरीदास प्रा०

"रँगीली ग्वालिनी हो, तैं मोहे नँदलाल।"

—श्यामदास

४३

तिमिर—अंधकार, अज्ञान, अचंचल। यथा—

"अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः।"

—अमरकोश १।८।३

रज—धुलि, पाद-धूलि। *त्रिभुवन-आनँद*—त्रिभुवनका आनंद। *वारि*—न्यौछावरकर, निछावरकर। बंदनाजोग—प्रणाम करने योग्य, नमस्कार करनेके काबिल।

रज, त्रिभुवन-आनँद, वारि और वंदना-जोग—आदि सुंदर शब्दोंके प्रयोग। यथा—

"छाँडिकैं 'रज' लुटत रज मे दीन दीमन अंग।"

—नागरीदास

"जो 'आँनद' जसुमति-घर बरखत,'त्रिभुवन-आँनद' चखुव न लेख।"

—परमानददास

'बारि' अभूषॅन देति परमपर, ग्वालिनि सब सुकुमारी हो।"

—छीतस्वामी

"अहो 'बंदना-जोरा' लाडिले, लच्छिन अति सुचि सीखे हो।"

—आसकरन

कुछ ऐसी ही कमनीय कामना ब्रह्माजीने भी की है, जैसे—

"तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमांघ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितुं तु निखिलं भगवान्मुकुंद-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥"

—श्रीमद्भागवत १०। १४। ३४

अर्थात् 'इस भूमिमें और खासकर वृंदावनमे तथा उसमे भी गोकुलमें जन्म होना परम सौभाग्यका कारण है, क्योंकि यहाँ जन्म होनेसे किसी-न-किसी व्रज-वासीके चरणोंकी पवित्र-धूलि मेरे सिरपर पड़ ही जायगी।'

४४

दुबिधा—संदिग्ध-अवस्था, सशय, चिंता, असमजस, यह ठीक वा वह ठीक। दोमेसे किसी एक बातपर चित्त न जमनेकी क्रिया वा भाव, अनिश्चय, चित्तकी अस्थिरता आदि।

ग्यॉन—ज्ञान, वस्तुओं और विषयोंकी वह भावना जो—मन वा आत्माको बोध हो, जानकारी, प्रतीति।

ज्ञानकी परिभाषामें न्याय-आदि दर्शनकारोंका अभिमत है कि—"जब विषयोंका इंद्रियोंके साथ, इंद्रियोंका मनके साथ और मनका आत्माके साथ संबंध होता है, तभी 'ज्ञान' उत्पन्न होता है।

दुविधा और ग्यानके प्रयोग, यथा—

"गई न मन तें 'दुबिधा' अबतक, खोटे और खरेकी।"

—ज्ञानदास

"निरगुन-'ग्याँन' सिखावन आयौ ....।"

—सूरदास

४५

भँमर—भ्रमर, भौंरा, भँवरा, अलि, षट्पद मधुप, भृंग, मधुव्रत।

"मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपालितः।
द्विरेफपुष्पलिड्भृंगषट्पदभ्रमरालयः ।"

—अमरकोश २ । ५ । २९

ब्रज-वनिता—ब्रजकी स्त्रियाँ, नारी। पुंज—समूह, झुंड। अरुन—अरुण, लाल। यथा—

"अव्यक्तरागस्त्वरुणः.....।"

अमरकोश—१ । ५ । १५

मधुप—भौंरा, भ्रमर।

भँमर, ब्रज-वनिता, पुंज, अरुन और मधुप शब्दके सुंदर प्रयोग यथा—

"माँनों परम अनूप कंज पै, 'भँमर' रह्यौ मड़राइ।"

—कुंभनदास

"छाँडिकैं 'रज' लुटत रज मैं दीन दीसत अंग।"

—नागरीदास

"जो 'आनँद' जसुमति-घर बरखत,'त्रिभुवन-आँनद'रहुव न रेख।"

—परमानददास

'बारि' अभूषन देति परसपर, ग्वालिनि सब सुकुमारी हो।"

—छीतस्वामी

"अहो 'बंदना-जोग' लाडिले, कच्छिन अति सुचि सीखे हो।"

—आसकरन

कुछ ऐसी ही कमनीय कामना ब्रह्माजीने भी की है, जैसे—

"तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमांघ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितुं तु निखिलं भगवान्मुकुंद-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥"

—श्रीमद्भागवत १०। १४। ३४

अर्थात् 'इस भूमिमे और खासकर वृंदावनमे तथा उसमे भी गोकुलमें जन्म होना परम सौभाग्यका कारण है, क्योंकि यहाँ जन्म होनेसे किसी-न-किसी व्रज-वासीके चरणोंकी पवित्र-धूलि मेरे सिरपर पड़ ही जायगी।'

४४

दुबिधा—संदिग्ध-अवस्था, संशय, चिंता, असमंजस, यह ठीक वा वह ठीक। दोमेंसे किसी एक बातपर चित्त न जमनेकी क्रिया वा भाव, अनिश्चय, चित्तकी अस्थिरता आदि।

ग्यॉन—ज्ञान, वस्तुओं और विषयोंकी वह भावना जो—मन वा आत्माको बोध हो, जानकारी, प्रतीति।

ज्ञानकी परिभाषामें न्याय-आदि दर्शनकारोंका अभिमत है कि—"जब विषयोंका इंद्रियोंके साथ, इंद्रियोंका मनके साथ और मनका आत्माके साथ संबंध होता है, तभी 'ज्ञान' उत्पन्न होता है।

दुविधा और ग्यानके प्रयोग, यथा—

"गई न मन तें 'दुबिधा' अबतक, खोटे और खरेकी।"

—ज्ञानदास

"निरगुन-'ग्यौंन' सिखावन आयौ·······।"

—सूरदास

४५

भँमर—भ्रमर, भौंरा, भँवरा, अलि, षट्पद मधुप, भृंग, मधुव्रत।

"मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपालितः।
द्विरेफपुष्पलिड्भृंगषट्पदभ्रमरालयः ।"

—अमरकोश २।५।२९

व्रज-वनिता—व्रजकी स्त्रियाँ, नारी। पुंज—समूह, झुंड। अरुन—अरुण, लाल। यथा—

"अव्यक्तरागस्त्वरुणः·····।"

अमरकोश—१।५।१५

मधुप—भौंरा, भ्रमर।

भँमर, व्रज-वनिता, पुंज, अरुन और मधुप शब्दके सुंदर प्रयोग यथा—

"मानौं परम अनूप कंज पै, 'भँमर' रह्यौ मड़राइ।"

—कुंभनदास

"आईं जुरि ब्रज-बनिता' चहुँ-दिस, घेर लये नँदलाल।"
—कृष्णदास

"चितै रही छबि-'पुंज' स्याम कों, मन में प्रीति अपार।"
—परमानंददास

"प्राची-दिसि नहिं 'अरुन' देखियतु, औ सुनियतु नहिं बन खग-रोर।"
—गोविंदस्वामी

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक कहते हैं—

"काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसंगमम्।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत्॥
—श्रीमद्भागवत १०।४७।११

श्रीसूर कहते हैं—

"इहि अंतर मधुकर इक आयौ।
निज सुभाव अनुसार निकट होइ, सुंदर-सबद सुनायौ॥
पूँछन लागीं ताहि गोपिका, कुबजा तोहिं पठायौ।
कैधौं 'सूर' स्यामसुंदर कौ, हमें सँदेसौ लायौ॥"
—सूरसागर

४६

भ्रमर-प्रति उपालम्भ

(कथन)

घातें—चोटें, दाव, अवसर, अभिप्राय सिद्ध करनेकी चालें, कोई कार्य करनेके लिये अनुकूल अवसरकी खोज, दाँव-पेच, चाल, चालबाजी, कपटयुक्ति। कपटी—छली, खोटा, धोखेबाज, धूर्त, दगाबाज। नंद-किसोर—भगवान् श्रीकृष्णका नाम विशेष, नंदके किशोर बेटे, लाड़िले।

घातैं, कपटी और नंदकिसोर शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, यथा—

"सूरस्याँम नागर नागरि सों, करत प्रेमकी 'घातैं'।"

—सूरसागर

"कपटी, कुटिल, सँघाती तेरौ, मधुकर कहा लजात ॥"

—परमानंददास

"होरी खेलि नेंकु नहिं जानत, नागर 'नंदकिसोर'।"

—माधौदास

श्रीसूर कहते हैं—

"मधुकर, का निरगुन ह्याँ गावौ।
ए प्रिय-कथा नगर-नारिनि सों, कहहु जहाँ कछु पावौ ॥
जिन परसौ अब चरन हमारे, बिरह-ताप उपजावौ।
सुंदर-मधु-आँनन अनुरागी, नैंननि आँनि मिलावौ ॥
जाँनति मरम नंद-नंदन कौ, और प्रसंग चलावौ।
हँम नाहिंन कँमला सी भोरीं, करि चातुरी मनावौ ॥
अति बिचित्र लरिका की न्याँई, गुर-दिखाइ बौरावौ।
ज्यों अलि कितव सुमन-रसलै तजि, जाइ बहुरि नहिं आवौ ॥
नागर रति-पति 'सूरदास' प्रभु, किहि बिधि आँन मिलावौ ॥

—सूरसागर

अथवा—

जा-जा रे भँवरा, दूरि-दूरि।
तेरौ सौ अँग-रँग है उनकौ, जिन मेरौ चित कियौ चूरि-चूरि ॥
जब लगि तरुन-फूल महकति हैं, तब लगि रहत हजूरि-जूरि।
'सूर' स्याँम हरि मतलब के मधुकर, लेत कली-रस घूरि-घूरि ॥"

—रागरत्नाकर

४७

लाजहु—आज भी, लज्जा भी, शर्म भी । स्याँम—भगवान् श्रीकृष्णका नाम विशेष, काले, काले हृदयवाले ।

श्यामसे गोपियोंकी प्रीति कैसी थी—

"जित देखौं, तित स्याँम मई है ।
स्याँम कुंज-बन, जमुनाँ स्याँमा, स्याँम गगन-घन-घटा-छई है ॥
सब रंगनि में स्याँम भरौ है, लोग कहत यह बात नई है ।
हूँ बौरी कै लोगन ही की, स्याँम पुतरिया बदल गई है ॥
चंद-सार रबि-सार सॉवरौ, मृगमद स्याँम काँम बिजई है ।
नीलकंठ कौ कंठ स्याँम है, मनौं स्यामता-बेलि-बई है ॥
स्रुति कौ अच्छर स्याँम देखियतु, दीप-सिखा-पै स्याँम तई है ।
नर-देवनकी कौन कथा है, अलख-ब्रह्म-छबि स्याँम-मई है ॥"

अथवा—

"कौनन दूसरौ नाम सुनौं नहिं, एकु ही रंग रँग्यौ इहि डोरौ ।
धोखेंहू दूसरौ नाम कढ़ै, रसना-मुख-बाँधि हलाहल बोरौ ॥
'ठाकुर' चित्तकी वृत्ति इहै, हम कैसेहुँ टेक तजैं नहिं भोरौ ।
बावरी वे अँखियाँ जरि जाहु, जो साँवरौ-छाँडि निहारती गोरौ ॥"

—ठाकुरशतक

इसके विपरीत—

"लावत न अंजन, लगावत न मृग-मद,
कालिंदी के कूल न कदंब-तरें जात हैं ।
हेरति न घन-गिरि-गहन बनक बैंनी,—
बाँधत रहत नीली-सारी ना सुहात हैं ॥

"गोकुल" तिहारी यै पाती बाँचि है जु कौन,
ताहू मैं तौ कारे-आखरनि हीं की पाँति है।
जा दिन तें मिले वा गँमार-गूजरी तें कौन्ह,
ता दिन तें कारौ रंग देखें अनखाति है॥"
—गोपीप्रेमपियूषप्रवाह

गोपी-नाथ—गोपियोंके नाथ, रक्षक, सहायक। जदु-कुल—यदुकुल, यदुनामक क्षत्रियोंका कुल, पीढ़ी, यदुवंश।

महाराज 'यदु' राजा ययातिके बड़े पुत्र थे, जो शुक्राचार्यकी कन्या देवयानीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। ययातिको अपनी अवस्था न देनेपर उनके शापसे इनका राज्य भ्रष्ट हो गया था। पीछेसे इन्द्रकी कृपासे इन्हें पुनः राज्य मिला था। भगवान् श्रीकृष्ण आपके ही प्रसिद्ध वंशमें अवतरित हुए थे।

लाजौ, स्याँम, गोपीनाथ और जदुकुल आदि शब्दोंका सुंदर प्रयोग, यथा—

"धोंधी'के प्रभु 'लाजौ' न लागत, खीजैंगी सास-ननदिया।"
—धोंधीदास

"घरी-घरी 'स्याँम'—मुख हेरि-हरि हँसिबौ।"
—छीतस्वामी

"'गोपीनाथ' गुविंद, कन्हाई, जसुधा-सुत, हलधर के भाई।"
—लालदास

"हरि रुकमिनी लिएँ आवत हैं, इहि आनँद 'जदुकुल' हि सुनावौ।"
—सूरदास

श्रीसूरदासजी कहते हैं—

"काहे गोपीनाथ कहावत ।
जुपै मधुप, हरि हितू हमारे, काहे न गोकुल आवत ॥
सपने की पहिचाँनि जीय महिं, हमहि कलंक लगावत ।
जो परि कृष्ण कूबरी रीझे, सो किनि नाम धरावत ॥
ज्यों गजराज काज के औसर, औरें दसन दिखावत ।
ऐसें हम कहिबे-सुनिबे कों, 'सूर' अनत बिरमावत ॥"

अथवा—

"सुनि-सुनि ऊधौ, आवत हाँसी ।
कहाँ वे ब्रह्मादिक के ठाकुर, कहाँ कंस की दासी ॥
इंद्रादिक की कौन चलावै, संकर करत खवासी ।
निगम आदि बंदीजन जाके, सेस सीस के बासी ॥
जाकें कमला रहत निरंतर, कौन गनें कुबजासी ।
'सूरदास' प्रभु दृढ़ि करि बाँधे, प्रेम-पुंजि की" पासी ॥'

—सूरसागर

कोई कवि कहता है—

'जो मथुरा हरि जाइ बसे, हमरे जिय प्रीति बनी रही सोऊ ।
ऊधौ, बड़ो सुख पैहू हमें, बर नीकें रहै वह सूरत दोऊ ॥
हमरे हि नाँम की छाप परी, कछु अंतर बीच अहै नहिं होऊ ।
राधिका-कृष्ण सभी तो कहें, पै कूबरी-कृष्ण कहै नहि कोऊ ॥'

—नागरत्नाकर

रसखानजी कहते हैं—

'आनें कहा हम मूढ़ सबै, समुझी न तबै जबहीं बनि आई ।
सोचत हैं मन-हिं-मनमें, अब कीजै कहा बनियाँ जगवाई ॥

नीचौ भयौ व्रज कौ सब सीस, मलीन भई 'रसखाँन' दुहाई।
चेरी कौ चेटक देखहु री, हरि चेरौ कियौ धौं कहा पढ़ि आई॥'
—सुजान रसखान

कविवर आलम कहते हैं—

'वे तौ ऊधौ, परम पुनीत पुन्न पाइयतु,
भावन प्रवीन प्यारे पावन दरस जू।
गाँव की अहीरी हम गोबर की वास भरीं,
खरिऐ गँवारि गुन रूप हीं न रस जू॥
कहै 'कवि आलम' विराजति वै राजा कान्ह,
राजनि के राजा गुन पूरन दरस जू।
विसरयौ बसेरौ बन-वीथी वरु व्रज-वासी,
अति मन-भाई पाई कुवजा सरस जू॥'
—आलम-केलि

रसलीन कहते हैं—

'जो दासी के वस भयौ, जग कहाइ व्रज-राज।
तिन की ए बतियाँ कहत, तुम्हैं न आवत लाज॥'
—रसप्रबोध

पद्माकर कहते हैं—

'आवत उसासी, दुख लगै अरु हाँसी, सुनि,
दासी-उर लाइ कहौ को नहिं दहा कियौ।
कहै 'पद्माकर' हमारे जाँन ऊधौ उन-
तात कौ, न मात कौ, न भ्रात कौ कहा कियौ॥
कंगलिनि कूबरी कलंकिनि कुरूप तैसी,
चेटकनि चेरी ताके चित को चहा कियौ।
राधिका की कहिवत कहि दीजौ मनमोहन सौं,
रसिक-सिरोमनि कहाइ धौं कहा कियौ॥'
—जगद्विनोद

कविवर ग्वालजी कहते हैं—

'प्रीति कुलीननि सों निबहै, अकुलीन की प्रीति में अंत उदासी।
खेलत खेल गयौ अबही, हमैं जोग-पठाइ बन्यौ अबिनासी॥
त्यौं 'कवि ग्वाल' बिरंचि-बिचारि कें, जोरी जुराइ दई अति खासी।
जैसोई नंद कौ पालक कीन्ह, सो तैसिई कूबरी कंस की दासी॥'

'नंद कौ पालक हो पहिलैं, फिर कंस की चेरी कौ चेरौ भयौ।
ता कौ परेखौ कहा करिऐ भट्ट, लाखन-बार कौ हेरौ भयौ॥
त्यौं 'कवि ग्वाल' करै तौ कहा, फिर साँपिनि-सौत कौ घेरौ भयौ।
नेह छली मनमोहन कौ हम कौ अलि, भूत कौ फेरौ भयौ॥'

'ऊधव, एकु सँदेसो इहै, कहि देउ तौ बात सयाँनी करौ।
कूबरी कौं ठकुरानी करौ, सो भलैं अपनो मन माँनी करौ॥
पै 'कवि ग्वाल' मुनासिब औरहूँ, सोऊ जरूर प्रमाँनी करौ॥'
लाँगरी, लूलरिनि, आँधिरी, काँनिनि, राँनिनि मे पटराँनी करौ॥'

'राधिका के मिलबे कौ मुकुंद, कितेकि दिनाँन लौं देह ही तोसी।
प्रीति करी, रस-रीति करी, भरी नाँहीं मे हाँ, बस हौं हिय नाँसी॥
यौं 'कवि ग्वाल' विपाल बढ़ाइ कें, छाँड़ि गयौ सिगरी गुन-गाँसी।
दासी की फाँसी फँसाइ गरें, अबिनाँसी बन्यौ यह आवत हाँसी॥'

—कवि हृदयविनोद

हमारे स्वर्गीय कवि श्रीनवनीतजी कहते हैं—

'कहै सकल गोपी अहो, तजी पुरंध्री-बाम।
अब सैरंध्री-पति भयौ, बोरयौ जदु-कुल-नाँम॥'

—गोपीप्रेमपियूषप्रवाह

४८

मधुकारी—मीठा उत्पन्न करनेवाला—बोलनेवाला*। बधकारी—बध करनेवाला मारनेवाला। घात—प्रहार, धोखा, चोट, मार, जख्म।

* मधुकारी—मधु करोतीति मधिलय, निष्पादयति—इति मधुकारी।

मधुकारी, बधकारी, घात आदि शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

मधुकर बृथाँ बने 'मधुकारी।' —अनन्य अली

'या सराप तें भए स्याँमघन, प्रेंमिनि के 'बधकारी'॥'

—भानदास

'डोलत 'घात' करत या ब्रज में, का मधुकर यै रीति।'

—लोकनायक

कुछ ऐसी ही बात श्रीसूर भी कहते हैं—

'मधुकर, भलें आए बीर।
दरस दुरलभ सुलभ पाए, जाँनि हौ पर-पीर॥
कहत बचन बिचारि बिनवौं, सोधि हौ मन-माँहिं।
प्राँनपति की प्रीति कहु कछु, है कि हमसों नाँहिं॥
कौंन तुमसौं कहै मधुकर, कहन जोग जु नाँहिं।
प्रीति की कछु रीति न्यारी, जाँनिहौ मन-माँहिं॥
नैंन-नींद न परै निसि-दिन, बिरह-दाही देह।
कठिन निरदै नंद कौ सुत, जोरि तोरौ नेह॥
कौंन तुमसों कहै मधुकर, गुप्त-प्रघट सु बात।
'सूर' के प्रभु क्यों बनें जो करै अबला-घात॥'

अथवा—

'मधुकर, राखि जोग की बात।
कहि-कहि कथा स्याँमसुंदर की, सीतल करि सब गात॥
जेइ निरगुन गुन-हीन गनेंगौ, सुनि सुंदर अलसात।
दीरघ नदी नाउ कागद की, को देख्यौ चढि जात॥
हम तन-चितै हेरि अपनों पट, देखि पसारै लात।
'सूरजदास' बास-गुन-बसिकैं, कैसें कलप बिहात॥'

—सूरसागर

घनानंदजी कहते हैं--

'अधिक-बधिक तें सुजाँन रीति रावरी है,
कपट-चुगौ दै फिरि निपट करौ बुरी।
गुँननि-पकरि लैं निपाख करि छोरि देहु,
मरहि न जीय महा बिषम दया छुरी॥
हौं न जानों कौन धौं हु यामें सिद्धि स्वारथ की-
लखी क्यों परति प्यारे, अंतर-कथा दुरी।
कैसें आसा-द्रुम पै बसेरौ करैं प्राँन-खग,
बनऊ निकाईं 'घनआनँद' नई जुरी॥'

—सुजानसागर

रसनिधिजी कहते हैं—

'रसनिधि' कारे काँन्ह वे, रहे मधुपुरी छाइ।
विष उगलन ऊधौ फिरै, अचरज लखि इहि आइ॥'

—रतनहजारा

भारतेन्दुजी कहते हैं—

'ऊधौ जू, सूधौ गहौ वह मारग, ग्यॉन की तेरे जहॉं गुदरी है।
कोऊ नहिं सिख माँनिहैं ह्यॉं, इक स्यॉम की प्रीति प्रतीत खरी है॥
ए ब्रजबाला सबै इक सी, 'हरिचंद' जू मंडिली ही बिगरी है।
एक जौ होइ तौ ग्यॉन सिखाइए, कूप-ही मैं यहॉं भॉंग परी है॥'

—प्रेममाधुरी

रहीमजी कहते हैं—

'अमृत ऐसे बचन मैं, 'रहिमन' रिसि की गाँस।
जैसें मिसिरी मैं मिली, निरस बाँस की फाँस॥'

—रहीम रत्नावली

४९

किंकिनि--कटि, कमरका आभूषण विशेष, करधनी, क्षुद्रघंटिका, किंकिणी।

'किंकिणी[1] क्षुद्रघण्टिका।'

—अमरकोष २।६।११०

वा पुर—उस पुर, नगर, स्थान[2]। गोरस—दूध-दही इत्यादि। अथवा इन्द्रिय-रस।

किंकिनि, वा पुर, और गोरस शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, यथा—

'कटि मैं बजति सु 'किंकिनि, रुन-झुन, छबि बरनत नहिं आवै।'

—चतुर्भुजदास

---

१. अथवा—किञ्चित् किणं शब्दान् करोतीति किंकिणी।

२. इस शब्दके सुंदर अर्थमें वियोगी हरिजीसे लेकर सभी सफल सम्पादकोंने बड़ी गड़बड़ी मचायी है। किसीने तो इस शब्दका अर्थ—बापका किया है और किसीने बापुर वा बापुरो मान, अर्थ—बिचारा, बेचारा किया है। मालूम होता है इन महानुभावोंने श्रीनन्ददासकी इसी पदकी निम्न पंक्ति—आगे आनेवाली वा आगेवाली—

'फिरि आयौ या देस'

पर ध्यान नहीं दिया है, नहीं तो ऐसा अनर्थ कभी न करते। ये पंक्तियाँ स्पष्ट ही उस अर्थका प्रतिपादन कर रही कि—उस पुरका—ग्रामका, नगरका गोरस (दूध-दही) चुराकर फिरि, पुनः इस देश आया। श्रीनंददासजी-के उक्त पदांशमें 'फिरि' शब्दसे कुछ मधुर ध्वनि इसी बातकी पुष्टिके अर्थ, इसी अर्थको और भी उज्ज्वल बनानेवाली और भी निकलती है। अर्थात्-'फिरि, या देस आयौ' यानी पहिले तो यहाँसे चुरा-चुराकर जैसे-तैसे गया पर वहाँ भी चोरीचारी कर फिर वापिस यही निंदित कर्म करनेके निमित्त आया आदि-आदि।

'वा पुर' वास बसाइ यहाँ धौं कौन काज तुम आए।

—रसिक किसोरी

"हमारें 'गोरस'-हाँनि न होइ।"

—चतुर-बिहारीदास

सूरदासजी कहते हैं—

"मधुप, तुम कहौ कहाँ ते आए।
जाँनति हैं अनुमाँनि आपने, तुम जदुनाँथ पठाए॥
वैसेहि बरन, बसन तन वैसेहि, वैसेहि भूषन सजिबजि ल्याए।
लै सरबसु सँग स्याँम सिधारे, अब का पै पहिराए॥
अहो मधुप, एकै मन सबकौ सु तौ उहाँ लै धाए।
अब ह्याँ कौंन सयाँन बहुरि ब्रज, जा कारन उठि धाए॥
मधुवन की मानिनी मनोहर, तहीं जाहु जहँ भाए।
'सूर' जहाँ लौं स्याँम-गात हौ, जानि भलैं करि पाए॥"

—सूरसागर

श्रीनंददासजीके उक्त भावपर श्रीसूरका एक पद और देखिये, जैसे—

"भूलति हौ कित मीठी बातँन।
ए तौ अलि, उनहीं के संगी, चंचल-चित्त साँवरे-गातँन॥
वै मुरली-धुँनि जग-मन मोहत, इनकी गुंज सुमन मधु-पातँन।
ए षट्-पद, वे द्विपद चतुरभुज, काहू भाँति भेद नहिं भ्राँतन॥
वे नव निसि माँनिनि-गृह बासी, एहु बसत निसि नव जलजातँन।
वे उठि प्रात अँनत मन-रंजन, ए उडि करत अँनत रस-रातँन॥
स्वारथ-निपुन सब-रस-भोगी, जिनि पतियाहु बिरह-दुख-दातन।
वे माधव, ए मधुप 'सूर' कहि, दुहूँ नहिं कोउ घट बातँन॥"

—सूरसागर

श्रीनंददासजीके इस भावपर स्वर्गीय सत्यनारायणजीकी बड़ी सुंदर रचना है, आप भ्रमर और भगवान् श्रीकृष्णकी तुलना, बराबरी करते हुए, समानता दिखलाते हुए कहते हैं—

"तैरौ तन घनस्याँम, स्याँम घनस्याँम उतै सुँनि ।
तेरी गुंजन सुरलि, मधुप, उत मधुर मुरलि-धुँनि ॥
पीत-रेख तव कटि बसै, उत पीतांबर चारु ।
विपिन-बिहारी दोउ लसत, एकै रूप सिंगारु ॥"
—जुगलरस के चखा ।

५०

कपट—छल, प्रतारणा, धूर्तता, अयथार्थ-व्यवहार, शठता, दंभ, धोखा ।

"कपटोऽस्त्री व्याजदंभोपधयश्छद्मकैतवे ।"
—अमरकोश १ । ७ । ३०

व्रज-वासिनी—व्रजकी बसनेवाली, रहनेवाली, पतियाइ—एतबार, विश्वास, प्रतीति, धारणा, भरोसा । लहे—लिए, लिये ।

कपट, व्रज-वासिनी, पतियाइ और लहे शब्दोंके सुंदर प्रयोग, यथा—

"हम सों 'कपट' औरनि के बस भए, हमारौ मरन तिहारौ ख्याल ।"
—सूरदास

"आँईं सब 'व्रज-वासिनीं हो—नंद मैहेरी के धाँम ।" —चतुर्भुजदास

"लाख सोंह खाऔ मनमोंहन, अब न नेकु 'पतियाइ' ।" —ब्रह्मदास *

* प्रसिद्ध महाराज बीरबलका उपनाम 'ब्रह्म' था, जिसका कि आप कवितामें प्रयोग करते थे । इसी प्रकार आपका उपनाम 'ब्रह्मदास' भी मिलता है, इसका प्रयोग भी प्रायः पद साहित्यमें हुआ है । इस नामके पद 'कीर्तन-कुसुमाकर' 'कीर्तन-रत्नाकर' 'नित्य-कीर्तन' और 'रागरत्नाकर' में बहुत मिलते हैं तथा वल्लभ संप्रदायके मंदिरोंमें गाये जाते हैं ।

'या पुर' धाम बसाइ यहाँ धौं कौन काज तुम आए।

—रसिक किशोरी

"हमारें 'गोरस'-हाँनि न होइ।"

—चतुर बिहारीदास

सूरदासजी कहते हैं—

"मधुप, तुम कहौ कहाँ ते आए।
जाँनति हैं अनुमाँनि आपने, तुम जदुनाँथ पठाए॥
वैसेहि बरन, बसन तन वैसेहि, वैसेहि भूषन सजिबजि ल्याए।
लै सरबसु सँग स्याँम सिधारे, अब का पै पहिराए॥
अहो मधुप, एकै मन सबकौ सु तौ उहाँ लै धाए।
अब ह्याँ कौंन सयाँन बहुरि ब्रज, जा कारन उठि धाए॥
मधुबन की मानिनी मनोहर, तहीं जाहु जहँ भाए।
'सूर' जहाँ लो स्याँम-गात हो, जानि भलें करि पाए॥"

—सूरसागर

श्रीनंददासजीके उक्त भावपर श्रीसूरका एक पद और देखिये, जैसे—

"भूलति हौ कित मीठी बातँन।
ए तौ अलि, उनहीं के संगी, चंचल-चित्त साँवरे-गातँन॥
वै मुरली-धुँनि जग-मन मोहत, इनकी गुंज सुमन मधु-पातँन।
ए षट्-पद, वे द्विपद चतुरभुज, काहू भाँति भेद नहिं भाँतन॥
वे नव निसि माँनिनि-गृह बासी, एहू बसत निसि नव जलजातँन।
वे उठि प्रात अँनत मन-रंजन, ए उड़ि करत अँनत रस-रातँन॥
स्वारथ-निपुन सदा-रस-भोगी, जिनि पतियाहु बिरह-दुख-दातन।
वे माधव, ए मधुप 'सूर' कहि, दुहूँ नहिं कोउ घट घातँन॥"

—सूरसागर

श्रीनंददासजीके इस भावपर स्वर्गीय सत्यनारायणजीकी बड़ी सुंदर रचना है, आप भ्रमर और भगवान् श्रीकृष्णकी तुलना, बराबरी करते हुए, समानता दिखलाते हुए कहते हैं—

"तैरौ तन घनस्याँम, स्याँम घनस्याँम उतै सुँनि।
तेरी गुंजन सुरलि, मधुप, उत मधुर मुरलि-धुँनि॥
पीत-रेख तव कटि बसै, उत पीतांबर चारु।
बिपिन-बिहारी दोउ लसत, एकै रूप सिंगारु॥"

—जुगलरस के चखा।

५०

कपट—छल, प्रतारणा, धूर्तता, अयथार्थ-व्यवहार, शठता, दंभ, धोखा।

"कपटोऽस्त्री व्याजदंभोपधयश्छद्मकैतवे।"

—अमरकोश १।७।३०

ब्रज-बासिनी—ब्रजकी बसनेवाली, रहनेवाली, पतियाइ—एतबार, विश्वास, प्रतीति, धारणा, भरोसा। लहे—लिए, लिये।

कपट, ब्रज-बासिनी, पतियाइ और लहे शब्दोंके सुंदर प्रयोग, यथा—

"हम सों 'कपट' औरनि के बस भए, हमारौ मरन तिहारौ ख्याल।"

—सूरदास

"आँईं सब 'ब्रज-बासिनीं हो—नंद मैंहैरी के धाँम।" —चतुर्भुजदास

"लाख सोंह खाऔ मनमोंहन, अब न नेकु 'पतियाइ'।" —ब्रह्मदास *

* प्रसिद्ध महाराज बीरबलका उपनाम 'ब्रह्म' था, जिसका कि आप कवितामें प्रयोग करते थे। इसी प्रकार आपका उपनाम 'ब्रह्मदास' भी मिलता है, इसका प्रयोग भी प्रायः पद साहित्यमें हुआ है। इस नामके पद 'कीर्तन-कुसुमाकर' 'कीर्तन-रत्नाकर' 'नित्य-कीर्तन' और 'रागरत्नाकर' में बहुत मिलते हैं तथा वल्लभ संप्रदायके मंदिरोंमें गाये जाते हैं।

"मधुप, 'एहे' हम जानि सुमाधौ, कत तू करत बड़ाई।" —चरनदास

कुछ ऐसा ही सुमधुर भाव भागवतमें भी कहा है, जैसे—

"विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुंदात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका,
व्यसृजदकृतचेताः किंतु संधेयमस्मिन्॥"
—श्रीमद्भागवत १०।४७।१६

अर्थात्—

"तज पद, हट, जानें यो कृतघ्नी बड़ी तू,
कपट-विनय सीखी दूतता कृष्ण सों तू।
पति, सुत, घर छाँड़े जासु दासी कहाँई,
उन हमहिं तजी हा, क्यों मिलें ताहि जाई॥"
—कन्हैयालाल पोद्दार

श्रीसूर कहते हैं—

"मधुकर, हमहीं क्यों समुझावत।
बारंबार ग्यान-गीता ब्रज, अबलनि-आगें गावत॥
नंद-नँदन-बिनु कपट-कथा ए, कत कहि रुचि उपजावत।
तक-चंदन जो अंग छुधा-रत, कहि कैसें सुख पावत॥
देखि-बिचारि तुही जिय अपने, नागर हौ जु कहावत।
सब सुमनन पै फिरत निरखि करि, काहे कँमल-बँधावत॥
चरन-कँमलकर, नैंन-कँमलकर, बदन कँमल अरभावत।
'सूरदास' मनु अलि अनुरागी, किहि बिधि हौं अनुरागत॥
—सूरसागर

गुसाँई तुलसीदासजी कहते हैं—

"हृदै कपट बरबेस धरि, बचन कहैं गढ़ि-छोलि।
अबके लोग मयूर ज्यों, क्यों मिलिये मन-खोलि॥"

"हँसनि-मिलनि-बोलनि-मधुर, कटु करतब मन-माँहिं।
छुव जो सकुचै सुमति सो, 'तुलसी' तिनकी छाँहिं॥"

—साखीसंग्रह

बाई मीरा कहती हैं—

"जावौ हरि, निरमोहिड़ा रे, जाणी थारी प्रीति।
लगँन लगी जब और प्रीति छी, अब कुछ अँवली रीति॥
अमृत प्याइ विषै क्यूँ दीजे, कूण गाँव री रीति।
'मीराँ' के प्रभु गिरिधर नागर, आप गरज रा मीति॥

—शब्दसंग्रह

५१

मति-मंद—मंद-बुद्धि, कम-अक्ल, मूर्ख। छंद—जाल, ढंग, अभिप्राय, मकर, व्याज।

"·········अभिप्रायश्छंद आशयः।"

—अमरकोष ३।२।२०

अथवा—

"अभिप्रायवशौ छंदौ········।"

—अमरकोष ३।३।८८

मतिमंद और छंद शब्दके सरस प्रयोग। यथा—

"जाहु चले 'मतिमंद' यहाँ तें, लै विष-जोग-पिटारी।"

—सूरदास

"हम जानति 'छल-छंद' तिहारौ, क्यों बातन बौलावत।"

—कृष्णदास

श्रीसूर कहते हैं—

"मधुकर, काके मीत भए।
ग्यारों फिरत सकल कुसुमावलि, मालति भोरें लए॥
छिनकु बिछुरि कैमल-रति मॉनी, केतकि क्षत बिधए।
छाँदनु नेह नाहिं मैं जान्यों, लै गुन प्रघट नए॥
भूतन करम, तँमाल, बकुल, वट, परसत जनम गए।
भुज-भरि मिलति उड़ति उदास ह्वै, गत स्वारस समए॥
भटकत फिरत पात, द्रुम, बेलिनि, कुसुम, करंज भए।
'सूर' बिमुख पद-अंबुज छाँडे, बिषै निबिषबर छए॥"

अथवा—

"मधुकर, काके मीत भए।
दिवस चारि करि प्रीति-सगाई, रस-लै अँनत गए॥
डहकत फिरत आपने स्वारथ, पाखँड अग्र दए।
चाँड सरें पहिचाँनति नाहीं, पीतम करत नए॥
मुड़ऊँ बाँटि मेलि बौराए, मनहरि हरिनु लए।
'सूरदास'प्रभु दूत धरम ढिंग, दुख के बीज बए॥"

अथवा—

"मधुकर, बादि बचन कत बोलै।
आपुन चपल, चपल कौ सगी, चपल चहूँ दिसि डोलै॥
इन बातन कौं कौन पत्यै है, अंतर कपट न खोलै।
कंचन-काँच-कपूर-कदुखरी, एकु संग क्यों तोलै॥
अब अपनी-सी हमहिं दिखावत, मति भूलहु इहि जोलै।
'सूर' स्याँम-बिनु रटत बिरहनी, बिरह-दाग जनि छोलै॥"

एक और—

"मधुकर, तुम रस-लंपट लोग।
कँमल-कोस नित रहत निरंतर, हमहिं सिखावत जोग॥
अपने काज फिरत बन-अंतर, निमिष नहीं अकुलात।
पुहुप गऐं बहुरौ बल्लिन के नेंकु निकट नहिं जात॥
तुम चंचल अरु चोर सकल अँग, बातन कौ पतियात।
'सूर' बिधाता धन्न रचे इहि मधुप, साँवरे-गात॥"

—सूरसागर

५२

अबलौं—अबतक। *बिसेख्यौ*—बिसेखना, विशेष प्रकारसे वर्णन किया, ब्यौरेवार वर्णन किया, निर्णय किया, निश्चित किया। *सिंघ*—सींग, श्रृंग। *रसिकता*—रसिकपना, रसज्ञता, सहृदयता।

अबलौं, बिसेख्यौ, सिंघ और रसिकता आदि सरस शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, यथा—

"दान दियौ 'अबलौं' न मही कौ, आजु नई यै होत।"

—रामदास

"देख्यौ नाँहि 'बिसेख्यौ' ब्रज में, कपट चतुरई सगरी।"

—जगन्नाथकविराय

"साजत सींघ सु माथे ऊपर अद्‌भुत रूप बनायौ।"

—सूरदास

"रसिकता' मोहन तुम्हरी झूँठीं।"

—रसिक बिहारीदास

श्रीसूर कहते हैं—

"मधुकर, जाहि कहौ सुनि मेरौ ।
पीत-बसन तन-स्याँम जानि कै, राखत परदा तेरौ ॥
इहिं ब्रज कौं उपदेसँन आए, कत जो रहे करि डेरौ ।
एते माँन इहिं सखी, महासठ, छाँड़त नाहिंन नेरौ ॥
ऐसी बात कहौ तुम तिन सौं, होइ जो कहिबे लाइक ।
इहाँ जसोदा कुँअर हमारे, छिन-छिन प्रति सुखदाइक ॥
ज्यौं तू पुहुप-पराग छाँड़ि कैं, करहिं ग्राम बसिबास ।
त्यौं हम 'सूर' इहै करि देखें, निमिष न छाँड़ै पास ॥"

—सूरसागर

अथवा—

"मधुकर, जाउ जहाँ तें आए ।
जाँनि लई सब करट चतुरई, ब्रज ब्रजनाथ पठाए ॥
जैसेई गुरु सिष्य हौ तैसेइ, बड़े भाग सौं पाए ।
प्रिय 'नवनीति' प्रीति बेलिन पैं, जोग-अगिनि बरसाए ॥"

—गोपीप्रेमपियूषप्रवाह

५३

तरक-वितरकँन—अनिश्चित सिद्धांतको निश्चित करनेके लिये विवाद, शंका-समाधान, संदेह-निवृत्तिके उपाय, वाद-विवाद, बहस, सोच-विचार । *अतीत*—भूत, गत, अतिक्रांत, बीता हुआ ।

तरक-वितरकँन और अतीत शब्दके सुन्दर प्रयोग । यथा—

"तरक-वितरकनि मिलै न नेकौ केतौहुँ सोरि मचाऔ ।"

—धर्मदास

"वह 'अतीत' निरगुन, निरसंगी, अरथ-काँम नहिं व्यापै ।"

—दूलनदास

५४

चतुरंगी—प्रवीण, दक्ष, चतुर, चालाक, सब बातोंमें होशियार, छल-कपटयुक्त, छल-कपटमें प्रवीण। मुरारि—मुरारी, भगवान् श्रीकृष्ण-का नाम विशेष जो कि 'मुर' नामक दैत्य विशेषके मारनेसे पड़ा था। त्रिभंगी—तीन जगह, स्थानसे टेढ़, तीन स्थानसे टेढ़ा होकर खड़े होनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण।

चतुरंगी, मुरारि और त्रिभंगी शब्दके सुन्दर प्रयोग, यथा—

'मथुरा जाइ भए 'चतुरंगी', बातन के ब्योहार।'

—चरनदास

'तुम बिनु मरत हाइ, 'मुरारि।'

—परमानंददास

'ललित त्रिभंगी' ललि वह मूरति, को न बिकै बिनु दाँम।'

—कृष्णदास

कुछ ऐसा ही भाव श्रीसूरने भी व्यक्त किया है—

'आए माई, दुरँग स्याँम के संगी।
जे पहिलैं रँग रँगे स्याँम-रँग, तिनही की बुधि रंगी॥
हमरी उनकी-सी मिलवत हमै, तातैं भए बिहंगी।
सूधी कहैं सवन समुझावत, ते साँचे सरबंगी॥
औरनु कौ सरबसु लै मारत, आपुन भए अभंगी।
'सूर' सु नाम सिलीमुख पीवै, जे घन-कवच उपंगी॥'

अथवा—

'मधुकर' उनकी बात हम जाँनी।
कोऊ हुती कंसकी दासी, कृपा करी भई राँनी॥
कुबजा नाम मधुपुरी बैठी, लै सुवास मन-माँनी।
कुटिल, कुचील जनम की टेढ़ी, सुंदरि करि घर आँनी॥

अनुराग हो और न विराग हो, वह व्यक्ति जिसने योग सिद्ध कर लिया हो, वह व्यक्ति जिसने योगाभ्यास कर सिद्धि प्राप्त कर ली हो।

विशेष—योग-दर्शनमें अवस्था-भेदसे योगी चार प्रकारके कहे हैं। कल्पिक—अर्थात् जिसने योगाभ्यासका अभी आरंभ किया हो, जिसका ज्ञान अभी दृढ़ताको न पहुँचा हो। मधु-भूमिक—अर्थात् जो भूतों और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना चाहता हो। प्रज्ञाज्योति—अर्थात् जिन्होंने इन्द्रियोंको भली-भाँति जीत लिया हो। अतिक्रान्त-भावनीय—अर्थात् जिन्होंने सब सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हों, पर चित्तलय बाकी रह गया हो।

कुबजा—कुब्जा, कूबड़ी, स्त्री-विशेष, अर्थात् जिसके कूब निकला हुआ हो, महाराज कंसकी दासी, परिचारिका[1]। *मेला*—तमाशा, कुछ देखनेको एकत्रित भीड़, गैला, समूह, समुदाय[2]।

---

१. लड़का या लड़की कुबड़े क्यों होते हैं, इसपर 'गर्भोपनिषद्' में कहा है—

'व्याकुलितमनसोऽन्धाः खञ्जाः 'कुब्जा' वामना भवन्ति।'

—गर्भोपनिषद् ३

अर्थात् रति-समयमें मन व्याकुल होनेसे संतान—अंधी, लँगड़ी-लूली, कुबड़ी और बौनी होती है।

२. 'मेला' शब्दका जैसा कि अर्थ ऊपर किया गया है, शब्दार्थ ठीक होते हुए भी कुछ विपरीत-सा प्रतीत होता है। अतः यदि मेला शब्दको 'मैला' का अपभ्रंश मान इसका अर्थ—गँदला, गंदा, अशुद्ध, अपवित्र, मलिन आदि किया जाय तो कुछ उचित प्रतीत होता है, क्योंकि तीर्थमें जाकर आत्मा या देह स्नान-ध्यान और दर्शनादिसे पवित्र, शुद्ध और सुन्दर होती है, अपितु यहाँ इसके विपरीत हुआ है, अथवा जैसा तीर्थ—कुब्जा—टेढ़ा, मैला—अशुद्ध और वैसा ही उसका फल। यहाँ भी व्यासजी-द्वारा मेलाका अर्थ—मैला-गँदला, गंदा आदि है, जैसा कि नंददासजीने प्रयोग किया है।

मधुवन—व्रज-भूमिका वनविशेष, जो मथुरा नगरके पास तीन मील है, मथुरा नगरको भी मधुवन कहा जाता है। गाहक—ग्राहक खरीदनेवाला, चाहनेवाला। रावरे—महाराज, सरकार, आप।

जोगी, कुबजा, मेला, मधुबन, गाहक और रावरे आदि सरस शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

'जोगी' होइ सो जोग बखानें।'

—सूरदास

'नए गुपाल नारि नई 'कुबजा' नौतम नेह ठयौ॥'

—परमानंददास

'भलौ कियौ इंद्रिन कौं 'मेला' मथुरा तीरथ न्हाइ।*'

—व्यासजी

'मधुबन' जाहि कान्ह कुबजा-सँग, मति भूलहुँ सुधि सातौ॥'

—सूरदास

'कंथा, सेली, भसँम औ माला, 'इनकौ गाहक' नाहिं।'

—व्यासजी

'जाहु-जाहु 'रावरे' इहाँ तें, कत बातन भरमैए॥'

—गोपालदास

कुछ ऐसी ही मधुर बात सूरदासजी भी कहते हैं—

'ऊधौ, बेगि मधुबन जाहु।
हम बिरहनी नारि, हरि-बिनु, कौन करै निवाहु॥
तहीं दीजै मूर-परैना, नफा तुम कछु खाहु।
जो नहीं ब्रज में बिकानो, नगर-नारी साहु॥
'सूर' वै सब सुनति लैहैं, जिय कहा पछिताहु॥'*

* उक्त पदमें एक तुक कम है।

अथवा—

'ऊधौ, तुम ब्रज पैंड़ि करी।
लै आए हौ नफा जानि कैं, सबै वस्तु अकरी॥
हम अहीर माँखन-मथि बेचें, मथन टेक पकरी।
इह निरगुन अनमोल की गठरी, अब किन करत घरी॥
इहि ब्यापार वहीं सु सँमातो, हुती बड़ी नगरी।
'सूरदास' गाहक नहिं कोऊ, दिखयतु गरें परी॥'

एक और—

'जोग-ठगोरी, ब्रज न बिकै है।
मूरी के पातन के बदलैं, को मुक्ताहल दैहै॥
यै ब्यापार तिहारो ऊधौ, यों हीं धरयौ रहि जैहै।
जिन पै लै आए ऊधौ, तिनहीं पेट समैहै॥
दाख छोंड़ि कैं कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहै।
गुन करि मोहीं 'सूर' साँवरे, को निरगुन निबहै है॥' —सूरसागर

श्रीनागरीदास कहते हैं—

'ऊधौ, वृथाँ करत बकवाद।
हम जाँन्यों तुम जाँनति नाहीं, रूप-सुधा-सुख-स्वाद॥
सकल ब्रज मोहन-मई है, गोप, गोपी, गाइ।
तिनैं तौ बिनु स्याँम-सुंदर, और नाहि सुहाइ॥
तन हमारो खंड-खंड करि, देहु भूमि मैं डारि।
न्यारे-न्यारे लिपटि जैहैं, लखि नागर नंद कुमार॥*

—नागरसमुच्चय

* यही बात श्रीसूरने भी कही है, जैसे—

'यह तन जो कोऊ फिरि बनावै।
तऊ नंद-नंदन तजि प्यारो, और न मन मे आवै॥

रहीमजी कहते हैं—

'कहा काँन्ह तैं कहिनों, सब जग साखि।
कौन होत काहू कौ, कुबरी राखि॥'

—रहीमरत्नावली

ग्वाल कवि कहते हैं—

'तजि ब्रज-बालनि कौं मथुरा गयौ-सो-गयौ,
वहाँ जाइ कौन सौ सुजस जग-छायौ है।
करतो बिबाह जाति-पाँतिकी कुँमारी-सँग,
तऊ हम जाँनती सुपंथ में सिधायौ है॥
'ग्वालकवि' जौ पै सुरत ही पै रीझि हुती,
तौ पै भली जाति की न नारी पै लुभायौ है।
कूबरी कलंकिनि वा अंकिनि कौं अंक लाइ,
काँन्ह भलौ कुल कौं कलंक लैं लगायौ है॥'

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

''जाहु जू, जाहु जू, दूरि हटौ, सो बकै बिनु बात ही की अब यासों।
वा छलियानें बनाइ कें खासौ, पठायौ है याहि न जानें कहाँ सों॥
काहि करै उपदेस खरौ 'हरिचंद' कहै किन जाइकें तासों।
सो बनि पंडित ग्याँन-सिखावति, कूबरी हूँ नहिं ऊबरी जासों॥''

—प्रेममाधुरी

जो या तनकी तुचा काढ़ि कें, लैकरि दुंदुभि सजई।
मधुर उतंग सबद सुर निकसै, लाल, लाल हीं बजई॥
छूटैं प्रान मिलै तन माँटी, द्रुम लागैं तिहि ठाँम।
कह अब 'सूर' फूल-फल-साखा, लेति उठैं हरिनाँम॥'

—सूरसागर

५६

साधु—सज्जन, परोपकारी, कुलीन, आर्य, परमार्थी, महात्मा, सन्त, जो शान्त, सुशील, सदाचारी, वीतराग और परोपकारी हो, भला मनुष्य।

"महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधवः ।"

अथवा—

"सुंदरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम् ।"

अथवा—

"साधू रम्येऽपि च त्रिषु।"

—अमरकोश

"साधुर्वार्धुषिके चारौ सज्जने चाभिधेयवत्।"

—विश्वकोश

सिद्ध—देवता, देवयोनिविशेष, योगकी आठ सिद्धियाँ जिन्हे प्राप्त हों जिसका साधन पूर्ण हो गया हो, जो पूरा हो गया हो, करामाती, योगविभूतियाँ दिखानेवाला, मोक्षका अधिकारी, लक्ष्यपर पहुँचा हुआ—

"पिशाचो गुह्यकः 'सिद्धो' भूतोऽमी देवयोनयः।"

—अमरकोश १।१।११

अथवा—

"सिद्धे निर्वृत्तनिष्पन्नौ · · ।"

—अमरकोश ३।१।१००

भेंटि—भेंटकर, मिलकर, साक्षात्कार कर, गले लगकर, आलिङ्गन कर, छातीसे लगकर।

साधु, सिद्ध और भेंटि शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

"इन लच्छन सों साधु जनावत, केहियतु बेद-पुराँन।"
—चरनदास

"सिद्ध, देव, गँनधरब आदि लै, फूलन वरखा कींनी।"
—कुंभनदास

"'भेंटि' गोप सब नंदबबा सों, निज-निज घर जु पधारे।"
—परमानंददास

कुछ ऐसी ही बात उद्धव-प्रति गोपियोंसे श्रीसूरने भी कहलायी जैसे—

"सब खोटे मधुबन के लोग।
जिनके संग स्याँम-सुंदर पिय, सीखे हैं उपजोग॥
भली करी उधौ, ब्रज आए, दुखयिन कौं लै जोग।
आसन ध्याँन नैंन-मूँदे तैं, कैसें जात बियोग॥
तुमहिं उनहिं यै भली बनि आई कुबजा सौं संजोग।
'सूर' सुबैद कहा लै कीजे, कहैं न जानें रोग॥"

अथवा—

"मधुबन, सब कृतग्य धरमीले।
अति उदार, पर-हित डोलत हैं, बोलत बचन रसीले॥
प्रथम आइ गोकुल सुफलक-सुत, लै मधु-रिपुहिं सिधारे।
वहाँ कंस, ह्याँ हम दींनन कौ, दोंनों काज सँवारे॥
हरि कौं सिखै, सिखावन हम कौं, अब ऊधौ पग धारे।
वहाँ दासी की रति-कीरति कै, यहाँ जोग बिसतारे॥
अब तिहिं बिरह-समुद्र सबै हम बूड़त चहँत नहीं।
लीला सगुन नाँव हीं सुनि-सुनि, तिहिं अवलंब रहीं॥
अब निरगुनहिं गहें जुवती जन, पारहिं कहौ गई कौ।
'सूर' अक्रूर छ-पद के मनमें, नाहिंन त्रास दई कौ॥"

अथवा—

"अब नीकैं कै जानि परी !
जिनि लगि हुती बहुत उर-आसा, सोऊ बात निबरी ॥
वै सुफलक-सुत, ए सखि ऊधौ, मिली एकु परिपाटी ।
उन तौ वह कीनी तब हम सौं, ए रतन छुड़ाइ गहाबत माँटी ॥
ऊपर मृदु, भीतर जु कुलिस-सम देखति के अति भोरे ।
जोई-जोई आवत वा मथुरा सौं, एकु डारि मे तोरे ॥
यहै सखी, पहिलैं कहि राखी, असित न अपने होंहीं ।
'सूर' काटि जौ माँथौ दीजै चलत आपने गोहीं ॥"

एक और—

"तब तैं बहुरि दरस नहिं दीन्हौं ।
ऊधौ, हरि मथुरा कुबजा-घर, यहै नेम ब्रत लीन्हौ ॥
चारि मास, बरखा के लीन्हें, मुनिहूँ रहत इक ठौर ।
दासी-धाँम पवित्र जानिकैं, नहिं देखत उठि और ॥
ब्रज-बासी सब ग्वाल कहत हैं, कित ब्रज छाँडि गए ।
'सूर' सगुन ही जात मधुपुरी, निरगुन नाँम भए ॥

बाई मीरा कहती हैं—

"हो गए स्याम, दूज रा चंदा ।
मधुबन जाइ भया मधुबनियाँ, हमपर डारा प्रेम रा फंदा ॥
भारी-बिरह जरै जी सारा, परि न जानत नागर नंदा ।
'मीरा'के प्रभु गिरिधर नागर, अब तो नेह परा कछु मंदा ॥"
—मीरा पदावली

५७

संथा—पाठ, सबक, एक बारमें पढ़नेवाला अंश, अथवा एक बार पढ़ाया जानेवाला अंश । चटसार—चटसार, पाठशाला, विद्यालय, अध्ययन-गृह ।

संथा और चटसार शब्दोंके प्रयोग, यथा—

"पाँड़े यह 'संथा' नहिं सूले ।" —व्रजवासीदास

"तिन के सँग 'चटसार' पठायौ,
राँम-नाँम सौं तिन चित लायौ ।"

—सूरदास

श्रीसूर कहते हैं—

"व्रज-जन सकल स्याँम-व्रतधारी ।
बिन गुपाल नहिं आँन उपासन, अनत कहूँ बिभचारी ॥
जोग-पोट सिर भार बहन कौ कत व्रज माँझ उतारी ।
इतनिक दूरि जाहु चलि कासी, उहाँ बिकात अति भारी ॥
ऐसे ग्यानहिं कौन छुवत है, मँडली अनन्य हँमारी ।
जो प्रभु वह रस-रीति उपदेसी, सो क्यों जात-बिसारी ॥
इहाँ मुकति कोऊ नहिं परसत, जदपि पदारथ चारी ।
'सूरदास' प्रभु जुवति बृंद बर, दरसन की जु भिखारी ॥"

"ऊधौ, सूधें नेंक निहारौ ।
हम अबलन कौं सिखवन आए, सुनौं सयाँन तिहारौ ॥
निरगुन कहौ कहा कहियतु है, तुम्ह निरगुन अति भारी ।
सेवत सगुन स्याँमसुंदर कौं, मुकुति लही हम चारी ॥
हम सालोक, सरूप, सयुज्जौ, रहति समीप सदाँई ।
सो तजि कहति और की औरें, तुम्ह अलि बड़े अताई ॥
हम मूरख, तुम्ह बड़े चतुर हौ, बैहौत कहा अब कहिऐ ।
वे ही काज फिरत भटकत कित, अब मारग निज गहिऐ ॥
अहो अग्याँनि, कतहिं उपदेसत, ग्याँन-रूप हमहीं ।
निसि-दिन ध्याँन 'सूर' प्रभु कौ अलि, देखत जित-तित हीं ॥

—सूरसागर

नागरीदासजी कहते हैं—

"ऊधौ, चरचा करी न जाइ।
तुम्ह न जानत प्रेम-पथ हम, कहत जिय सकुचाइ॥
कथा अकथ सनेह की बिन उर न आवत और।
बेद, स्मृति, उपनिषदन को अब, रही नाहिंन ठौर॥
मौन ही में कहन ताकी, सुनत स्रोता—नैन।
सोय 'नागर' तुम्ह न जानत, कहि न आवत बैन॥"

—नागरसमुच्चय

दादू साहबका कहना है—

"'दादू' माता राम का, पीवै प्रेम अघाइ।
मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति बलाइ॥"

"'दादू' पाती प्रेम की, बिरला बाँचै कोइ।
बेद-पुरान-पुस्तक पढ़ै, प्रेम-बिना का होइ॥"

"प्रीति जो मेरे पीव की, पैठी पिंजर-माँहि।
रोम-रोम पीव-पिव करै, 'दादू' दूसर नाँहि॥"

—साखी-संग्रह

पुनीत प्रेमके पुजारी रसखान कहते हैं—

"लाज कौ लेप चढ़ाइ कै अंग, पचौ सब सीख कौ मंत्र सुनाइ कै।
गारुड़ ह्वै ब्रज लोग थक्यौ, करि औषद बेसक सोह दिखाइ कै॥
ऊधौ सौं को 'रसखानि' कहै, जिन चित्त धरौ तुम एते उपाइ कै।
कारे-बिसारे कौ चाँहैं उतार्यौ, अरे बिष बावरे, राख लगाइ कै॥"

—सुजान रसखान

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

"रहैं क्यों एक म्यान, असि दोइ।
जिन नैननि मैं हरि-रस छायौ, तिहि क्यों भावै कोइ॥
जा तन मैं रमि रह्यौ मनमोहन, तहाँ ग्यान क्यों आवै।
चाँहौ जितनी बात प्रबोधौ, ह्याँ को जो पतिआवै॥
अमृत-खाइ अब देखि इनारुन, को मूरख जो भूलै।
'हरीचंद' ब्रज तौ कदली-बन, काटौ तौ फिरि फूलै॥"

—प्रेम फुलवारी

कोई कवि कहता है—

"मिल्यौ आइ हृदै-सिंधु साँवरौ सलौनौं रूप-
कीजिऐ उपाइ दाइ काढ़े बिन कढ़ै ना।
कहौ किनि मूढ़ हमें बूढ़ प्रेम काँन्हर सौं,
ह्वै रह्यौ अरूढ़ और-और बूढ़ बढ़ै ना॥
बाल-पन पाइ जु पढ़ायौ सो तौ आजहूँ पढ़ौ,
फेरि कोट करै तौ हू आँन कछु पढ़ै ना।
कहि बिन काँम कहौ जोग कौ प्रसंग ऊधौ,
स्याँम-रंग रँगी ता पै और रंग चढ़ै ना॥

—हजारा

५८

परसि—स्पर्शकर, छूकर, ध्याकर, ध्यानकर। भुअंग—भुजंग, सर्प, साँप।

परसि और भुअंग शब्दके सुंदर प्रयोग, यथा—

"'परसि' न अँग स्याँम सुंदर घन, वौ देखति कोऊ ठाढ़ी।"

—चाचा वृंदावनदास

"भैया, मैं इसी 'भुजंगम' कारे।" —किशोरीदास

"मनहुँ सरोष 'भुअंग'-भामिनि, बिषम-भाँति निहारि।"

—तुलसीदा

अब जरा काले रंगकी करामात श्रीसूरसे सुनिये, जैसे—

"ऐसे, नदराइ के कारे।
इलनेहु जिनि पतियाहु सखी री, जितने हैं तन-कारे॥
खेलत रंग संग बृंदाबन, छिनिए न होत नियारे।
पैहलें सुख दारुन भए हमकों, दै जु गए दुख-भारे।
उर ऊपर सीतलि सारँग-रिपु, नैनि-नीर बहु ढारे॥
"सूरदास" प्रभु बेगि मिलौ, किमि टरत नहीं गुन-कारे।"

अथवा—

"मधुकर, यै कारे की रीति।
मन दै हरत परायौ सरबसु, करैं कपट की प्रीति॥
ज्यौं षट्-पद अंबुज के दल में, बसति निसा रति-मानि।
दिनकर उए अँनत उड़ि बैठत, फिरि न करत पहिचाँन॥
भमन भुजंग पिटारैं पाल्यौ, ज्यौं जननी जिय तात।
कुल-करतून जाति नहिं कबहूँ, सहज सु डसि भजि जात॥
कोकिल, काग, कुरंग, स्यँ मघन, हमें न देखें भावें।
'सूरदास' अनुहारि स्याँम की, छिन-छिन सुरत करावैं॥"

अथवा—

बिलगि जिनि मानों ऊधो, प्यारे।
वौं मथुरा काजर की कोठरि, जे आवें ते कारे॥
तुम्ह कारे, सुफलक-सुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनहूँ माँझि अधिक छबि उपजति, कँमल-नैंन मनियारे॥
मानो नील-माँट में बोरे, लै जमुना-जु पखारे।
ता गुन स्याँम भई कालिंदी, 'सूर' स्याँम-गुन न्यारे॥"

अथवा—

"सखी री, स्याँम सबै इकसार।
मींठे बचन सुहाए बोलत, अंतर-जारन-हार॥
भँवर, कुरंग, कॉम औ कोकिल, कपटिन की चटसार।
कमल-नैंन मधुपुरी सिधारे, मिटि गए मंगलचार॥
सुनौं सखी री, दोष न काहू जो बिधि लिख्यौ लिलार।
इहि करतूत इनहिं की न्यॉंई, पूरब बिबिधि-बिचार॥
उँमगी घटा नॉंखि आवें, पावस प्रेम की प्रीति अपार।
'सूरदास' सरिता, सर-पोखत, चातक करत पुकार॥"

एक और—

ऊधौ, कारे सबहि बुरे।
कारे की परतीति न कीजै, विष के बुझे छुरे॥
कारौ अंजन देति दृगनि में, तीखी सॉंन धरे।
नाग-नाथ हरि बाहर आए, फन-फन निरत करे॥
कोइल के सुत कागा पाले, अपनोंई ग्यॉंन धरे।
पंख लगे जब गए सुउड़िबे, अपने कॉंम सरे।
'सूर' स्यॉंम कारे मतवारे, कारे सों काल डरे॥

ललितकिसोरीजी कहते हैं—

"मधुकर, मेरे ढिग जिनि आइ।
तें हरिजाई बंस कलंकी, सब फूलँन बसि जाइ॥
कारे सबै कुटिल जग-जॉंने, कपटी निपट लबार।
अमृत-पॉंनि कर विष उगलत हैं, अहि परतच्छ निहार॥
देखति चिकनी सुभग चमकती, रासत मंजु बनाइ।
कारी अनी बॉंन की पैंनी, लगत पार ह्वै जाइ॥
कारी निसि चोरनु कों प्यारी, औगुन भरी अनेक।
'ललितकिसोरी' प्रीति न करि हौं, कारे सौं यै टेक॥"

—लघुरसकलिका

कविवर रहीमजी कहते हैं—

"समझि मधुप, कोकिल की यै रस-रीति।
सुनहुँ स्याँम की सजनी, का परतीति॥"

"'रहिमन' उजली प्रकृति कौं, नहीं नीच कौ संग।
करिया-बासन कर गहे, कारिख लागत अंग॥"

—रहीमरत्नावली

५९

अनुरागी—अनुरागयुक्त, अनुरक्त, प्रेमी, प्रेममें रँगे, प्रेम-मूर्ति। *कौनैं गुन धौं जाँनि*—किस गुणको जानकर, तुम्हारे कौनसे कर्तव्यको जानकर। *पातकी*—पापी, अपराधी, दोषी, पातक करनेवाला, कुकर्मी, बदकार, अधर्मी। *अलिंद*—भँवर, भ्रमर, भौंरा। *आरसी*—मुँह देखनेका शीशा, आर्सी, दर्पण, आईना।

अनुरागी, पातकी, अलिंद और आरसी शब्दके सुंदर प्रयोग।

"भए लाल, 'अनुरागी' अब तौ छवि बरनी नहिं जाइ।"

—गोविंददास

"जाहु 'पातकी' अलि, अब ह्याँ ते, परसि न मोहि सयाँने।"

—चतुर्भुजदास

"कहु 'अलिंद' स्याम की बातैं।" —सूरदास

"लै 'आरसी' लखौ मुख सुंदर, जहँ-तहँ पीक सुहाई।"

—सूरदासमदनमोहन

दीनदयालगिरि कहते हैं—

"श्री हित साँम घने छली, भली पीत-छवि गात।
अली कहा निरि नहिं चली, राह लौं हली छिपि जात॥"

गह्यौ बली बिधि तात, बात वह जात रही है।
जो जन औरहिं छलै, निदाँन छलात वही है॥
बरनें 'दीनदयाल' मित्र-बिन जैहौ अब कित।
तब तौ रचे प्रपंचरूप, कहि कपटी श्री हित॥"

अन्योक्तिकल्पद्रुम

अथवा—

"मोहै मति सुमनाँ मनौं, कहौं बार-हीं-बार।
महा छली है मधुप यह, कहा करै इतबार॥
कहा करै इतबार, बाहरैं भीतह कारौ।
गनैं न ठौर-कुठौर, चपल भरमैं दिसि चारौ॥
ऐ री मेरी बीर, लालची यह रस कौ है।
सुनि या की धुनि मंद, माधुरी तें अति मोहै॥"

—अनुरागबाग

६०

कवि-कथन

गुविंद—गोविंद, भगवान् श्रीकृष्णका नाम-विशेष, विश्वको जाननेवाला, ज्ञानसिंधु।

"दैत्यारिः पुण्डरीकाक्षो 'गोविंदो' गरुडध्वजः।"

—अमरकोष १। १। १९

गोविंदो वासुदेवे स्यात्.......।"

—मेदिनीकोष

गोविंद शब्दका एक मधुर अर्थ और भी है—

"गां भुवं धेनुं स्वर्गं वेदं वा अविदत्-विंदति सा गोविंदः।"

अथवा—

"गां विंदति इति गोविंदः।"

अर्थात् जो गौ, इन्द्रिय, पृथ्वी, स्वर्ग और वेदकी रक्षा करे, प्राप्त करे, वह—गोविंद। अथवा गौओंका जो लाभकर्त्ता हो वह गोविंद, यथा—

नष्टां च धरणीं पूर्वमविंदन् वै गुहागताम्।
'गोविंद' इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुतः[1]॥"

—महा० शा० ३४२। ७०

"अहं किलेंद्रो देवानां त्वं गवामिंद्रतां गतः।
'गोविंद' इति लोकास्त्वां स्तोष्यंति भुवि शाश्वतम्[2]॥"

—हरि वं० पु० २। १९। ४५

"गौरेषा तु यतो वाणी तां च विंदयते भवान्।
गोविंदस्तु ततो देव मुनिभिः कथ्यते भवान्[3]॥"

—हरि वं० पु० ३। ८८। ५०

---

१. मैंने पूर्वकालमें नष्ट हुई पातालगत पृथ्वीको पाया था, इसलिये देवताओंने मेरी अपनी वाणीसे 'गोविंद' कहकर स्तुति की

२. मैं देवताओंका इन्द्र हूँ और तुम गौओंके इन्द्र हुए हो, इसलिये भूमंडलमें लोग तुम्हें 'गोविंद' कहकर सर्वदा स्तुति करेंगे। श्रीमद्भागवतमें उक्त श्लोक इस प्रकार मिलता है। जैसे—

"अहमिंद्रो हि देवानां त्वं गवामिंद्रतां गतः।
गोविंद इति लोके त्वां गास्यति भुवि मानवाः॥"

—श्रीमद्भागवत १०। २०। २४

३. गौ, यह वाणी है और आप उसे प्राप्त कराते हैं, इसलिये हे देव, मुनिजन आपको 'गोविंद' कहते हैं।

गौ, गो शब्दके अर्थ, जिनमें वह प्रयुक्त होता है, जैसे—

"गौर्नादित्ये बलीवर्दे किरणक्रतुभेदयोः ।
स्त्री तु स्यादिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि ॥
नृस्त्रियोः स्वर्गवज्रांबुरश्मिदृग्बाणलोमसु ।"
—केशव

अथवा—

"गौ स्वर्गे च बलीवर्दे रश्मौ च कुशले पुमान् ।
स्त्री सौरभेयीदृग्बाणदिग्वाग्भूष्वप्सु भूम्नि च ॥"
—मेदिनीकोष

"स्वर्गेषु पशुवाग्वज्रदिग्नेत्रघृणिभूजले ।
लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः.............॥"
—अमरकोष ३ । ३ । २५

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

इंद्रः सुरर्षिभिः साकं नोदितो देवमातृभिः ।
अभ्यषिंचत दाशार्हं 'गोविंद' इति चाभ्यधात् ॥
—श्रीमद्भागवत १० । २७ । २३

अर्थात् इन्द्रने देवता और ऋषियोंको साथ ले देव-मातासे प्रेरित भगवान् श्रीकृष्णका अभिषिंचन कर 'गोविंद' नाम रखा ।

गोविंद शब्दके और भी अर्थ होते हैं, जैसे—

"गोभिर्वाणीभिर्वेदांतवाक्यैर्विद्यते योऽसौ पुरुषः ।
विंदति, यं पुरुषं तत्त्वज्ञा इति 'गोविंदः ॥"
—शब्दकल्पद्रुम

अर्थात् जिसे तत्त्वज्ञानी वेदांत-वाक्य-द्वारा जाने अथवा जो वेदांत-वाक्यद्वारा स्वयं जाना जाय वह पुरुष—आदि पुरुष गोविंद कहकर नमन किया जाता है। यथा—

"गोभिरेव यतो वेद्यो गोविंदः समुदाहृतः।" —विष्णुतिलक

अथवा वेद-वाणी और गो-भूमिका जाननेवाला 'गोविंद' कहा जाता है, यथा—

"गां वेदलक्षणां वाणीं गोभूम्यादिकं वा वेत्तीति गोविंदः॥"

—शब्दकल्पद्रुम

जैसा कि—गोपालतापिनीमें प्रतिपादित है—

"तदुहोचुः, कः कृष्णो गोविंदश्च कोऽसाविति
गोपीजनवल्लभः कः, का स्वाहेति। तानुवाच ब्राह्मणः
पापकर्षणो गोभूमिवेदविदितो गोपीजनविद्याकलाप-
प्रेरकः। तन्माया चेति सकलं परं ब्रह्मैव तत्।"

भरतादि मुनिके मत-अनुसार 'गोविंद' शब्दका अर्थ—

"गां विंदता भगवता गोविंदनामितौजसा।
वाराहरूपिणा चांतर्विक्षोभितजलाविलम्॥"

अथवा—

"विष्णुर्विक्रमणाद्देवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते।
शाश्वतत्वादनंतश्च गोविंदो वेदनाद्गवाम्॥"

—महाभारत

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें गोविंद शब्दका अर्थ लिखा है—

"युगे युगे प्रणष्टां गां विष्णो विंदसि तत्त्वतः।
गोविंदेति ततो नाम्ना प्रोच्यसे ऋषिभिस्तथा॥"

भृँग-संग्या—भृंगकी संज्ञाकर, भगवान् श्रीकृष्णको भृंग—भँवर, भौंरा, भ्रमर मानकर, नाम देकर। संज्ञा, यथा—

"संज्ञा स्याच्चेतना नाम हस्ताद्यैश्चार्थसूचना।"

—अमरकोष ३।३।३३

और भी जैसे—

"संज्ञा नामानि गायत्र्यां चेतनारवियोषितोः।
अर्थस्य सूचनायां च हस्ताद्यैरपि योषिति॥"

—मेदिनीकोष

लज्जा-लोपी—लज्जा-लोपकर, लज्जा छोड़कर त्यागकर, लज्जाका परित्यागकर, शर्म त्यागकर, केसौ—केशव, भगवान् श्रीकृष्णका नाम विशेष, यथा—

"दामोदरो हृषीकेशः केशवो माधवः स्वभूः"

—अमरकोष १।१।१८

केशव शब्दका अर्थ करते हुए—व्युत्पत्ति करते हुए आदि शंकराचार्य महाराज कहते हैं—

"केशसंज्ञिता सूर्यादिसंक्रांता अंशवः तद्वत्तया केशवः।"

—वि० स० शां० भा० ८२

अर्थात् सूर्यादिके भीतर व्याप्त हुई किरणें केश कहलाती हैं, उनसे युक्त होनेके कारण भगवान् 'केशव' हैं, यथा—

"अंशवो ये प्रकाशंते ममते केशसंज्ञिताः।
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः॥"*

—महा० शा० ३४१।४८

* मेरी जो किरणें प्रकाशित होती हैं, वे केश कहलाती हैं, इसलिये हे सर्वज्ञ, द्विजश्रेष्ठ मुझे 'केशव' कहते हैं।

अथवा ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामकी शक्तियाँ केश हैं, उनसे युक्त होनेके कारण भगवान् 'केशव' हैं, यथा—

"त्रयः केशिनः । मत्केशौ वसुधातले ॥"

अर्थात् भगवान् 'तीन' केशवाले है, मेरे दो केश (शक्तियाँ) पृथ्वीतलमें है । अथवा—'क' ब्रह्माका नाम है और मै (शिवरूपसे) समस्त देहधारियोंका ईश हूँ, अतएव हम दोनों, अर्थात् ब्रह्मा और शिव आपके अंशसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये आप 'केशव' हैं। यथा—

को ब्रह्मेति समाख्यात ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् ।
आवां तवांशसम्भूतौ तस्मात्केशवनामवान् ॥
—हरिवंशपुराण ३ । ८८ । ४८

अथवा—

"केशौ ब्रह्मरुद्रौ अपि अनुकम्प्यतया वाति इति केशवः ।"

अर्थात् ब्रह्मा और रुद्रपर भी जो दया करता है—दयाका करनेवाला है, वह केशव है । अथवा—

को ब्रह्मा, ईशः रुद्रः, तौ आत्मनि स्वरूपे वयति प्रलये उपाधिरूपमूर्तित्रयं मुक्त्वा, एकमात्रपरमात्मस्वरूपेणावतिष्ठति इति केशवः ।'

अर्थात्—ब्रह्मा और रुद्र इन दोनोंका प्रलयकालमें उपाधिरूप ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप मूर्ति त्रय नाम त्यागकर केवल परमात्मा-स्वरूपसे आत्मारूप स्थित हो जाना अथवा हो जायँ वे 'केशव' । यथा—

'अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥'

'ऋतेऽर्थं यद् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथातमः॥'
'यथा महांति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥'
'एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥'
'एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥'

अथवा—

'के जले शववत् भातीति केशवः, प्रलयकाले क्षीरोद-शायितया तथात्वम् इत्यर्थः।'

अर्थात्—प्रलय-काल-समय क्षीरसागरमें सोनेके कारण जो शववत् सुशोभित हों, वह केशव।

केशव शब्दका एक अर्थ और भी होता है जैसे—

केशं केशिनं वाति हिनस्ति इति केशवः।

अर्थात् केशी नामक दैत्यके मारनेसे आप केशी हैं—केशव हैं। यथा—

'यस्मात् त्वयैव दुष्टात्मा हतः केशी जनार्दनः।
तस्मात् केशवनाम्ना त्वं लोके ज्ञेयो भविष्यसि॥'

—हरिवंशपुराण

गोविंद, भृंग-संग्या,* लज्जा-लोपी और केसौ शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, जैसे—

'गोविंद माँगत हैं, दधि-रोटी।' —परमानंददास

* उक्त शब्दका—वाक्यका प्रयोग नहीं मिला।

अथवा ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामकी शक्तियाँ केश हैं, उनसे युक्त होनेके कारण भगवान् 'केशव' हैं, यथा—

"त्रय. केशिनः। मत्केशा वसुधातले॥"

अर्थात् भगवान् 'तीन' केशवाले हैं, मेरे दो केश (शक्तियाँ) पृथ्वीतलमें हैं। अथवा—'क' ब्रह्माका नाम है और मैं (शिवरूपसे) समस्त देहधारियोंका ईश हूँ, अतएव हम दोनों, अर्थात् ब्रह्मा और शिव आपके अङ्गसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये आप 'केशव' हैं। यथा—

को ब्रह्मेति समाख्यात ईशोऽहं सर्वदेहिनाम्।
आवां तवाङ्गसम्भूतौ तस्मात्केशवनामवान्॥

—हरिवंशपुराण ३। ८८। ४८

अथवा—

"केशौ ब्रह्मरुद्रौ अपि अनुकम्प्यतया वाति इति केशव.।"

अर्थात् ब्रह्मा और रुद्रपर भी जो दया करता है—दयाका करनेवाला है, वह केशव है। अथवा—

को ब्रह्मा, ईशः रुद्रः, तौ आत्मनि स्वरूपे वयति प्रलये उपाधिरूपमूर्तित्रयं मुक्त्वा· एकमात्रपरमात्मस्वरूपेणावतिष्ठति इति केशवः।'

अर्थात्—ब्रह्मा और रुद्र इन दोनोंका प्रलयकालमें उपाधिरूप ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप मूर्ति त्रय नाम त्यागकर केवल परमात्मा-स्वरूपसे आत्मारूप स्थित हो जाना अथवा हो जायँ वे 'केशव'। यथा—

'अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥'

'ऋतेऽर्थं यद् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथातमः॥'
'यथा महांति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥'
'एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥'
'एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥'

अथवा—

'के जले शववत् भातीति केशवः, प्रलयकाले क्षीरोद-शायितया तथात्वम् इत्यर्थः।'

अर्थात्—प्रलय-काल-समय क्षीरसागरमें सोनेके कारण जो शववत् सुशोभित हों, वह केशव।

केशव शब्दका एक अर्थ और भी होता है जैसे—

केशं केशिनं वाति हिनस्ति इति केशवः।

अर्थात् केशी नामक दैत्यके मारनेसे आप केशी हैं—केशव हैं। यथा—

'यस्मात् त्वयैव दुष्टात्मा हतः केशी जनार्दनः।
तस्मात् केशवनाम्ना त्वं लोके ज्ञेयो भविष्यसि॥'

—हरिवंशपुराण

गोविंद, भृंग-संग्या,* लज्जा-लोपी और केसौ शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, जैसे—

'गोविंद माँगत हैं, दधि-रोटी।' —परमानंददास

* उक्त शब्दका—वाक्यका प्रयोग नहीं मिला।

'बसन कहूँ, भावन ही कहूँ, सग-कुल-लज्जा-लोपी।'

—मानदास

'भगतिपाल 'केमों' कमलापति।' —सूरदास

कुछ ऐसी ही बात श्रीशुक भागवतमें कहते हैं—

'गायंत्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः॥'

—श्रीमद्भागवत १०। ४७। १०

अर्थात् अपने प्रियके कर्मोंका गान करती हुई और उनके बाल-कैशोर अवस्थाके जो कार्य उनका स्मरण करती हुई लज्जा छोड़कर रुदन करने लगीं।

श्रीनंददासजीकी—'ता पाछें इकबार ही रोइ उठीं ब्रज-नारि' रूप सूक्तिपर श्रीशुकने श्रीमद्भागवतमें और भी कहा है, जैसे—

'इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन्कृष्णदर्शनलालसाः॥'

—श्रीमद्भागवत १०। ३२। १

अर्थात्—हे राजन्, इस प्रकार गोपियाँ गान करती हुई और नाना प्रकारका प्रलाप करती हुई श्रीकृष्णके दर्शनमें अत्यन्त लालसा लगा अति उत्तम स्वरसे रोदन करने लगीं। उत्तम स्वर, यथा—

'सुस्वरं, करुणदीर्घस्वरेणेत्यर्थः।' —जीवगोस्वामी

अथवा—

'सुस्वरं, निर्लज्जतया दीर्घस्वरेण रुरुदुः।'

—श्रीरामनारायण

६१

सलिल—जल, पानी, यथा—

'आपः स्त्री भूम्निवार्वादि 'सलिलं' कमलं जलम्।'

—अमरकोष १ । ९ । ३

कंचुकी—वस्त्र-विशेष, जो कि 'चोली' कहलाता है और स्तनोंपर पहिरी जाता है । कंचुकी, चोली, अँगिया ।

'स्त्रीणामंगरक्षिणी ।' —हेमचंद्र

'कंचुको' वारबाणे स्यान्निर्मोके कवचेऽपि च ।

वर्धापकगृहीतांगस्थितवस्त्रे च चोलके ॥'

—मेदिनीकोष

मेंड़ि—घेरा, आड़, हद, सीमा । कूल कौ तृँन भयौ[1]—किनारेका तिनका हुआ । कूल—किनारा, तीर, तट, नदीके किनारे-का तृण, अर्थात् तिनका हुआ । कूल, यथा—

'कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु ।'

—अमरकोष १ । ९ । ७

मेदिनी कोषकार 'कूल' के इतने और अर्थ बतलाते हुए कहते हैं—

'कूलं तटे सैन्यपृष्ठे तडागस्तूभयोरपि '

—मेदिनीकोष

और तृँन, (तृण)—

'शष्पं बालतृणं घासो यवसं तृणमर्जुनम् ।'

—अमरकोष २ । ४ । १६७

---

१. उक्त पद्यमें तृँन वा तृणको त्रन मानकर कई सुसंपादकोंने इसके बड़े-बड़े विचित्र अर्थ किये हैं । कोई तो इसका अर्थ त्राण, रक्षक मानता है तो कोई औषधि और कोई किनारेका पेड़, द्रुम, वट मानता है, परन्तु हमारी तुच्छ बुद्धिके अनुसार उक्त शब्दका अर्थ यही उपयुक्त है ।

मल्हक, मचुकी, मेड़ि-आदि शब्दका सुन्दर प्रयोग, यथा—

'जहाँ है रेनु, बड़ो अति दुख, 'मल्हक' बरसि ब्रज-नौका सिरावौ।'

—सूरदास

एक सोंधे भरी, दूरे बारन भरी, एक बिन 'मचुकी' रीझि लटी।'

—हित भगवान

'मनो सातवीं 'मेड़ि' बनाई, रुचिर कचन के बीच।'

—रसिकअनन्य

श्रीनन्ददासके उक्त सुमधुर भावपर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी-की भी सुन्दर सूक्ति है, जैसे—

'हमारे नैन बही नदियाँ।
बीती जानि औधि आवन की, जो हमसों बदियाँ॥
अथाहौ इन मनल-अंग ब्रज अंजन कौ धोयौ।
लोक, बेद, कुल-कानि बहाई, सुरत न लहौ खोयौ॥
डूबत हौं अकुलाइ अथाहँन, यहै रीति कैसी।
'हरिचंद' पिय महाबाहु तुम, आछति गति कैसी॥'

—प्रेमाश्रुवर्षन

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर कहते हैं—

'जस, रस, मधुर-लुनाई 'रत्नाकर' कौ-
कॉनन बरसि घटा घट लौ नदी चली।
बहि तृन पात लौं तमाम कुल कानि गई,
गुरु-गिरि-रोक-टोक ह्वै जिमि रद्दी चली॥
लाज-अभिलाष-भौर-भामन गँभीर लखी,
उँमगि-उँमंग बाढ़ि करत बदी चली।
धीरज-करार-फोरि, लज्जा-द्रुम-तोरि, बोरि,
नोकदार नैननि तें निकसि नदी चली॥'

—शृंगारलहरी

अश्रु-वारि-वर्षापर कवियोंने बड़ी-बड़ी सुंदर सूक्तियाँ सृजी हैं, अश्रु-वारि-वर्षाकी विविध बहारें बखान की हैं, झड़ी-सी लगा दी है। इन सबमें प्रथम श्रीसूरकी नेत्रवारि-वर्षा देखने लायक है, जैसे—

'नैंन-घन रहत न एक घरी।
कबहुँ न घटत, सदाँ पावस इहिं लागति रहति झरी॥
बिरह-इंद्र बरसावत निसि-दिन, ब्रज पै अधिक करी।
ऊरध-साँस-समीर, तेज, जल, उर-भुवि उँमगि भरी॥
बूड़ति भुजा, रोंम-द्रुम, अंबर, अरु कुच उच्च धरी।
चलि न सकत पग पथिक रहे थकि, चंदन कीच खरी॥
रस-रितु मिटीं भई अब एकै, इहि विधि उलटि परी।
'सूरदास' प्रभु तुमरे मिलन कों रितु-मरजाद टरी॥'

—सूरसागर

अथवा—

'सखी, इन नैंननि तें घन हारे।
बिनहीं रितु बरसतु निसि-बासर, सदाँ मलिन दोऊ तारे॥
ऊरध-साँस-समीर तेज अति, सुख-अनंग-द्रुम-डारे।
दिसँन-दसँन करि बसे बचँन-खग, दुख-पावस के मारे॥
ढरि-ढरि बूंद परति कंचुकि पै, मिलि-मिलि अंजन कारे।
मॉनों परन-कुटी सिव कीन्हीं, बिबिधि रूप धरि न्यारे॥
सुमरि-सुमरि गरजत, जल-छाँड़त, अँसुवा सलिल सुधारे।
बूड़त ब्रजहिं 'सूर' को राखै, बिन गिरिधर बर प्यारे॥'

—सूरसागर

प्रह्लाद कवि कहते हैं—

'जोग-दैंन गयौ हौ वियोग-वारि-वारिध में-
डूबत बचौं हौं नाथ, नारी-नैंन यों बहैं।
गंग की सहस अधर-दुधार-धार,
इंद्र-कोप नाहिं जो बचौंगे गिरि कों गहैं॥

सागर में न देख्यौ, ऐसौ देख्यौ ना अवनी पै कहूँ,
मुनिन पै अचैवौ जाहि कौन-भाँतिकैं कहै ।
'कवि प्रहलाद जू' मिलाप-सेतु बाँधौ नतौ-
घर के पतौवा ऐ रावरे भलैं रहैं ॥'

रसिकशिरोमणि रसखानजी कहते हैं—

'आप कहा कहिकैं कहिऐ, वृषभाँन-लली तैं लला, दृग-जोरत ।
ता छिन तें असुवाँन की धार, न तोरति जद्यपि लोग-निहोरत ॥
बेगि चलौ 'रसखाँन' चलाइ क्यों, क्यौं अभिमाँन तें भौंह-मरोरत ।
प्यारे, पुरंदर होहि न प्यारी, अबै पल आधिक मैं ब्रज-बोरत[१] ॥'

पुनीत प्रेमके पुजारी 'घनानंदजी' कहते हैं—

'घनआनँद' जीवन-मूरि सुजाँन की, कौंधँन हू ना कहूँ परसैं ।
तहिं जाँनिऐं धौं कित छाइ रहे, इत चातक-प्राँन परे तरसैं ॥
बिन पावस सौ इन पावस होइ न, सु क्यौं करिऐ अब सौं परसैं ।
बदरा बरसैं ऋतु-में घिरकैं, बिन पावस ए अँखियाँ बरसैं[२] ॥'

---

१. रसखानके उक्त भावपर हजरत 'नूह' फर्माते हैं—

'मुझे रोने नहीं देता तसव्वर तेरी आँखों का ।
वगर-ना दोनों आलम को डुबाता अपनी आँखों से ॥'

—नूहनारवी

२. उक्त भावपर कविवर 'ब्रह्म', अर्थात् प्रसिद्ध महाराज 'बीरबल' की भी एक सरस सूक्ति है, जैसे—

'कालिह के कौन्ह गए मथुरा, मनौं बीति गए जुग-बासर सै ।
बिरहागिनि, धाम लगाइ दई, दै दसौ दिसि-देखि वही दरसै ॥
'कविब्रह्म' भनै मोहिं जाँन जरे मसि, स्याँम-घटा-नवसौ परसै ।
बिरही बरि बारहिं बार उठै, दृगनीर किधौं घन धौं बरसै ॥'

कवि रघुनाथजी कहते हैं—

"आपुन के बिछुरे मनमोहन, बीती अबहिं घरी एक कि द्वै है।
ऐसी दसा इतने में भई, 'रघुनाथ' सुने तें बड़ौ भै ह्वै है॥
लाड़िली के अँसुवाँन कौ सागर[1], बाढ़त जात मनों नभ द्वै है।
बात कहा कहिये ब्रज की, अब बूड़ौई ह्वै है कि बूड़त ह्वै है॥[2]"

दो-एक संस्कृत सूक्तियाँ भी देखिये, जैसे—

"अनुदिनमतितीव्रं रोदिषीत्त्वमुच्चैः
सखि किल कुरुषे त्वं वाच्यतां मे मुधैव।
हृदयमिदमनंगागारसंगाद्विलीय
प्रसरति बहिरंभः सुस्थितं नैतदश्रु॥[3]"

---

१. 'लाड़िलीके अँसुवाँन कौ सागर' पर उर्दूके प्रसिद्ध कवि 'सौदा' साहबका एक शेर देखने लायक है, जैसे—

"समंदर कर दिया नाम, उसका नाहक सबने कह कहकर।
हुए थे कुछ जमा आँसू, मेरी आँखों से बह-बहकर॥"

२. रघुनाथ कविके पहिले यही बात श्रीसूरने बड़े सुन्दर ढंगसे व्यक्त की है, जैसे—

"निसि-दिन बरसत नैंन हमारे।
सदाँ रहति पावस-रितु हम पैं, जब सौं स्याँम सिधारे॥
अंजन थिर न रहत अँखियन में, कर-कपोल भए कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर-बिच बहत पनारे॥
अँसुवा-सलिल भए पग थाके, बहे जात सित-तारे।
'सूरदास' बूड़त है ब्रज अब, काहे न लेति उबारे॥

३. "कोई विरह-विधुरा-नायिका, सखीके पूछे जानेपर कि 'तू नित्य-प्रति—हर समय इतना क्यों रोती है' । इसपर वह (नायिका) उत्तर देती

"अस्मत्प्रयाणसमये कुरु मंगलानि
किं रोदिषि प्रियतमे वद कारणं मे।
हे प्राणनाथ विरहानलतीव्रताप-
धूमेन वारिगलितं मम लोचनाभ्याम्॥[१]"
"अंगानि मे दहतु कांतवियोगवह्निः
संरक्षतां प्रियतमो हृदि वर्तते यः।
इत्याशयाशशिमुखी गलदश्रुबिंदु-
धाराभिरुष्णमभिषिंचति हृत्प्रदेशम्॥[२]"

हुई कहती है कि सखी, ऐसा—इतना रोज-ब-रोज क्यों रोती है—कहकर मुझे क्यों व्यर्थको बदनाम करती है। अरी, विरह-पीड़ासे अनभिज्ञ स्वस्थ चित्तवाली, ये मेरी आँखोंमें आँसू नहीं है, अपितु कामाग्निसे पिघल-पिघलकर हृदय पानी हो नेत्रोंके पाइप-द्वारा फिल्टर होकर बाहर निकल रहा है—आ रहा है। यही बात कविसम्राट् बिहारीलालजीने अपनी सुमधुर भाषामें इस प्रकार कही है, जैसे—

"लग्यौ आँच अति बिरह की, रह्यौ प्रेम-रस-भीँजि।
नैननि के मग जल बहै, हियौ पसीजि-पसीजि॥"
—बिहारीसतसई

१. "प्रदेश (दूसरे देश) गमनके समय पत्नीके रोनेपर पति पूँछता है कि हे प्रियतमे, मेरे प्रस्थान-समय—जानेके वक्त मंगलचार न कर तुम रो रही हो—इसका क्या कारण है? यह बात सुनकर नायिका—प्रियतमा—उत्तर देती हुई कहती है, प्राणनाथ, आपकी विरह वह्नि (आग) का उठा हुआ धूआँ इन आँखोंमें लगा है जिसके कारण मेरी आँखोंमे आँसू निकल पड़े हैं और कुछ कारण नहीं है।"

२. "श्लोककी—प्रियतमकी वियोग वह्नि (आग) मेरे अगोंको भले ही जला दे, किंतु हृदय प्रदेशस्थित प्रियतमको वह उत्ताप (भभका) न लगे, इस आशयसे वह चंद्रमुखी, धाराप्रवाह अश्रु-जल बरसाकर अपने हृदयको सींच रही है—भिगो रही है।"

"अश्रुच्छलेन सुदृशो हुतपावकधूमकलुषाक्ष्याः ।
अप्राप्य मानमंगे विगलति लावण्यवारिपूर इव ॥[1]"

दो-चार उर्दू-साहित्यकी सूक्तियाँ देखिये, जैसे—

"तिफ़्ले-अश्क ऐसा गिरा, दामाने-मिज़गाँ छोड़कर ।
फिर न उट्ठा कूचए, चाके-गिरेबाँ छोड़कर ॥[2]"

—ज़ौक़

"फ़लक ने खूब ख़िदमत ली, हमारे दीदये-तरसे ।
कि हर आँसूने मूँ धोया, शबे-महताबे-हिजराँका ॥[3]"

× × × ×

"मेरे अश्कों में हैं, या तेरे दंदाने-मुसफ़्फ़ा में ।
गुहर की आब, हीरे की तजल्ली, नूर तारे का ॥[4]"

—दाग़

---

१. होमी गयी अग्निके धूँएसे धूसरित आँखवाली उस सुलोचनाका-नायिकाका सौंदर्य-जल (आबदार पानी) शरीरमें प्रतिष्ठा (मान) न पाकर आँसुओंके बहाने झर रहा है—निकल रहा है ।

२. तिफ़्ल (बालक) आँसू, मातृरूपी पलकोंका पल्ला त्यागकर ऐसे गिरे कि फिर उठाये न उठे ।

३. आकाशने मेरे आर्द्र-आँसुओंसे समलंकृत नेत्रोंसे—आँखोंसे खूब सेवा ली, क्योंकि मित्रके विरहमें मैं रातभर रोया और अपनी आँखों के हर एक अश्रुकणसे विरहाधिपति चंद्रदेवका मू धोया किया । तभी तो वह अधिकाधिक उज्ज्वल होता जा रहा है ।

४. तुझे अपनी दंत-पंक्तिकी सफ़ाईका बड़ा गुमान है—अभिमान है, पर यह तो बता कि मेरे आँसुओंसे बढ़कर क्या वे (दंतावली) साफ हैं । मोतीकी आभा, हीरेकी दमक और तारों-जैसा प्रकाश तेरे दाँतोंमें है, या मेरे आँसुओंमें ।

"घर मेरा, गर मैं न रोता तो भी वीराँ होता।
बहर गर बहर न होता तो बयाबाँ होता॥[१]"

—ग़ालिब

'पुकारा क़ासिदे-अश्क आज, फ़ौजे-ग़म के हाथों से।
हुआ ताराज पहिले शहरे-जाँ दिल का नगर पीछे॥
'सुनो मैं खूँ को अपने साथ ले आया हूँ और बाक़ी।
चले आते हैं उठते, बैठते, लख़्ते-जिगर पीछे॥[२]'

—नज़ीर

---

१. लोग कहते हैं कि मैंने अपने घरको रो-रोकर बहा दिया, मुझे अपनी आँखोंकी आँसुओंकी इस शक्तिसे तनिक भी इन्कार नहीं, किंतु इस कारण मैंने अपनी ही हानि की, इस बातको मैं कदापि नहीं मानता। बेशक, मेरी आँखोंने आँसू बहा-बहाकर घरको साफ कर दिया—बहा दिया, परंतु वह (आँसू) ऐसा न भी करते तो भी मेरी बरबादीमें कुछ शक न था, क्योंकि पृथ्वीके दो ही जल और थल विभाग हैं। यदि आँखें आँसू न बरसातीं तो जल न होता—जलसे न बहता, बयाँबाँ होता, अर्थात् जंगल होता।

२. विरहमें प्रेमीके नेत्रोंसे आँसुओंके साथ लहू भी—खून भी आने लगा है। अतः उसने यह जान पड़ने लगा कि अगर कुछ दिन यही हालत होती रही—नित्य-प्रति रोता ही रहा तो कलेजेके टुकड़े-टुकड़े होकर आँसुओंके साथ बाहर आने लगेंगे। इस भावको प्रदर्शन करते हुए कविवर 'नजीर' साहब फरमाते हैं कि—'हरकारारूपी अश्रु यह सँदेसा लाया है कि आज प्रियतमके विरहकी सेनाने पहिले जान (शरीर) रूपी नगरको और इसके बाद दिल (हृदय-पुर) को लूट-मारकर चौपट कर डाला, अतएव उस (जान और दिलकी प्रजारूप) लहूको मैं अपने हमराह (साथमें) लिवा लाया हूँ और पीछे उठते-बैठते थकित-से जिगर (कलेजे) के टुकड़े चले आ रहे हैं।'

'यहाँ तक गिरिया में रोए सहर तक ।
गली-कूंचे में पानी है कमर तक ॥[1]' —तजल्ली

'अश्क़ आँखों से पल नहीं थमता ।
क्या बला दिल-ही-दिल में आब हुआ ॥[2]' —सोज़

'मज़ा बरसात का देखो, तो आ बैठी इन आँखों में ।
शियाही है, सफ़ैदी है, सफ़क हैं अब्रे-वाराँ हैं ॥[3]'
—कोई शायर

६२

उद्धवकी प्रेम-दशाका वर्णन

गिलाँन—ग्लानि, मानसिक व्यथा, निंदा, अरुचि, भ्रांति, चित्त-की शिथिलता या खिन्नता, रोग-निर्मुक्त, खेद । मनकी एक वृत्ति जिसमें अपने किसी कार्यकी बुराई या दोष आदि देखकर अनुत्साह, अरुचि और खिन्नता उत्पन्न होती है ।

---

१. मैं उसकी जुदायगीमें—विरहमें यहाँतक रोया कि गली-कूचोंमें मेरे आँसुओंका पानी कमर-कमर हो गया ।

२. अर्थ स्पष्ट हैं ।

३. ओ निठुर प्रियतम, यदि बरसातका ही—वर्षाऋतुका ही आनंद लेना है तो मेरी इन आँखोंमें आकर क्यों नहीं बैठता, क्योंकि मेरी आँखोंमें वर्षा ऋतुसे रंजित घनघोर काली घटा है, उजेला है, ललाई है और पानीसे भरे पलकरूप बादलोंसे आच्छादित मेघ भी है ।

उक्त शेरको पढ़कर सैयद गुलामनवी (रसलीन) जीका यह दोहा बरबस याद आ जाता है । जैसे—

'अमी, हलाहल, मद-भरे, सेत, स्याँम, रतनार ।
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जिहिं चितवत इकबार ॥'

'आवत गिलॉनि' सुनति ए बातैं, मधुकर, मौन रहौ ॥"
—प्रियाचरणदास

"मोहन, 'सिगरी' निसि कहाँ जागे।"
—चतुरविहारीदास

"कहत कथा 'निज-पाथ' जानि सुक, ह्वै-ह्वै मुदित सु मन में।"
—रामदास

"'कृत-कृत' भई भेष ये लखि कैं, धन्न हमारे भाग।"
—मानदास

श्रीनन्ददासजीकी इस परम मधुर सूक्ति—"प्रेम-विवस्था देखि सुद्धि अति भक्ति प्रकासी, दुबिधा, ग्यान, गिलानि मंदता सिगरी नासी" पर पद्मपुराणकी एक सूक्ति स्मरण हो आयी है, जैसे—

"भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन
सत्संगमेव लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥"
—पद्मपुराण ६ । १९० । ७६

अर्थात्, जब बहुत जन्मके पुण्य-पुंजसे भाग्योदय होनेपर ही सत्संगकी प्राप्ति होती है, तब अज्ञानकृत मोह और मदरूप अंधकार-का नाश हो विवेक (सूर्य) उदय होता है।

६३

उद्धवका अपने प्रति कथन

मरँम—मर्म, रहस्य, भेद, अभिप्राय, आशय, स्वरूप, तत्त्व।
मरजाद—मर्यादा, रीति, प्रतिष्ठा, मान, नियम, पत, परिपाटी, विधि

"मर्यादा धारणा स्थितिः ।"

—अमरकोष २ । ८ । २६

रोप—निरोप, निरूपण कर, विवेचन कर, स्थिर कर, निर्णय र, वितर्ककर, प्रकाशकर, विवेचनापूर्वक निर्णय कर ।

"आलोकः विचारः निदर्शनम् ।"

—मेदिनीकोष

निरूपण शब्दके लिये महाभारतमें लिखा है—

"प्रच्छन्ना हि महात्मानश्चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।
दैवेन विधिना युक्ता शास्त्रोक्तैश्च निरूपणैः ॥"

—महाभारत व० प० ७१ । ३१

गोपिका—गोपोंकी स्त्रियाँ, ग्वालिनि, गोपांगना, अहीरिनि, ब्रजकी स्त्रियाँ, ब्रजमें रहनेवाली ।

"गोपीश्यामा गोपवल्ली गोपा गोपालिका च सा ।"

—वाचस्पतिकोष

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

"न खलु 'गोपिका' नंदनो भवानखिलदेहिनामंतरात्मदृक् ।"

—श्रीमद्भागवत १० । ३१ । ४

गोपिका शब्दका एक अर्थ—रक्षण करनेवाली, छिपानेवाली और रक्षा करनेवाली भी होता है, जैसे—

"आत्मानं गोपयेत् या च सर्वदा पशुसंकटे ।
सर्ववर्णोद्भवा रम्या 'गोपिका' सा प्रकीर्त्तिता ॥"

—निरुक्ते

'आवत गिलाँनि' सुनति ए बातें, मधुकर, मौन रहौ ॥"

—प्रियाशरणदास

"मोहन, 'सिगरी' निसि कहाँ जागे।"

—चतुरविहारीदास

"कहत कथा 'निज-पात्र' जानि सुक, हैं-हैं मुदित सु मन में।"

—रामदास

"'कृत-कृत' भई भेष यै लखि कैं, धन्न हमारे भाग।"

—मानदास

श्रीनंददासजीकी इस परम मधुर सूक्ति—"प्रेम-बिवस्था देखि सुद्धि अति भक्ति प्रकासी, दुविधा, ग्यान, गिलानि मंदता सिगरी नासी" पर पद्मपुराणकी एक सूक्ति स्मरण हो आयी है, जैसे—

"भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन
सत्संगमेव लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥"

—पद्मपुराण ६ । १९० । ७६

अर्थात्, जब बहुत जन्मके पुण्य-पुंजसे भाग्योदय होनेपर ही सत्संगकी प्राप्ति होती है, तब अज्ञानकृत मोह और मदरूप अंधकार-का नाश हो विवेक (सूर्य) उदय होता है।

६२

उद्धवका अपने प्रति कथन

मरँम—मर्म, रहस्य, भेद, अभिप्राय, आशय, स्वरूप, तत्व।
मरजाद—मर्याद, रीति, प्रतिष्ठा, मान, नियम, पत, परिपाटी, निधि

६४

मेटि—मेटकर, नाशकर, तोड़कर। पँरमआँनंद—परमानंद, अत्यंत आनंद, विशेष सुख, बहुत बड़ा सुख। पटतर—बराबरी, समता, उपमा, उदाहरण, मिसाल, तुल्यता, सादृश्य कथन।

मेटि, परमाँनंद और पटतर शब्दके सुन्दर प्रयोग, यथा—

'मेंटि सकल सुरपति की पूजा, गिरि कौ जग्य रचायौ।"

—परमानंददास

"'परमाँनंद' आजु गोकुल में, घर-घर बजत बधायौ।"

—कृष्णदास

सुख 'पटतर' नहिं दैन स्यामँ कौं कवि मति हूँ अति भूली।"

—विट्ठलविपुल

कुछ ऐसी ही बात श्रीनारदने प्रेमका निरूपण करते हुए अपने 'भक्ति-सूत्र' में कही है, जैसे—

"अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः।
सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।
अमृतस्वरूपा च।
यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति"[1]

---

१. यही बात श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् कहते हैं—

"न पारमेष्ठ्यं न महेंद्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥"

—श्रीमद्भागवत ११।१४।१४

"देखी सब 'मरजाद' तिहारी, बासर बरनत बीते।"

—आनंद

"कहा 'रोप' रहे ए बातें, तनक बिचारौ मधुकर।"

—सूरदास

"हरि मँग नचत 'गोपिका' रँग भीनी।"

—परमानंददास

उक्त भावपर श्रीसूर कहते हैं—

"अब अति चकितवंत मन मेरौ।
आयौ हो निरगुन उपदेसन भयौ सगुन कौ चेरौ।
मैं कछु ग्यान कह्यौ गीता कौ, तुमहिं न परस्यौ सुनेरौ॥
अति अग्यान जानिकैं अपनौं, दूत भयौ उन केरौ॥
निज जन जाँनि हरि इहाँ पठायौ, दीन्हौं बोझ घनेरौ।
'सूर' मधुप उठि चल्यौ मधुपुरी, बोरि जोग कौ बेरौ॥"

—सूरसागर

श्रीनंददास उक्त सूक्ति—"ए सब प्रेमासक्तनि ह्वै रहीं लाज-कुल-लोप। धन्य ए गोपिका"—पर श्रीमद्भागवतमें गोपियोंके प्रति भगवान् कहते हैं—

"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माऽभजन्दुर्जरगेहशृंखलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥"

—श्रीमद्भागवत १०।३२।२१

अर्थात्—

"तुम जो करी सो कोऊ न करै, सुनि नवल किसोरी।
लोक-बेद की सुदृढ़-सृंखला तृँन-सँम तोरी॥"

—नंददा

६४

मेंटि—मेटिकर, नाशकर, तोड़कर। *परमआँनंद*—परमानंद, अत्यंत आनंद, विशेष सुख, बहुत बड़ा सुख। *पटतर*—बराबरी, समता, उपमा, उदाहरण, मिसाल, तुल्यता, सादृश्य कथन।

मेंटि, परमाँनंद और पटतर शब्दके सुन्दर प्रयोग, यथा—

'मेंटि सकल सुरपति की पूजा, गिरि कौ जग्य रचायौ।"

—परमानंददास

"'परमाँनंद' आजु गोकुल में, घर-घर बजत बधायौ।"

—कृष्णदास

मुख 'पटतर' नहिं दैन स्यामँ कौं कवि मति हूँ अति भूली।"

—विट्ठलविपुल

कुछ ऐसी ही बात श्रीनारदने प्रेमका निरूपण करते हुए अपने 'भक्ति-सूत्र' में कही है, जैसे—

"अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः।
सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।
अमृतस्वरूपा च।
यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति"[1]

---

१. यही बात श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् कहते हैं—

"न पारमेष्ठ्यं न महेंद्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥"

—श्रीमद्भागवत ११।१४।१४

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति।"[1]

*

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।
निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः॥"[2]

—नारदभक्तिसूत्र १—५, ७, ८

अर्थात्—'अब हम भक्तिकी व्याख्या करेंगे। वह परमप्रेमरूपा है और अमृतरूप भी है। जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है—तृप्त हो जाता है। जिसके प्राप्त होनेपर मनुष्य किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे विषयादि भोगोंकी प्राप्तिके निमित्त उत्साह ही होता है।

वह—प्रेमाभक्ति कामना युक्त नहीं है, क्योंकि निरोधस्वरूपा है। लौकिक और वैदिक कर्मोंके त्यागको 'निरोध' कहते हैं।

---

१. श्रीशुक कहते हैं—

"यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥"

—श्रीमद्भागवत ६। १२। २२

२. कुछ ऐसी ही बात गोपियोंने भगवान्से कही है, जैसे—

"चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥"

—श्रीमद्भागवत १०। २९। ३४

श्रीशाण्डिल्य ऋषि भी अपने भक्ति-सूत्रमें यही बात कहते हैं, जैसे—

"अथातो भक्तिजिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे। तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्।"[१]
"तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात्।"[२]

—भक्तिसूत्र ११, २, ३, २२,

यहाँ भक्तिसे प्रेम वा अनुरागका ही अर्थ लेना चाहिये, क्योंकि द्वेषसे प्रतिकूल होनेके कारण और रस शब्द-द्वारा प्रतिपादित होनेसे भक्तिका नाम ही अनुराग है—इसे ही प्रेम कहते हैं, जैसे—

"द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः।"

—शा० भ० सू० १६

---

१. अब भक्तिकी जिज्ञासा—विचार आरंभ करते हैं। वह भक्ति ईश्वरमें पूर्व अनुरागको कहते हैं। उसमें जो चित्त लगाता है वह अमृत-फल पाता है।

२. इससे भक्ति ही मुख्य है, क्योंकि भक्तको कर्मज्ञ, ज्ञानी और योगियोंसे उत्तम कहा है। गीतामें भी यही बात कही गयी है, जैसे—

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ६। ४६-४७

योगी, तपस्वियोंकी, ज्ञानियोंकी और कर्मकाण्डियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, इसलिये अर्जुन, तू योगी हो। परंतु योगियोंमें मैं उसे ही सबसे श्रेष्ठ, उत्तम, युक्त समझता हूँ जो कि मुझमें अंतःकरण लगाकर श्रद्धा-सहित मुझे भजे—मुझमें ही ध्यान लगाये।

सुंदरदासजी कहते हैं—

"न लाज तीन लोककी, न बेद कौ कह्यौ करैं।
न संक-भूत-प्रेत की, न देव-जच्छ तें डरैं॥
सुनैं न कॉन और की, द्रसैं न और इच्छना।
कहैं न बात और की, सुभक्ति-प्रेम-लच्छना॥"

क्ष

कबहुँक हँसि उठि नृत्त करै, रोवन फिरि लागै।
कबहुँक गद-गद-कंठ, सबद निकसै नहिं आगै॥
कबहुँक ह्वै उमंग, बहुत ऊँचे-सुर गावै।
कबहुँक ह्वै मुख-मौन, गगँन जैसौ रहि आवै॥
चित्त-बित्त हरि-सौं लग्यौ, सावधान कैसैं रहै।
यह प्रेम-लच्छना भक्ति है, सिस सुनौ 'सुंदर' कहै॥

—सुंदरविलास

६५

लघु-ग्यॉन—अल्प ज्ञान, न कुछ ज्ञान, थोडा ज्ञान। मद—गर्व, अहंकार, अहंमन्यता, घमण्ड, अज्ञान, मतिविभ्रम, प्रमाद।[1]

"मदोरेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः।"

—विश्वकोष

---

१. साहित्यमें 'मद' भी एक सचारी भाव—व्यभिचारी भाव माना जाता है, जैसे—

समोहानदसभेदो मदो मद्योपयोगजः॥"

—साहित्यदर्पण ३। १४६

अर्थात् जिसमें बेहोशी और आनंदका संमिश्रण हो वह अवस्था 'मद' कहलाती है।

व्याधि—व्याधि, रोग, पीड़ा, क्लेश, दुःख। यथा—

"स्त्री रुग्रुजा चोपतापरोगव्याधिगदामयाः।"

—अमरकोष २। ६। ५१

साहित्य-शास्त्रमें 'व्याधि' एक संचारी भाव भी माना जाता है, साहित्य-दर्पणमें लिखा है—

"व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत्।"[1]

—सा० द० तृ० प० १६४

ब्रज-भाषाके सुप्रसिद्ध कवि 'पद्माकर' मद संचारीकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

"धन, जोबन, रूपादि तें, कै मदादि के पाँन।
प्रघट होत 'मद' भाव तहँ, औरें गति, बतराँन॥

—जगद्विनोद

और उदाहरण जैसे—

"वृंदावन-बीथिनि में बंसीवट-छाँह अरी!
कौतुक अनोंखौ एकु आज लखि आई मैं।
लागौ हुतो हाट एकु मदन-धनी कौ, जहाँ—
गोपिन कौ वृंद रह्यौ झूमि घहुँधाई मैं॥
'द्विजदेव' सौदा की न रीति कछु भाँखी जाइ,
है रही जु नैंननि उनमत्त की दिखाई मैं।
लै-लै कछु रूप मनमोहन सौं बीर-
वे अहीरनें गँवारी देति हीरन वटाई मैं॥

—शृंगारलतिका

अथवा—

"वाँम तमासौ करि रही, बिबसि वारुनी सेइ।
झुकति, हँसति, हँसि-हँसि झुकति, झुकि-झुकि, हँसि-हँसि देइ॥"

---

१. वात, पित्त और कफ उत्पन्न ज्वरादिको 'व्याधि' कहते हैं।

"निपट लजीली नवल तिय, बहकि बारुनी सेइ।
त्यों-त्यों अति मीठी लगै, ज्यों-ज्यों ढीठ्यौ देइ॥"

—बिहारीसतसई

व्याधि सचारीकी व्याख्या करते हुए पद्माकरजी कहते हैं—

"विरह-बिवस कामादि तें, तन संतापित होइ।
"ताही कों सब कवि कहति,'व्याधि' कहावत सोइ॥"[1]

—जगद्विनोद

और उदाहरण—

"बेदँन ए जानें कौन, बेदँन ए मानें कौन,
बेदँन उदोत होत छेद नए छाती है।
पी की बतियाँनि सुनि ती कें अति आँसुन की,
उमड़ी नदी-सी बढ़ी नदी-सी सुहाती है॥
सोक है सुहात, जाहि सोक है बिषम-गात,
बिष-बिष मेख की लहर छहराती है।
घूँमि-घूँमि गिरति, भुजनि-भरें झूँमि-झूँमि,
सखी-मुख चंद-चूँमि-चूँमि बिलखाती है॥"

—कोई कवि

---

१. अथवा—

"तचै ताप बैंबरन ह्वै, दीरघ लेइ उसासु।
भूँख, प्यास, सुधि, बुद्धि घटै, 'व्याधि कहती हैं तासु॥

—द्विजकवि

रोग और वियोगसे उत्पन्न मनके संतापको भी 'व्याधि' संचारी कहा जाता है।

अथवा—

देखि री आजु यै गोप-बधू, भई बावरी नैंकु न देहि सँभारै ।
माइ सुधायन देवँन-पूजति, सासु-सयाँनि सयाँन पुकारै ॥
यौं 'रसखाँन' घिरयौ सगरौ ब्रज, आँनके आँन उपाइ बिचारै ।
कोऊ न मोहन के करतें, यह बैरिनि-बाँसुरिया गहि डारै ॥"

—सुजानरसखान

एक और—

"पलनि प्रघट बरुनीनि बढ़ि, नहिं कपोल ठहराँइ ।
ते अँसुवा छतियाँ परें, छनछनाइ छिप जाँइ ॥"

—बिहारीसतसई

आधों-आधि—तनक भी, जरा भी, उसके समान नेक भी नहीं । तनक भी नहीं, बराबर नहीं ।

लघु-ग्याँन, मद, व्याधि और आधों-आधि[1] आदि सरस शब्दोंके सुंदर प्रयोग—

"अति लघु-ग्याँन जनात आपुनों, कहि निरगुँन की बातें ॥"

—सूरदास

'मद' भरीं अँखियाँ लाल, तिहारी ।"

—नागरीदास

"बादति 'व्याधि' तनकि बिछुरें सखि, होइ जु कछु अब होंनों ।"

—चतुरबिहारी

कुछ ऐसी ही मधुर बात श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक कहते हैं—

१. इस शब्दका प्रयोग नहीं मिलता ।

"या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेंखेंखनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायंति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकंठ्यो-
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥"[1]
—श्रीमद्भागवत १०।४४।१५

श्रीनंददासजीकी उक्त सुमधुर सूक्तिके सदृश भर्तृहरिजीने भी एक बड़ी उत्तम उक्ति कही है, जैसे—

"यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदांधः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित्किंचिद्बुधजनसकाशादवगतं,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मेऽव्यपगतः॥"[2]
—नीतिशतक

श्रीसूर कहते हैं—

"अब अति पंगु भयौ मन मेरौ।
पठयौ हौ निरगुँन उपदेसन, भयौ सगुँन कौ चेरौ॥
जो कछु कह्यौ ग्यॉन-गाथा सो तुमहिं न परसत नेरौ।
मैं सठ, बाद कियौ सो यों ही, कह्यौ-सुन्यौं उन्ह केरौ॥

---

१. जो दूध दुहने, दही मथने, कूटने, लीपने, छाँटने, बालकोंके धोने-धोने और बुहारने आदिके समय भी अश्रुपूर्ण, गद्गद् कंठ और अनुरक्त बुद्धिसे भगवान्‌का यशोगान करती हैं वे भगवान् श्रीकृष्णमें ही अपना मन लगाये रहनेवाली व्रजकी स्त्रियाँ धन्य हैं।

२. जब मैं थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्तकर हाथीके समान मदांध हो रहा था, उस समय मेरा मन "मैं ही सर्वज्ञ हूँ" ऐसा सोचकर घमंडमें चूर हो रहा था, परंतु जब विद्वानोंके पास बैठकर कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त किया तो "मैं मूर्ख हूँ" ये समझनेके कारण ज्वरके समान मेरा दर्प दूर हो गया।

मैं जान्यों नहिं प्रेम जु पलभरि, ह्याँ षट्मास बसेरौ ।
'सूर' स्याँम पै आग्या दीजै, बोरि जोग कौ बेरौ ॥"

अथवा—

"मैं व्रज-बासिनि की बलिहारी ।
जिनके संग सदाँ क्रीडत हैं, श्रीगोवरधनधारी ॥
किनहूँ के घर माँखन चोरत, किनहूँ के सँग दाँनी ।
किनहूँ के सँग धेंनु चरावत, हरि की अकथ-कहाँनी ॥
किनहूँ के सँग जमुना के तट, बंसी-टेरि सुनावत ।
'सूरदास' बलि-बलि चरननि की, यै सुख नित मोहिं भावत ॥"

—सूरसागर

६६

उद्धव-अभिलाषा-कथन

धूरि[1]—धूलि, रज, रेणु । *जीवन-मूरि*—संजीवनी बूटी, जिलानेवाली जड़ी । अत्यंत प्रिय वस्तु । जीवन औषधी ।

धूरि और जीवनमूरि शब्दके सुंदर प्रयोग, यथा—

"लै उठाइ, अंचल गहि पोंछति, सबै 'धूरि' भरि देह ।"

—सूरदास

"रामदास' कौ ठाकुर गिरिधर, व्रज-जन 'जीवन-मूरि ॥"

—रामदास

---

१. व्रजरजकी—धूरिकी महिमा नागरीदासजीने बड़ी उत्तम वर्णन की है, जैसे—

"जद्यपि न्हात न अर्द्ध-गति, जाति च्यार है पाँनि ।
तदपि न तीरथ-जल कोऊ, व्रजकी धूरि समाँनि ॥"

—नागरसमुच्चय

कविवर रसखानजी भी कुछ ऐसी चाहना करते हुए फर्माते हैं—

"मानुष हौंउँ तौ वही 'रसखानि' बसौं ब्रज गोकुल-गाँव के ग्वारँन।
जौ पसु हौंउँ तौ कहा बस मेरौ, चरौं नित नंद की धेनु-मझारँन॥
पाहन हौंउँ तौ वही गिरि कौ, जो धरयौ कर छत्र पुरंदर धारँन।
जौ खग हौंउँ तौ बसेरौ करौं मिलि कालिंदी-कूल-कदंबकी डारँन॥"

—सुजानरसखान

श्रीहठीजी कहते हैं—

"गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजन कौ,
पसु कीजै महाराज नंद के नगर कौ।
नर कीजै तौन जौन राधे-राधे नाम रटै,
तरु कीजै बट कूल-कलिंदी-कगार कौ॥
इतने पै जोइ कछु कीजिऐ कुँमर काँन्ह,
राखिऐ न आँनि फेरि 'हठी' के झगर कौ।
गोपी-पद-पंकज-पराग कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुल-नगर कौ॥"

—राधासुधाशतक

परम प्रेमी ललित किशोरीजी कहते हैं—

"कँदम-कुंज ह्वै हौं कबै, श्रीवृंदावन-माँहि।
'ललितकिसोरी' लाड़िले, बिहरेंगे तिहिं छाँहि॥"

❋

"सुमन-वाटिका बिपिन में, ह्वै हौं कब मैं फूल।
कोमल कर दोउ भाँवते, धरि हैं बाँनि दुकूल॥
मिलि हैं कब अँग छार ह्वै, श्रीबन-बीथिनि-धूरि।
परि हैं पद-पंकज बिमल, मेरे जीवन-मूरि॥"

❋

"कब कालिंदी-कूल की, ह्वै हों तरुवर डार।
ललितकिसोरी, लाड़िले, झुलिहैं झूला डार॥"

—लघुरसकलिका

कृष्णगढ़के महाराज श्रीनागरीदासजीने भी कुछ परम प्रेममयी अभिलाषाएँ की हैं, जैसे—

"कब वृंदावन-धरनि में, चरन परेंगे जाइ।
लोटि धूरि परि सीस पै, कछु मुखहूँ में पाइ॥"

❀

"पिक, केकी, कोकिल कुहुँक, बंदर-बृंद अपार।
ऐसे तरु लखि निकट कब, मिलिहौं बाँह-पसार॥"

❀

"कबै झुकत मो ओर कौं, ऐहैं मद-गज-चाल।
गर बाँहीं दीऐं दोऊ, प्रिया-नवल-नँदलाल॥"
"कब दुखदाई होइगौ, मोकों विरह अपार।
रोइ-रोइ उठि दौरि हों, कहि-कहि नंदकुमार॥"

❀

"नैंन द्रवें, जलधार वह, छिन-छिन लेति उसास।
रैंनि अँधेरी डोलिहों, गावत जुगल-उपास॥"

❀

"चरँन छिदत काँटेनु तें, स्रवत रुधिर सुधि-नाहिं।
पूँछति हों फिरि हों तहाँ, खग, मृग, तरु, बन-माँहिं॥"

❀

हेरत, टेरत डोलि हों, कहि-कहि स्याँम सुजाँन।
फिरत, गिरत बन-सघन में, यों ही छुटि हैं प्राँन॥"

—नागरसमुच्चय

आँखें जो खुल रही हैं मरने के बाद मेरी।
हसरत य थी कि उनको, मैं एक निगाह देखूँ॥ —मीर

निकल जाय दम तेरे क़दमों के नीचे।
यही दिल की हसरत, यही आरज़ू है॥ —कोई शायर

एक और—

"कदँब की छाँह हो, जमुना का तट हो।
अधर मुरली हो, माथे पर मुकुट हो॥"
"खड़े हों आप, इक बाँकी अदा से।
मुकट झोंके में हो, मौजे हवा से॥"
"गिरे गरदन ढुलककर पीत-पट पर।
खुली रह जाँय ये आँखें, मुकट पर॥"
"दुशाले की एवज हो ब्रज की वह धूल।
पड़े, उतरे हुए जहाँ सिंगार के फूल॥"
मिले जलने को लकड़ी, ब्रज के बन की।
छिड़क दी जाय धूली, या सदन की॥"
अगर इस तौर हो अंजाम मेरा।
तुम्हारा नाम हो, औ काम मेरा॥ —कोई भक्त

६७

द्रुम—वृक्ष, तरुवर, रूख, पेड़।

"वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः।
अनोकहः कुटः सालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः॥"
—अमरकोश २।४।५

गुल्म—वृक्ष विशेष, झाड़ी, शाखा-शून्य वृक्ष, ठूठ। यथा—

"अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ ।"
—अमरकोश २।४।९

अप्रकांड[1]—शाखारहित वृक्षकी परिभाषा लिखते हुए 'भरत' भगवान् लिखते हैं, कहते हैं—

"अविद्यमानप्रकाण्डस्तनुप्रकाण्डो वा बहुपत्रवान् मल्लीझिंटी—नलकमलवंशवीरणादिर्मूलादारभ्य पूर्वभागः प्रकाण्डः॥" —भरतमते

अथवा—

"गुच्छगुल्मंतु विविधं तथैव तृण जातयः। —मनुः

गुल्मकी व्याख्या—परिभाषा लिखते हुए 'कुल्लूकभट्ट' कहते हैं। यथा—

"यत्र लतारूहा भवंति न च प्रकांडानि ते गुच्छा मल्लिकादयः गुल्मा एकमूलाः संघातजाताः।" —अमरकोश टीका

लता—बेल, वल्ली, वल्लरी। लता वह वृक्ष विशेष होता है जिसकी लंबाई तो बहुत हो, परंतु बिना आश्रय खड़ी न रह सके। यह प्रायः सूत वा डोरीके माफिक पतला होता है और बिना सहारे ये नहीं बढ़ता या नहीं बढ़ती। अमरकोशमें इसके नाम यों लिखे हैं, जैसे—

"वल्ली तु व्रततिर्लता।"

—अमरकोश २।४।९

बेली—बेल, बल्ली बल्लरी। वनस्पतिशास्त्रके अनुसार वे कोमल छोटे पौधे जिनमें काण्ड, अर्थात् मोटे तने नहीं होते और अपने बलपर ऊपरकी ओर उठकर नहीं बढ़ सकते[2]।

---

१. न प्रकाण्डः स्कंधो यस्य स अप्रकांडः।

२. श्रीनंददासजीने इस छंदमें—'लता' और बेली दोनों समानार्थवाची शब्दोंका साथ-साथ प्रयोग किया है जो कि उचित-सा प्रतीत नहीं होता। अथवा श्रीनंददासजीने इन शब्दोंको विभिन्न अर्थोंके द्योतनस्वरूप प्रयोग किया हो तो यह बात विचारणीय है। अमरकोशकारने तो इन दोनों शब्दोंको समानार्थवाची ही माना है, जैसा कि उदाहरणस्वरूप लिखा जा चुका है। पद्मचन्द्र कोषमें एक 'बेल' शब्दका अर्थ 'उपवन' और मिलता है, परंतु इसकी पुष्टिमें न तो कोई

द्रुम, गुल्म, लता, वेली आदि सरस शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, जैसे—
"अधिक झकोर होत मेघन की, 'द्रुम' तर छिन बिलमावत। सूरदास—

उदाहरण ही लिखा है और न इसकी व्युत्पत्ति। हेमचन्द्रने अपने कोषमें इस अर्थका प्रयोग करते उदाहरणमें लिखा है—

"अपांगाभ्यां वन धेल्लमारामः कृत्रिमे वने।"

आपटे महोदयने अपनी संस्कृत-इंग्रेजी डिक्शनरीमें—कोषमें 'बेल' शब्दका 'उपवन' अर्थके अनन्तर—'कुंज' अर्थ और माना है। अतः अर्थ जो कुछ हो, उक्त दोनों अर्थोंकी तो यहाँ संगति नहीं बैठती, परंतु लताका बड़ी बेली और 'बेलि' का—बेलीका छोटी छोटी बेलें जैसे चमेली आदिकी अथवा पृथ्वीपर फैलनेवाली बेलें जैसे कुम्हड़ादिकी अर्थ मान लें तो फिर पुनरुक्ति दोष न आकर अर्थकी संगति बैठ जाती है। विशेष विश पाठकोंके ऊपर निर्भर है। एक महानुभावका कहना है कि लता पुष्पवती होती है और बेल नहीं, यह बात भी नहीं जँचती। ब्रजमें जिसे कि लता कहते हैं उसमें भी फूल हैं और बेलमें भी। एक महानुभावका कहना है—गुल्म और लता एक ही शब्द है पृथक् पृथक् नहीं और इसका अर्थ 'पीलू' जो कि ब्रजका एक वृक्षविशेष होता है, परंतु उदाहरण या प्रमाण देनेमें आप भी असमर्थ हैं। श्रीनंददासजीकी तरह लता और बेलीका साथ-साथ प्रयोग भी विशेष नहीं मिलता, केवल 'भावन' कविने अपने भ्रमरगीतमें इन दोनों शब्दोंका साथ-साथ प्रयोग किया है। जैसे—

"केकी जो बनाऔ तौ बनाऔ बनराज जू कौ,
नाच नाच, गाइ गाइ सुजस सुनाऊँ मैं।
लता, द्रुम बेली रँगरेली जो करौ तौ करौ—
रावरे ही आँगन में पुष्प-झर लाऊँ मैं॥
जौ पै रज रेंनुका बनाऔ मन भाऔ यही—
हौं पै पद-पंकज कौं सीस पै धराऊँ मैं।
यैही बर पाऊँ, ललचाऊँ श्री राधेरानी,
बास दै निकुंजन कौ तेरौई कहाऊँ मैं॥
—पुरुषोत्तमदासजीसे प्रा०

"'गुल्म' 'लता' है रहिए इहि ठाँ, तन रंजित ब्रज-रेनु।"
नागरीदास

"जे 'बेली' ग्रीषम-ऋतु जरहीं, ते तरुवर लपटाहीं।"
—सूरदास

कुछ ऐसी ही शुभ चाहना श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीने भी की है, जैसे—

"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुंदपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥"[1]
—श्रीमद्भागवत १०। ४७। ६१

अथवा—

"वन्दे नंदव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥"[2]
—श्रीमद्भागवत १०। ४७। ६३

नागरीदासजी कहते हैं—

'ऊधौ, वार-वार सिर नावत।
गद-गद कंठ, पुलकि विह्वल ह्वै, कर पाँइन सों छ्वावत॥

---

१. मैं इन गोपियोंकी-चरण-रेणु-रंजित वृंदावनमें उत्पन्न गुल्म, लता और औषधमेंसे कोई भी हो जाऊँ—बन जाऊँ तो बड़ा उत्तम हो, क्योंकि इन्हों (गोपियों) ने छोड़े जानेमें असमर्थ अपने पति-पुत्रादिक और स्मार्त-मार्गका त्याग कर वेदोंद्वारा ढूँढ़े जाने योग्य भगवान् कृष्णकी पदवी-को प्राप्त की।

२. मैं, नंद और व्रजकी इन सब स्त्रियोंकी चरण-रजकी वारंवार वंदना करता हूँ, क्योंकि इनके गाये गये 'हरिगीत' त्रिभुवनको पवित्र करनेवाले हैं।

धँन गोपी तुम रँगी स्याँम-रँग, तज्यौ सकल चित-चैन ।
गुल्म, लता ह्वै रहिऐ इहि ठाँ, नन्द रंजित ब्रज-रैन ॥
प्रेम-भक्ति-रस-सुधा पियौ मैं, अब चित अँनत न जाइ ।
तुम मेरी गुरु, कह्यौ छमहु मब, परत तिहारे पाँइ ॥
यौं कहि ऊधौ उठौ गवन कौं, फेरि सकल नहिं पीठि ।
'नागर' मन हा'ौ गए रावलिकैं, तँन पहुँचायौ नीठि ॥'

—नागरसमुच्चय

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

'ब्रज के लता-पता मोहिं कीजै ।
गोपी-पद-पंकज-पावन की, रज जामैं सिर भीजै ॥
आवत जात कुंज की गलियँन, रूप-सुधा नित पीजै ।
श्रीराधे, राधे मुख यह बर, 'हरीचंद' कों दीजै ॥'

—प्रेममालिका

६८

साधु-संग—श्रेष्ठ पुरुषोंका संग, सोहबत, अच्छे मनुष्योंका साथ, उत्तम सन्तोंका साथ। पारस—एक कल्पित पत्थर जिसके बाबत कहा जाता है कि यदि उससे लोहा छुलाया जाय तो सोना हो जाय। संस्कृतमें इसका नाम—'स्पर्शमणि' कहते हैं। कंचन—सुवर्ण, सोना, यथा—

'स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेमहाटकम् ।
तपनीयं शातकुंभं गांगेयं भर्म कर्बुरम् ॥'
'चामीकरं जातरूपं महारजतकांचने ।
रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम् ॥'

—अमरकोष २ । ९ । ९४, ९५

साधु-संग, पारस और कंचन आदि सरस शब्दोंका सुन्दर प्रयोग—

'साधु-संग कबहूँ ना कीन्यों, रचत धंधे झूँठ।'

—नाभादास

'पारस' के सँग ताँबा बिगर्यौ।
सौ ताँबा 'कंचन' ह्वो निबर्यौ॥'

—कबीरदास

सत्संगति महिमाका वर्णन करते हुए भागवतमें महर्षि कहते हैं—

'तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥'[1]

—श्रीमद्भागवत १।१८।१३

आगे चलकर उद्धवके प्रति भगवान् कहते हैं—

'न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥'
'व्रतानि यज्ञश्छंदांसि तीर्थानि नियमायमाः।
यथावरुन्धे सत्संगस्सर्वसंगापहो हि माम्॥'[2]

—श्रीमद्भागवत ११।२।१, २

---

१. यदि भगवानमें आसक्त संतोंका क्षणभर भी संग प्राप्त हो तो उससे स्वर्ग और मोक्षतककी तुलना नहीं हो सकती, फिर अन्य अभिलषित पदार्थोंकी क्या बात!

२. सम्पूर्ण आसक्तियोंको दूर करनेवाला सत्संग मुझे जिस प्रकार अपने वशमें करता है, वैसा न योग, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप, न त्याग, न इष्टापूर्त, अर्थात् बहुतोंकी भलाईके कार्य, न दक्षिणा, व्रत, न यज्ञ, न वेद, न तीर्थ और न नियम ही कर सकते हैं।

पद्मपुराणमें कहा है- -

'भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन
सत्संगमेव लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥'[1]

—पद्मपुराण ६। १९०। ७६

सत्संगकी मधुर महिमा गाते हुए अध्यात्मरामायणमें लिखा है——

'भक्तानां मम योगिनां सुविमलस्वान्तातिशान्तात्मनां
मत्सेवाभिरतात्मनां च विमलज्ञानात्मनां सर्वदा।
संगं यः कुरुते सदोद्यतमतिस्तत्सेवनानन्यधी-
र्मोक्षस्तस्य करे स्थितोऽहमनिशं दृश्यो भवे नान्यथा ॥'[2]

—अध्यात्मरामायण ३। ४। ५५

भर्तृहरिजी कहते हैं——

'जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।

---

१. जब बहुत जन्मके पुण्य पुञ्जसे भाग्योदय होनेपर पुरुषको सत्सगकी प्राप्ति होती है, तब ही अज्ञानकृत मोह और मदरूप अन्धकारका नाश कर विवेकरूप सूर्य उदय होता है।

२. जो तत्परतापूर्वक गासुसेवामें अनन्य बुद्धि रखता हुआ मेरे भक्तोंका, निर्मल और शान्तचित्तवाले योगियोंका, मेरी सेवापूजामें अनुरक्त मेरे भक्तोंका और निर्मल ज्ञानियोंका सदा ही सग करता है उसके मोक्ष करतलगत रहता है तथा मैं अहर्निश उसकी दृष्टिका विषय बना रहता हूँ, अन्य किसी उपायसे मैं दर्शन नहीं दे सकता।

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं,
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥'[1]
—नीतिशतक

अथवा—

'तत्त्वं चिंतय सततं चित्ते
परिहर चिंतां नश्वरवित्ते ।
क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका ॥'[2]
—कस्यचित्

सत्संगतिपर ब्रज-भाषा-साहित्याकाशके सुन्दर सूर्य श्री 'सूर' कहते हैं—

'जा दिन संत-पाहुँनें आवत ।
तीरथ कोटि असनान करें फल, दरसँन ही तें पावत ॥
नेह नयौ दिन-दिन-प्रति उनकौ, चरन-कँमल चित लावत ।
मन-बच-करम और नहिं जानति, सुमरति औ सुँमरावत ॥
मिथ्यावाद उपाधि-रहित ह्वै बिमल-बिमल जस गावत ।
बंधन-करम-कठिन जे पहिले, सोऊ काटि बहावत ॥
संगति रहै साधु की अनुदिन, भव-दुख दूरि नसावत ।
'सूरदास' या जनम-मरन तें, तुरत परम-गति पावत ॥'
—सूरसागर

१. सत्संगति पुरुषोंका क्या उपकार नहीं कर सकती, वह (सत्संगति) बुद्धिकी जड़ताको हरती है, वाणीमें सत्यका संचार करती है, सम्मान बढ़ाती है, पापको दूर करती है, चित्तको आनन्दित करती है और सम्पूर्ण दिशाओंमें कीर्तिका विस्तार करती है ।

२. चित्तमें निरन्तर तत्त्वका चिन्तन करो वा न करो, धनकी चिन्ता भी छोड़ो या न छोड़ो, क्योंकि सज्जनोंकी एक क्षणकी संगतिरूप नौका ही संसार-सागरसे पार करनेको काफी है ।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

'बिन सतसंग बिवेक न होई, राम-कृपा बिन सुलभ न सोई।
सत-संगति मुद-मंगल-मूला, सोई फल सिधि सब साधन फूला।
सठ सुधरहिं सत-संगति पाई, पारस-परसि कुधात सुहाई।'[1]
सब कर-फल हरि-भगत सुहाई, सो बिन संत न काहू पाई।
अस बिचार जोइ कर सतसंगा, राम-भगत तेहिं सुलभ बिहंगा॥'[2]

'तात स्वर्ग-अपवर्ग-सुख धरिय तुला इक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत-संग॥'[3]
'बिन सत-संग न हरि-कथा, तेहि बिन मोह न भाग।
मोह गएँ बिन राम-पद, होहिं न दृढ़ अनुराग॥'[4]
'बिन सतसंग भगति नहिं होई, ते तब मिलैं द्रवै जब सोई।'
"जबै द्रवैं दीनदयालु राघव, साधु सगंति पाइऐ।
जेहि दरस-परस समागमादिक पाप-रासि नसाइऐ॥
जिन के मिलें सुख-दुख-समान अमानतादिक गुन भए।
मद, मोह, लोभ, बिषाद, क्रोध सुबोध तें सहजहिं गए॥"
—विनयपत्रिका

परम रसिक नागरीदासजी कहते हैं—

"सब सुख स्याम-सरनैं माँ्।
और ठौर न कहूँ आनँद, इंदहू के भएँ॥
दुःख-मूल प्रवर्त्त-मारग, कहि न मानत कोइ।
सुख-राशि जिहि निर्वित्ति की मन, जानि हैं दुख सोइ॥
सतसंग अंबुज, भजन सरोवर, कीरतन-सुख-बास।
कीजिऐ हरि बेगि तिन कौ, 'भँवर' नागरि दास॥"

❀

१. रामायण बालकांड।
२. रामायण उत्तरकांड।
३. रामायण सुन्दरकांड।
४. रामायण उत्तरकांड।

"मन यह नीच, संगी नीच।
उच्च-पद कौं चढ़त नाहीं, जद्‌पि नियरी मीच॥
नवन पाप कौं गवन करही, ज्यौं बनी रड़ लेंड़।
प्रबल अति नहिं रुकत रोकें, ग्यान-धूरि की मेंड़॥
मिलत जाही रंग आपुन, होत वाही रंग।
देहु 'नागरिदास' कौं, यातें प्रभू, सतसंग॥"



"बिन सतसंग भक्ति बे-ढंग।
फिरत डाँवाँडोल मन ज्यों, बिन लगाँम तुरंग॥
कबहुँ गिरि-गिरि उठत अति स्त्रम, चढ़त क्रोध सतंग।
कबहुँ मूरख भ्रमत आतुर, उपज अंग-अनंग॥
कहाँ तप, ब्रत, दाँन, संजम, कहा न्हाएँ गंग।
'दासनागरि' बिना साधन, सकल साधन भंग॥"

—नागरसमुच्चय

कबीर साहब फर्माते हैं—

"कबीर' संगति साधी की, कदे न निरफल होइ।
चंदन होसी बाँवना, नींब न कहसी कोइ॥"



"कबीर संगति साध की, वेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूरि गँवाइसी, देसी सुमति बताइ॥"



"मथुरा जावै द्वारिका, भावै जावै जगन्नाथ।
साध-सँगति हरि-भगत बिन, कछू न आवै हाथ॥"



"मेरे संगी दोइ जणँ, एक वैष्णौ एक राँम।
वौ है दाता मुकति का, वौ सुमिरावै नाँम॥"



"कबीर सोइ दिन भला, जा दिन संत मिलाहिं ।
अंक भरैं भरि-भेंटिया, पाप सरीरौं जाहिं ॥"



"कबीर' चंदन का बिड़ा, बैठ्या आक-पलास ।
आप सरीखा कर लया, जे होते उण पास ॥"

—कबीरग्रन्थावली

'भगत कीजै संत की, जिनका पूरा मन ।
अनतोलैं हीं देति हैं, नाम सरीखा धन ॥



"'कबीर' संगत साध की, हरै और की व्याधि ।
संगत बुरी असाध की, आठौं पैहर उपाधि ॥"[1]



"'कबीरा' संगत साधकी, जौ की भूसी खाइ ।
खीर-खांड भोजन मिलैं, साकट-संग न जाइ ॥"



"'कबीरा' संगत साध की, ज्यौं गंधी का बास ।
जौ कुछ गंधी दे नहीं, तौ भी बास-सुबास ॥"



"रिद्धि-सिद्धि माँगू नहीं, माँगू तुम पै येह ।
निसि-दिन संगति साधकी, कह 'कबिरा' मोहिं देय ॥



---

१ कबीर साहबका उक्त दोहा—चेतावनी गोस्वामी तुलसीदासके नामे भी मिलती है । जैसे—

"'तुलसी' संगत साधु की, हर और की व्याधि ।
संगति बुरी जु नीच की, आठौं पहर उपाधि ॥"
परन्तु, यह दोहा 'तुलसीदोहावली' वा तुलसीसतसईमें नहीं है ।

"राँम बुलावा भेजयाँ, दिया 'कबीरा' रोइ।
जो सुख साधू-संग माँ, सो बैकुंठ न होइ॥"

❀

"एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी हूँ सें आध।
'कबीर' संगत साध की, कटै कोटि अपराध॥"

—संतबानीसंग्रह

सुन्दरदासजी कहते हैं—

"प्रीति प्रचंड लगै परब्रह्महिं, और सबै कछु लागत फीकौ।
सुद्ध हृदै मन होइ सो निरमल, द्वैत प्रभाव मिटै सब जीकौ॥
गोष्टल्यॉन अनंत चलै जहँ 'सुंदर', जैसें प्रवाह नदीकौ।
ताहि तें जाँनि करौ निसि-बासर, साधु कौ संग सदाँ अति नीकौ॥"

❀

तात मिलै, पुनि मात मिलै, सुत-भ्रात मिलै जुवती सुखदाई।
राज मिलै, गज-बाज मिलैं, सब साज मिलैं मन-बाँच्छित पाई॥
यै लोक मिलै, सुर-लोक मिलै, बिधि-लोक मिलै बैकुंठहुँ जाई।
'सुंदर' और मिलै सबहीं सुख, संत-समागम दुरलभ भाई॥

—सुन्दरविलास

अंतमें श्रीमद्जीवगोस्वामीजीकी उद्धव प्रति उक्ति भी देखिये और मनन करिये, जैसे—

"तं श्रीमदुद्धवं वंदे कृष्णप्रेष्ठवरोऽपि यः।
गोपीपादाब्जधूलिस्पृक्तृणजन्माप्ययाचत॥"[1]

—श्रीमद्भागवत वैष्णव तोषिणी टीका

---

1. मैं उन कृष्णके परम श्रेष्ठ सखा उद्धव—भक्तकी वंदना करता हूँ जो कि गोपी-पाद-पद्म-धूलि-रंजित तृण होना चाहते हैं।

६९

उद्धवका मथुरा प्रत्यागमन

मग—मार्ग, रास्ता, डगर, बाट, राह ।

"अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः ॥"

—अमरकोष २ । १ । १५

अभिलखि—अभिलाष, आकांक्षा, कामना, आशा ।

"इच्छाकांक्षा स्पृहेहा तृड्वांछालिप्सामनोरथः ।
कामोऽभिलाषस्तर्षश्च सोऽत्यर्थं लालसाद्वयोः ॥"

—अमरकोष १ । ७ । २७, २८

मग और अभिलखि शब्दके सुन्दर प्रयोग, यथा—

"नित ही इहि 'मग' जाति दाँव लै, तुम सब निपट सबेरें ।'

—गंगाबाई

किते मोल बेचैगी ग्वालिनि, कहि मन जो 'अभिलाख' ।"

—आसकरनदास

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक कहते हैं—

"अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥"[1]

—श्रीमद्भागवत १० । ४७ । ६४

रसरूपजी कहते हैं—

"चले न प्रन बनितान के, बिथके घर-घर घूंम ।
कछु न चली, उद्धव चले, गहरे बाहन चूंम ॥"

—उपालम्भशतक

---

१. इस प्रकार उद्धवजी गोपियोंसे, यशोदासे और बाबा नदसे आज्ञा और गोपोंसे मिलकर मथुरा जानेके निमित्त रथपर चढ़े ।

व्रज-भाषा-माताके लाड़िले स्वर्गीय रत्नाकरजीने उद्धवके मथुरा-प्रत्यागमनपर बड़ी सुमधुर सूक्तियाँ कही हैं, जैसे—

'धाँई जित-तित तें बिदाई-हेतु ऊधव की,
गोपी-भरीं आरति सँम्हारति न साँसुरी।
कहै 'रतनाकर' मयूर-पच्छ कोऊ लएँ,
कोऊ गुंज-अंजली उँमाहै प्रेम-आँसुरी॥
भाव-भरी कोऊ लएँ रुचिर सजाव दही,
कोऊ मही मंजु दाबि दलकति पाँसुरी।
पीत-पट नंद, जसुमति नवनीत नयौ,
कीरति-कुँमारी सुरवारी दई बाँसुरी॥'[1]



'कोऊ जोरि हाथ, कोऊ नाइ नम्रता सौं माथ,
भाषन की लाख लालसा नहिं जात हैं।
कहै 'रतनाकर' चलत उठि ऊधव के,
कातर है प्रेम सों सकल महिं जात हैं॥
सबद न पावत सो भाव-उँमगाव जो-
ताकि-ताकि आँनन ठगे-से ठहि जात हैं।

१. निज कवि कहते हैं—

प्रात हीं जसोधा-नंद जू सों अनुसासन लै,
बड़े ही उलासन लै मिले हैं सखाँन सों।
'निज जू' सुकवि लै सँदेसौ व्रज-भक्तँन कौ,
रथ पै चढ़े हैं ऊधौ बड़े सनमाँन सों॥
उग्रसेंन-हेत बहु भेंट दई नंदराइ,
नेंन-भरि कही अहो, कहियो यों काँन्ह सों।
आवन की औध-आस स्वाँस हम धारि रहे,
वेगि व्रज आऔ यहै रावरे बखाँन सों॥

रंचक हमारी सुनौं, रंचक हमारी सुनौं,
रंचक हमारी सुनौं कहि रहि जात है ॥'

❀

'दाबि-दाबि छाती पाती-लिखन लगायौ सबै,
ब्यौंत लिखिबे कौ पै न कोऊ करि जात है।
कहै 'रत्नाकर' फुरति नाहिं बात कछु,
हाथ धर्यौ ही-तल थहरि थरि जात है ॥'
'ऊधौ कौं निहोरैं फेरि नैंकु धीर ओरैं पै-
ऐसौ अंग-ताप कौ प्रताप भरि जात है।
सूखि जाति स्याही, लेखिनी के नैंकु डंक लागैं,
अंक लागैं कागद बररि बर जात है ॥'

❀

'कोऊ चले काँपि, संग कोऊ उर-चाँपि चले,
कोऊ चले कछुक अलापि हलबल से।
कहै 'रत्नाकर' सुदेस तजि कोऊ चले,
कोऊ चले कहत सँदेस अबिरल से ॥
आँसु चले काहू के, सु काहू के उसास चले,
काहू के हिए पै चंद्रहास चले हल से।
ऊधव के चलत चलाचल चली यौं चल-
अचल चले औ अचले हू भए चल से ॥'

❀

'दीन्यौ प्रेम-नेम-गरुवाई-गुन ऊधव कौ
हिय सौं हमेव-हरुवाई बहिराइ कैं।
कहै 'रत्नाकर' त्यौं कंचन बनाइ ताहू,
ग्याँन-अभिमाँन की तमाइ बिनसाइ कैं ॥
बातनि की धौंक सौं धमाइ चहूँ कोदनि सौं,
निज बिरहानल मचाइ पिघिलाइ कैं।

गोप की वधूटी प्रेम-बूँटी के सहारे मार,
चल-चित परे की भसँम भुरकाइ कै ॥'[1]

'गोपी, ग्वाल, नंद जसुधा सौं तौ बिदा ह्वै उठे,
उठत न पाँह पै उठावत डगत हैं।
कहै 'रतनाकर' सँभारि सारथी पै नीठि,
दीठिनि-बचाइ चल्यौ चोर ज्यौं भगत हैं ॥
कुंजन की, कूल की, कलिंदी की, रुऍंदी-दसा,
देखि-देखि आँसु औ उसास उँमगत है।
रथ तें उतरि पथ-पावन जहाँ-हीं-तहाँ,
बिकल-बिसूरि धूरि-लोटँन लगत हैं ॥'

❀

'भूले जोग-छेंम-प्रेम-नेंमहिं-निहारि ऊधौ,
सकुचि सँमाने उर-अंतर हरास-लौं।
कहै 'रतनाकर' प्रभाव सब ऊँने भए
सूँने भए नैंन-बैंन अरथ उदास-लौं ॥
माँगी बिदा माँगत ज्यौं मीच उर-भीच कोऊ,
कीन्यौं मौंन गौंन निज हिय के हुलास-लौं।
थिथकति साँस-लौं, चलत रुकि जात फेरि-
आँस-लौं गिरत पुनि उठत उसास-लौं ॥'
—उद्धव

---

१. कविवर ग्वालजी कहते हैं—
'रावरे कहे तें हौं गयो हो ब्रज-बालँन पै,
देखति ही मोहि कियो आनँद-अपारा है।
कहे तें तिहारी बात गात में भभूकें उठें-
परत बरूद की जमात ज्यौं अँगारा है ॥
'ग्वाल कवि' कहें लागी लपट दवागिनि की,
दौरयौ मैं तहाँ तें तौहू झुरस्यौ दुबारा है।
गोपी-बिरहागिनि में जोग उड़ि गयो ऐसें-
जैसें उड़ि जात परें पावक में पारा है ॥

७०

राजत—सुशोभित, बैठे। रस-भरे—रससे भरे, प्रेम-संयुक्त, मीठे, मधुर, चटपटे। लाड़िले—प्रिय, प्यारे, दुलारे, नटखट।

राजत, रस-भरे और लाड़िले शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

'राजत' कॉन है सुभग तरौंनाँ, मनौ सूर्ज है झूले।'

—कल्यानराइ

'रस-भरे' तारे अति कजरारे, मॉनौं बीच परे री, मधुकर।'

—मुरारीदास

'रहि-रहि नँद के 'लाडिले' कित ऐतौ इतरात।'

—सूरदास मदनमोहन

श्रीमद्भागवतमें उक्त भावपर श्रीशुक कहते हैं—

'कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम्।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात्॥'

—श्रीमद्भागवत १०।४७।६९

अर्थात् उद्धव, मथुरामें पहुँचकर, श्रीकृष्ण और बलरामको प्रणामकर तथा व्रज-वासियोंकी भक्ति-विशेषता विशेष रूपसे प्रशंसा-कर नंदादिक-द्वारा दी गयी भेंट वसुदेवजी और महाराज उग्रसेनको देते हुए।

इसी भव्य-भावपर सुकवि 'निज' जी कहते हैं—

'या विधि सुकबि 'निज' नेह व्रज-भक्तँन कौ
मतिवर उद्धव सराहत ही आए हैं।
राम-कृष्न-पालित ललित मथुपुरी-माँहि,
सभा-बीचि उग्रसेंन जू कौ सीस नाए हैं॥

नंद की नजर दै अनंद सों नृपति आगें,
कृस्न-बल जू के पग आँसुन भिंजाए हैं।
बंदि बसुदेव जू कों सब की कुसल कहि
बाकी जो रही सो जॉनि हरि मुसिकाए हैं ॥'
—गोपीप्रेमपीयूषप्रवाह

अथवा—

'कछुक देरि करि कें बिलम, होस-हवाल सम्हारि।
उद्धव बोल्यौ स्याँम सों, हदैं प्रिया-पग-धारि ॥'
'आँखिन में छायौ अनुराग करुना कौ वह,
उर में सँमायौ प्रेम-पुंज कौ अँजाल है।
'नवनीत' प्यारे या गरे में प्रीति-फाँसी परी
हरी मति मेरी देखि गोपिन कौ हाल है ॥
जीभ होत ताती, बात मुख तें कहत नाथ,
जोग कौ सहारौ सोतौ जर्‌यौ ततकाल है।
कहा कहों आप सों कृपाल सिरी नंदलाल,
ब्रज कौ हवाल कहिबे कों का मजाल है ॥'
—नवनीत कवि

रत्नाकरजी कहते हैं—

'चल-चित-पारद की दंभ-कंचुली कै दूरि,
ब्रज-मग-धूरि प्रेम-भूरि सुभ-सीली लै।
कहै 'रतनाकर' सु जोगिनि-बिधाँन-भाव,
अमित प्रमाँन-ग्याँन-गंधक गुनीली लै ॥
जारि घट-अंतर हीं आइ-धूँम-धारि सबै,
गोपी-बिरहागिनि निरंतर जगीली लै।
आए लौटि ऊधव बिभूति भव्य-भायनि की,
कायिनि की रुचिर रसायन रसीली लै ॥'

'आए लौटि लज्जित नवाएँ नैन ऊधौ अब,
सब सुख-साधन कौ सूधौ-सौ जतन लै।
कहै 'रतनाकर' गँवाएँ गुन-गौरव औ-
गरब-गढ़ी कौ परिपूरन पतन लै॥
छाए नैन-नीर पीर-कसक कमाएँ उर,
दीनता-अधीनता के भार-सौं नतन लै।
प्रेम-रस रुचिर बिराग तूमरी मैं पूरि,
ग्यान-गूदरी मैं अनुराग-सौ रतन लै॥'

'ज्यौंही कछु कहन सँदेसौ लाग्यौ, त्यौं ही लख्यौ,
प्रेम-पूरि उमगि गरे लौं चढ्यौ आवै है।
कहै 'रतनाकर' न पाँइ टिक पाँवै नैंकु
ऐसौ दृग-द्वारन सबेगि कढ्यौ आवै है॥
मधुपुरि-सासन कौ बेगि कछु ब्यौंत गढ़ौ
धाइ चढ़ौ ब्रज कै न जौ पै गढ्यौ आवै है।
आयौ भज्यौ भूपति-भगीरथ-लौं हौं तौ नाथ,
साथ लग्यौ सोई पुन्य-पाथ बढ्यौ आवै है॥'

—उद्धवशतक

७१

भगवान् श्रीकृष्णसे उद्धवका गोकुल-वृत्तान्त-कथन

मूंठी—मुट्ठी, हाथकी वह मुद्रा—बनानेका 'ढग' जो कि उँगलियोको हथेलीपर मोडनेसे—दबानेसे बनती है, किसी बातके छिपानेकी एक क्रिया। अवलंब-ही—आश्रय मानते हैं, सहारा लेते हैं शरण हैं। मेलौ—गेरो, पटको, फेंको, डालो।

मूंठी, अवलबही और मेलौ आदि सुन्दर शब्दोंके सरस प्रयोग, यथा——

'भरि 'मूँठी' माँटी मुख मेली,सखा कहत सब ठाड़े।'

—परमानन्ददास

'कृष्ण, जादव, हे दमोदर, नाथ तुँम 'अवलंबई'।'

—सूरदास

'गहि दोऊ पाँइ स्याँमसुंदर तव, धेंनुक धरनी 'मेलौ'।'

—परमानन्ददास

कुछ ऐसा ही प्रेम-भरा उलाहना स्वर्गीय सत्यनारायणजी कविरत्नने भी दिया है, जैसे—

'माधव, आप सदाँ के कोरे।
दीन-दुखी जो तुम कों जाँचत, सो दाँनिनि के भोरे॥
किंतु बात यह तुम सुभाव में, नेंकहु जानत नाँहीं।
सुनि-सुनि सुजस रावरो, तुव ढिंग आवन कों ललचाँहीं॥
नाम धरें तुम कों जग-मोहन, मोह न तुम कों आवै।
करुना-निधि तुव हृदै न एकौ-करुना-बिंदु सँमावै*॥
लेति एक कौ देति दूसरेहिं, दाँनी बन जग-माँहीं।
ऐसौ हेर-फेर निज नूतन, लाग्यौ रहत सदाँ हीं॥
भाँति-भाँति के गोपिन के जो तुम प्रभु चीर-चुराए।
अति उदारता सो लै वेही, द्रौपदि कों पकराए॥
रतनाकर कों मथत सुधा कौ कलस आप जो पायौ।
मंद-मंद मुसिकात मनोहर, सों देवँन कों प्यायौ॥
मत्त गयंद कुवलिया के जो, खेल-ध्याँन हरिलीए।
वही दया दरसाइ दयानिधि, सों गजेंद्र कों दीए॥

* उक्तभावपर रसनिधिजी कहते हैं—

'सुमरत जग के रचन कों, मोह जगत के जाहिं।
निरमोही जो होइ वह, कोंन आचरज आहि॥'

—रतनहजारा

करि कैं निधन बालि-रावन कौ, राजपाट जौ आयौ।
तहँ सुग्रीव बिभीषन कौं करि अति अहिसाँन बिठायौ॥
पौंडरीक कौ सरबसु नसिकरि माल-मता जो लियौ।
ता कौं विप्र सुदामा के सिर करि सनेह मढ़ि दीयौ॥
'ऐसी 'तुमा पलटी के' गुन नेति-नेति स्रुति गावैं।
सेस, महेस, सुरेस गनेसहुँ, सहसा पार न पावैं॥
इत माया अगाध-सागर तुम डोवहु भारत-नैया।
रचि महाभारत कहूँ लरावत, अपु मैं भैया, भैया॥
या कारन जग में प्रसिद्ध अति 'निपटी रकम' कहाओ।
बड़े-बड़े तुम 'मठा धुँगारे', क्यों साँची खुलवाओ॥'

अथवा——

'माधव, तुमहुँ भए बे-माख।
तुही ढाक के तीन पात हौ, करैं क्यों न कोऊ लाख॥
भक्त-अभक्त एक से निरखत, कहा होत गुन-गाऐं।
जैसेहिं खीर-खवाऐं तुम को, वैसेंहि सींग-दिखाऐं॥
सबै धान बाईस-पसेरी, नित तोलन सों काम।
बलिहारी, नहिं नैंकु बिदित तुम्हे, ऊँच-नीच कौ नाँम॥
वे पैंदी के लोटा के सम, तन मति-गति दरसावै।
कछु कौ कछु प्रभु काज-करन मे, तुमहिं लाज नहि आवै॥
जगत-पिता कहिवाइ भए तुम, अब ऐसे बे-पीर।
दिन-दिन दुगुन बढ़ावत औ नित, द्रोह-द्रौपदी चीर॥
जुग करि जोरि प्रार्थना यहीं, निज-माया धरि राखौ।
'मन्य, दीन-दुखियनु के हित कौं, सदय-हृदय अभिलाखौ॥'

—हृदयतरंग

७२

नातरु—नहीं तो ।

नातरु शब्दका सरल प्रयोग, यथा—

'चलौ हटौ मग तजौ साँवरे, 'नातरु' गुलचा खैहौ ।'

—मधुरअली

श्रीमाधव भट्टाचार्यजी अपने 'उद्धव दूत' महाकाव्यमें कहते हैं—

'वीतासंगाः शयनवसनस्नानपानाशनाद्यै
गायंत्यस्त्वच्चरितगुणिताः संततं गीतगाथाः।
औदासीन्यं किमपि सकलां बंधुवृंदे वहंत्यो
गोप्यो लीलाक्षितिषु भवतो योगिनीवद्भ्रमंति॥'

अर्थात् हे भगवन्, गोपियाँ शयन, वसन, स्नान, पान और भोजन आदि सम्पूर्ण विषयोंसे आसक्ति हटाकर निरन्तर आपके ही चरित्रोंसे चर्चित गीतोंको गातीं अपने बन्धु-जनोंके प्रति अति उदासीनता दिखाती हुई आपकी लीला-भूमि व्रजमें योगिनियोंके सदृश भ्रमण कर रही हैं ।

कोई कवि कहता है—

'शीर्णा गोकुलमंडली पशुकुलं शष्पायन स्पन्दते
मूका कोकिलसंहतिः शिखिकुलं न व्याकुलं नृत्यति ।
सर्वे त्वद्विरहेण हन्त नितरां गोविंद दैन्यं गताः
किन्त्वेका यमुना कुरंगनयनानेत्राम्बुभिर्वर्धते ॥'

अर्थात् हे गोविन्द, आपके बिना गोप-बालकोंकी मंडली अस्त-व्यस्त—तितर-बितर हो गयी है, गौएँ घास-चरनेकी चेष्टा नहीं करतीं,

कोयलोंने बोलना छोड़ दिया है और व्याकुल मयूर अब आपके बिना नाचते नहीं, इस प्रकार आपके विरहसे सभी दीन और क्षीण हो रहे हैं, परन्तु एक यमुना ही मृग-लोचनी ब्रजांगनाओंके रोदनके कारण आँसुओंसे निरन्तर बढ़ रही है।

श्रीसूर कहते हैं—

'रहत रैनि-दिन हरि-हरि-हरि-रट।
चितवत इकटक मग-चकोर-लौं, जब तें तुम बिछुरे नागर-नट॥
भरि-भरि नैन-नीर ढारत हैं, स-जल करति अति कंचुकि के पट।
मनौं बिरह की जुरता-लगि लियौ नेम, प्रेम सिव-सीस सहस घट॥
जैसें जुग के अघ ओरा-बन, प्रान रहत यौं अवधिहिं के तट।
'सूरदास' प्रभु मिलौ कृपा करि, जो दिन कहे तेऊ आए निकट॥'

'दिन-दस घोष चलौ गोपाल।
गायन के अवसेर मिटावौ, लेहु आपने ग्वाल॥
नाँचति नाहिं मोर ता-दिन तें, बोल न बरषा-काल।
मृग दूबरे तिहारे दरस-बिन, सुनत न बेंनु-रसाल॥
हरयौ न होत अबै बृंदाबन, भावत तनक न स्याम तमाल।
'सूरदास' 'मैया' अनाथ है, ब्रज चलिऐ नँदलाल॥'

—सूरसागर

श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

'नीके सुनो स्याम-सुजान।
कौन मानैं बात मीरस, सकल ब्रज रस-खान॥
'तुम जुहैं बिधि-वेद-बकता, प्रघट श्री भगमान।
तुहि मनोहर मंडली मैं, क्यौं न राख्यौ ग्यान॥
कबहुँ तुम को लै नचायौ, जोरि पाँननि-पान।
कबहुँ छ्वायौ मुकट चरनन, कियौ उन जय मान॥

कबहुँ बेनी गूँथि निज-कर, पग महावर सॉन।
कबहुँ ठाढ़े जोरि-कर, करि दीन-चित-सनमाँन ॥
प्रेम-आगें नेम की कछु, चलत नाँहिं निदाँन।
रिनी ह्वै छूटे वहाँ क्यों, नवल-'नागर' प्राँन ॥'

—नागरसमुच्चय

सुकवि नंदरामजी कहते हैं—

'सीर समीरन की वह झकनि, कैलिया-कूकनि क्यों सहि जाइगी।
कैसी बिहाल परी वह बाल, तची-तन-तापन सों दहि जाइगी ॥
हाथ कछू पुनि लागिहै नाँहिं, 'नँदराम' हिए की हिएँ रहि जाइगी।
हाल मिलौ नँदलाल न तौ, अँसुवान की धार-ही में बहि जाइगी ॥

—हजारा

निज कवि फर्माते हैं—

'नंद सुत नौहू उपनंद नौऊ जननी औ—
जसुमति, गोपी, ग्वाल, सखा तौ भरे रहैं।
गाय, बच्छ, पंछी, पसु, अँसुवा न सूखैं दग,
बेली, द्रुम, फल, पात मुरझि जरे रहैं ॥
'निज जू' तिहारी एक आगम की आस ही पै
साँसन में रासें प्राँन नाँकन अरे रहैं।
आँखिन न खोलें, नेंकु मुखहू न बोलें-
तन तनक न डोलें सब मरे से परे रहैं ॥'

पद्माकरजी कहते हैं—

'एहो नँद नंद, अरविंद-मुखी गोकुल की,
तुम बिन चंद चाँदिनी-लौ ढरिबौ करें।
कहै 'पद्माकर' पुराने, पीरे पाँन हू तें-
निपट निदाँन पीरी, पीरी परिबौ करें ॥

वृंदावन चंद जू की आगली गली वे भली
नैननि के भीर तें नदी-सी ढरिबौ करें ।
मिलि-बिछुरे हौ त्यों ही बिछुर-मिलौगे फेरि-
याही एक आसा पै इवाँसा भरिबौ करें ॥'
—व्रजविनोद

चतुर्वेद उरदामजी कहते हैं—

'दुहो वंक लोचन, बिलोकनि तिहारी तीखी
चुभी चित-बीचि की कमक हरिबौ करें ।
अंतर दरज भुकि धोकिनी धवति मनौं-
मदन-सुनार घटराज गढ़िबौ करें ॥
कहै 'उरदाम' तेरे गुंजन सँमान ही,
मेरे आँस ताही के उफान पचिबौ करें ।
मिलि-बिछुरे हौ त्यों ही बिछुर-मिलौगे फेरि-
याही एक आस पै स्वाँसा-भरिबौ करें ॥'
—गोपीप्रेमपियूषप्रवाह

७३

कवि-द्वारा भगवत्-दशा वर्णन

गात—शरीर, गात्र, देह, तन, अंग ।

'गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः ।
कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः ॥'
—अमरकोष २ । ६ । ७०, ७१

कलपतरोरुह—वृक्ष विशेष, स्वर्गका—देवताओंका एक वृक्ष, जिसके लिये कहा जाता है कि वह बिना माँगे सब कुछ देता है, अभिलषित—इच्छाके माफिक फल देनेवाला, सुरद्रुम* । उलहि—

* इच्छित फल देनेवाला ।

उभड़कर, निकलकर, फूटकर, प्रस्फुटित होकर, फूलकर ।

कलपतरोरुह शब्दका प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता, अतः गात और उलहि शब्दोंके (अन्य) प्रयोग दिये जाते हैं, यथा—

'साँम-'गात' आँनन की सोभा, मंद हँसनि मेरौ जिय ललचावै ।

—विष्णुदास

'आए 'उलहि' कंचुकी कुच कछु, सोभा कहत न आवै ।'

—स्यामदास

कुछ ऐसी ही दयनीय दशाका वर्णन स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी किया है, जैसे—

'आए दौरि पौरि-लौं अवाई सुनि ऊधव की,
और ही बिलोकि दसा दृग-भरि लेति हैं ।
कहै 'रतनाकर' बिलोकि बिलखात उन्हें,
एऊ कर काँपत करेजें धरि लेति हैं ॥
आवति कछूक पूँछिवे औ कहिवे कौं मन,
परत न साहस पै दोऊ दरि लेति हैं ।
आँनन उदास साँस-भरि उकसौंहैं करि
सौं करि नेननि निचौंहैं करि लेति हैं ॥'

—उद्धवशतक

७४

उद्धव-प्रति भगवान्‌का प्रेमोपालम्भ

सचेत–स्वस्थ चित्त होकर, सावधान होकर, चौकस हो, मनको ढाँढस देकर, सचेत होकर । ल्यावन—लेने, लेनेको, लानेके लिये । आँनि—आकर । मो मैं—मुझमें । अंतर—पृथकता, भेद, विभिन्नता अलगाव, फर्क ।

'अंतरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये ।
छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि च ॥'

—अमरकोश ३ । ३ । १८७

तरंगनि—तरंगें, लहरें, पानीकी उछालें जो कि हवाके कारण उत्पन्न होती हैं,[1] हिलोरे ।

'भंगस्तरंग ऊर्मिर्वा स्त्रियां वीचि अथोर्मिषु ।'

—अमरकोष १ । ९ । ५

बारि—जल, पानी, नीर, अम्बु ।

'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम् ।
'पयः किलालममृतं जीवनं भुवनं वनम् ।'

—अमरकोष १ । ९ । ३

सचेत, स्यावन, आँनि, अंतर, तरंगनि और बारि शब्दके सुन्दर प्रयोग ।

'करि 'सचेत' लै नाम हरी कौ, जातें पाप नसाँहू ।'

—चरनदास

'अरजुन, भोज, सुबल, मधुमंगल, पठए 'स्यावन' छाक ।'

—जनभगवान

''आँनि, लेहु तुम छाक आपनी, बालक, बल, बनबारी ।'

—परमानन्ददास

'दोऊ कूल खंभ, 'तरंगनि' सीढ़ी, जमुनों जगत बैकुंठ की निसैनी ।'

—छीतस्वामी

'परमन 'बारि' सकल अघ भाजें, ज्यों हरि-देखि हिरन की सिन्या ।'

—व्रजपति

'१ वायुना नद्यादिजलस्य तिर्यगूर्द्धगमनम् ।'

—शब्दकल्पद्रुम

श्रीसूरजी कहते हैं—

'ऊधौ, भलौ ग्यॉंन समुझायौ।
तुम सो अब यों कहा कहत हौ, मैं कहि कहा पठायौ॥
कहि आवत हौ बड़े चतुर, पै वहाँ न कछु कहि आयौ।
'सूरदास' ब्रज-बासिन कौ हित, हरि-हिय माँझि दुरायौ॥

'ऊधौ, मोहिं ब्रज बिसरत नाँहीं।
वृंदावन, गोकुल तन आवत, सघन तृनँन की छाँहीं॥
प्रात-समैं माता जसुमति औ नंद देखि सुख पावत।
माँखन-रोटी-दह्यौ सँजोयौ, अति हित सौं जु खवावत॥
गोपी, ग्वाल, बाल सँग खेलत, सब दिन हँसत सिरात।
'सूरदास' धनि-धनि ब्रज-बासी, जिन सौं हरि मुसिकात॥'

'ऊधौ, मोहिं ब्रज भूलत नाँहीं।
हंस-सुता-कूलन की सोंभा, वरु कदंब की छाँहीं॥
वह सुरभी, गऊ, बच्छ, दोंहिनी, खिरक-दुहावन जाँहीं।
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल, निरतत गहि-गहि बाँहीं॥
लीला बहुत-भाँति हम कीनीं, जसुमति-नंद निबाँहीं।
जब-जब सुरति होत वा सुख की, उँमगत मन मन माँहीं॥
पै द्वारिका रची जु कनक की, मनि-मुक्ता बलि जाँहीं।
'सूरदास' प्रभु सुमरि-सुमरि-सुख, कहि-कहि यों पछताँहीं॥'

—सूरसागर

उद्धव-प्रति भगवान्-द्वारा कहलाते हुए श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

'मोहिं, गोपी-जन नहिं बिसरत।
उनकी प्रीति-रीति अंतर की, तनक न मुख तें निसरत॥
सबहिं चतुर, सब आँनद-मूरति, सब तन प्रेंम अछेह।
तिन में श्रीराधा के मेरे, एक प्राँन, द्वै-देह॥

परिशिष्ट

॥ श्रीः ॥

परिशिष्ट ("क")



श्रीशुक उवाच

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ।

शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥ १ ॥

तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित् ।

गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः ॥ २ ॥

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ।

गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥ ३ ॥

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।

ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥ ४ ॥

१—श्रीशुकदेवजी बोले—वृष्णियोंके सर्वश्रेष्ठ मंत्री, भगवान् कृष्णके प्यारे सखा और शरणागतोंके दुःख हरनेवाले बृहस्पतिके साक्षात् शिष्य, अर्थात् परम बुद्धिमान् वा बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ उद्धवको भगवान्ने बुला और उनका हाथ अपने हाथमें ले तथा एकान्तमें ले जाकर बोले—हे उद्धव ! हे सौम्य (निर्मल) ! तुम ब्रजको जाओ । वहाँ मेरे वियोग-पीडित पिता, माता और गोपियोंको मेरा संदेशा देकर उनके विरह-दुःखको दूर करो; क्योंकि इन गोपियोंका मन मुझमें ही लग रहा है और मेरे लिये ही उन सबने अपने देहके कृत्योंको छोड़ दिया है । उनकी तो बात ही क्या, जो कोई भी मेरे लिये लोक और धर्मका त्याग कर देता है उसका पालन-पोषण मैं ही करता हूँ ॥ १–४ ॥

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कंठ्यविह्वलाः॥ ५ ॥
धारयंत्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन।
प्रत्यागमनसंदेशैर्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त उद्धवो राजन् संदेशं भर्तुरादृतः।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नंदगोकुलम्॥ ७ ॥
प्राप्तो नंदव्रजं श्रीमान् निम्लोचति विभावसौ।
छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभि॥ ८ ॥
वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः।
धावंतीभिश्च वास्राभिरूधोभारैः स्ववत्सकान्॥ ९ ॥
इतस्ततो विलंघद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च॥ १० ॥

मैं उनका प्रियमे भी प्रिय हूँ, इसलिये मेरे बिलग होनेसे वे गोकुलकी स्त्रियाँ—व्रजनारियाँ मुझे स्मरण कर-कर मोहित हो विरहकी उत्कण्ठासे विह्वल हो जाती हैं॥ ५॥

वे बड़ी कठिनाईसे किसी प्रकार प्राणोंको रख केवल मेरे सदेश पानेकी अभिलाषासे ही जी रही हैं॥ ६॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! इस प्रकार भगवान्‌के कहनेपर उद्धव गोपियोंसे सदेश कहनेके लिये रथपर बैठकर व्रजको चले॥ ७॥

सूर्यास्तके समय लौटते हुए पशुओंकी खुररेणुसे रजित रथद्वारा उद्धव, नदके व्रजमे पहुँचे॥ ८॥

वह व्रज पुष्पवती गौओंके लिये आपसमे लड़नेवाले मतवाले वृषभों-से शब्दायमान थीं। गौएँ अपने स्तनोंके भारमे भारान्वित होते हुए भी अपने-अपने बछड़ोंपर दौड़ती थीं—उनको आलिंगनके लिये उनकी ओर जाती हैं। इधर-उधर दौड़ते हुए सफेद गौवोंके बछड़ोंसे सुशोभित व्रज गोदोहनके शब्दोंसे झकरित और वशी ध्वनिसे शब्दित है॥ ९-१०॥

गायंतीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः।
स्वलंकृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम्॥ ११ ॥
अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम्॥ १२ ॥
सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम्।
हंसकारंडवाकीर्णैः पद्मषंडैश्च मण्डितम्॥ १३ ॥
तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम्।
नंदः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत्॥ १४ ॥
भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम्।
गतश्रमं पर्यपृच्छत्पादसंवाहनादिभिः॥ १५ ॥
कच्चिदंग महाभाग सखा नः शूरनंदनः।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः॥ १६ ॥

और यह ब्रज श्रीकृष्ण और बलरामद्वारा किये गये शुभ कर्मोंका गान करनेवाली सुन्दर अलंकारोंसे अलंकृत गोप-बाला और गोपोंसे सुशोभित है॥ ११॥

यह ब्रज अग्नि, सूर्य, अतिथि, गो, ब्राह्मण और पितृदेवताकी पूजाके धूप, दीप और मालासे सुशोभित गोपोंके घरोंसे बड़ा मनोहर है॥ १२॥

चारों ओर फूले हुए वनोंसे सुशोभित पक्षी और भ्रमरसमूहोंसे शब्दायमान है और हंस, कारंडव (जलकुक्कुट) आदिसे युक्त पद्म-समूहसे मण्डित है॥ १३॥

श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रिय अनुचर उद्धवको आया देखकर श्रीनंद बाबा अति प्रसन्न हुए और उनका आलिंगन कर (उनका) अर्चन किया॥१४॥

रातमें भोजनके उपरान्त उन्हें पलंगपर सुखपूर्वक बैठाकर नंद बाबा उनकी पाद-सेवा करते हुए यह पूछने लगे॥ १५॥

उद्धवजीसे बाबा नंद बोले कि हे महाभाग ! हमारे मित्र-शूर-पुत्र वसुदेव बन्धन-विमुक्त हो सुहृदोंके साथ पुत्रादि-सहित कुशलतो हैं ?॥ १६॥

दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना ।
साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा ॥ १७ ॥
अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन् ।
गोपान्व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम् ॥ १८ ॥
अप्यायास्यति गोविंदः स्वजनान्सकृदीक्षितुम् ।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम् ॥ १९ ॥
दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः ।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना ॥ २० ॥
स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापांगनिरीक्षितम् ।
हसितं भाषितं चांग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः ॥ २१ ॥
सरिच्छैलवनोद्देशान्मुकुंदपदभूषितान् ।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम् ॥ २२ ॥

पापी कंस अपने भाइयोंके साथ अपने पापद्वारा मारा गया, अच्छा हुआ, क्योंकि वह सदा धर्मशील और साधु यादवोंसे द्वेष करता था ॥ १७ ॥

क्या कृष्ण, अपनी माता और सुहृद् सखाओंके साथ हमारी गौओं, गोपों और अपने द्वारा रक्षित व्रज, वृंदावन तथा गोवर्धनको कभी याद करते हैं ? ॥ १८ ॥

हे उद्धव ! क्या गोविंद अपने जनोंको देखने यहाँ (व्रजमें) आयेंगे । क्या फिर हम उस सुन्दर नासिका और नेत्रोंवाले हँसते हुए मुखको देखेंगे ॥ १९ ॥

क्योंकि, दावानल, पवन, वर्षा, अरिष्टासुर और कालियसर्पसे उसने हमारी रक्षा की है । बड़ी-बड़ी मृत्युओंसे भी उस सुहृद् आत्मा कृष्णने हमारी रक्षा की है ॥ २० ॥ श्रीकृष्णके चारु चरित्र, उनके लीला-सहित नेत्रोंसे कटाक्षमय देखना, उनका हँसना, बोलना, ये सब स्मरण करनेसे हमारी क्रियाएँ—आंगिक कर्म सब शिथिल हो जाते हैं ॥ २१ ॥ नदी, पर्वत और वनके वे प्रदेश—स्थल विशेष, जो मुकुंद भगवान्‌के पदोंसे सुशोभित हैं, अथवा जहाँ वह खेले हैं, देखनेमें हमलोगोंके मन कृष्ण मय हो जाते हैं ॥ २२ ॥

मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा॥ २३॥
कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा।
अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः॥ २४॥
तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट्।
बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद्गिरिम्॥ २५॥
प्रलंबो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः।
दैत्याः सुरासुरजितो हता येनेह लीलया॥ २६॥

श्रीशुक उवाच

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नंदः कृष्णानुरक्तधीः।
अत्युत्कंठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः॥ २७॥
यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत्स्नेहस्नुतपयोधरा॥ २८॥

हम मानते हैं कि श्रीकृष्ण और बलराम दोनों देवताओंमें श्रेष्ठ देवता हैं, देवताओंके बड़े कार्य करनेके लिये पधारे हैं, जैसा कि गर्गने कहा था॥ २३॥

उन्होंने दस हजार हाथियोंके बलवाले कंसको, उसके मल्लोंको और कुवलयापीड हाथीको सहज ही ऐसे मारा, जैसे सिंह मृगोंको मारता है॥२४॥

उस तीन तालके बराबर लंबे धनुषको उन्होंने इस प्रकार तोड़ डाला, जिस प्रकार हाथी किसी लकड़ीको तोड़ डाले और सात दिनतक एक हाथपर गोवर्धन पर्वतको भी धारण किया था॥ २५॥

जिन्होंने सुर और असुरोंको भी जीत लिया—ऐसे प्रलंब, धेनुक, अरिष्ट, तृणावर्त और बकासुर आदि दैत्योंको मारा और सहज ही मारा।

श्रीशुकदेव बोले कि राजन्! इस प्रकार श्रीकृष्णमें अनुरक्त बाबा-नंद उनकी बातोंको याद कर-कर उत्कंठासे गला भर जानेके कारण प्रेममें विह्वल हो चुप हो गये और माता जसोदा भी पुत्रके वर्णन किये गये इस चरित्रको सुनकर आँसुओंसे पृथ्वीको भिगोने लगीं तथा स्नेहके कारण उनके स्तन-द्वयसे दूध टपकने लगा॥ २७-२८॥

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नंदयशोदयोः ।
वीक्ष्यानुरागं परमं नंदमाहोद्धवो मुदा ॥ २९ ॥

उद्धव उवाच

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद ।
नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी ॥ ३० ॥

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी रामो मुकुंदः पुरुषः प्रधानम् ।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ ॥३१॥

यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम् ।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ॥३२॥

तस्मिन्भवंतावखिलात्महेतौ नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन्किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ॥३३॥

बाबा नंद और यशोदाका भगवान कृष्णके प्रति इस प्रकारका अनुराग देख, उद्धव बड़े आनंदको प्राप्त हो बाबा नंदसे बोले ॥२९॥

उद्धव बोले, हे मानद (प्रतिष्ठा करने योग्य) ! यह बात निश्चय है कि आप और माँ यशोदा दोनों बड़ी सुश्लाघा (स्तुति) के योग्य हो, क्योंकि आप लोगोंने सब लोकोंके गुरु नारायणके प्रति इस प्रकार बुद्धि लगायी है ॥ ३० ॥

ये राम और कृष्ण दोनों वीर्य और योनि होनेसे संसारके उपादान और निमित्तके कारण हैं। प्रकृति और पुरुष इन दोनोंके ही आधीन हैं, ये दोनों पुराण पुरुष हैं, जो सब भूतोंमें प्रविष्ट हो विलक्षण ज्ञानका नियमन करते हैं ॥ ३१ ॥

जिस कृष्णके प्रति पुरुष प्राण-वियोगके समय क्षणमात्र भी निर्मल मन लगावे तो शीघ्र ही कर्म वासनाओंको दूर कर और दिव्य ज्ञानी बन सूर्य-सा प्रकाशित हो परमगति वैकुंठको पाता है ॥ ३२ ॥

हे महात्मन्! यद्यपि सब संसारके हेतु भक्तोंके पावन प्रेमके कारण मर्त्य रूप (मनुष्यरूप) धारण करनेवाले श्रीनारायणके प्रति आप लोगोंने जैसी भावना की है, उससे आपकी अब कौन सी कमनीय कामना बाकी रही ॥३३॥

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः ।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान्सात्वतां पतिः ॥ ३४ ॥
हत्वा कंसं रंगमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् ।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥ ३५ ॥
मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके ।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ॥ ३६ ॥
न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः ।
नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा ॥ ३७ ॥
न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः ।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥ ३८ ॥
न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु ।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥ ३९ ॥

तथापि सात्वतों (यादवों) के पति अच्युत भगवान् थोड़े ही दिनमें व्रज पधारेंगे और आप लोगोंको सुख देंगे ॥ ३४ ॥

क्योंकि, रंगभूमिमें यादवोंके शत्रु कंसको मारकर जो कुछ आपसे भगवान् श्रीकृष्णने कहा है, उसे वे अवश्य ही सत्य करेंगे ॥ ३५ ॥

हे महाभाग! आप खेद न करें, क्योंकि श्रीकृष्णको आप अपने पास अवश्य ही देखेंगे। वे तो सब भूतोंके हृदयमें इस प्रकार विराजमान हैं, जिस प्रकार लकड़ीके भीतर अग्नि रहती है ॥ ३६ ॥

बाबा, वे मान-रहित हैं, उनका कोई प्रिय और अप्रिय नहीं है, सबको समान मानते हैं, इसलिये उनके कोई उत्तम और मध्यम नहीं हैं ॥ ३७ ॥

उनके न कोई माता है, न पिता है, न भार्या है और न सुतादि ही हैं। उनके न कोई अपना है और न पराया, न देह है, न जन्म है ॥ ३८ ॥

यद्यपि इन सत्-असत् मिश्रित योनियोंमें उनका कोई भी कर्म नहीं है, तथापि साधुओंकी रक्षाके लिये वे क्रीडामें प्रवृत्त होते ही हैं ॥ ३९ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान् ।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥ ४० ॥
यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते ।
चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहंधिया स्मृतः ॥ ४१ ॥
युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः ।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥ ४२ ॥
दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद्वस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥४३
एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन् ।
गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान्वास्तून्समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन् ४४

वे गुण-रहित होकर भी सत्त्व, रज और तमादि गुणोंको भजते हैं, क्रीड़ा करते हैं तथा संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयके कारण होते हैं ॥ ४० ॥

जिस प्रकार घूमते हुए पुरुषकी दृष्टिमें पृथ्वी भी घूमती हुई नजर आती है, उसी प्रकार आत्माका जो अहङ्कार—मैंपना है, उसको चित्त देहादिकमें आरोपकर आत्मा देहादिको कर्ता मानता है ॥ ४१ ॥

भगवान् हरि, केवल आपके ही पुत्र नहीं हैं, अपितु वे सबके पुत्र, आत्मा, पिता और माता हैं अन्तु, वे ईश्वर हैं ॥ ४२ ॥

जगतमें जो दृश्य (देखने लायक) या श्रुत (सुना जानेवाला) भूत या भविष्यत्, स्थिर या चर, छोटा या बड़ा जो कुछ भी है, वह सब उस अच्युतमय है। उनके बिना कुछ भी नहीं है, इसलिये वे ही परमार्थ होनेसे सर्वमय हैं ॥ ४३ ॥

श्रीशुकदेव महाराज परीक्षित्से बोले कि, राजन्, बाबा नंदसे कृष्ण-दास उद्धवको इस प्रकार कहते-कहते ही वह रात्रि क्षणके समान व्यतीत हो गयी, प्रातःकाल भर गोपियाँ उठीं और नित्यकर्मके अनन्तर दिया बालकर विधि-सहित वास्तुदेवोंका पूजन कर दधि मथने लगीं ॥ ४४ ॥

ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू रज्जूर्विकर्षद्भुजकंकणस्रजः ।
चलन्नितम्बस्तनहारकुंडलत्विषत्कपोलारुणकुंकुमाननाः ॥ ४५ ॥
उद्गायतीनामरविंदलोचनं व्रजांगनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः ।
दध्नश्च निर्मंथनशब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममंगलम् ॥ ४६ ॥
भगवत्युदिते सूर्ये नंदद्वारि व्रजौकसः ।
दृष्ट्वा रथं शातकौंभं कस्यायमिति चाब्रुवन् ॥ ४७ ॥
अक्रूर आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः ।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः ॥ ४८ ॥
किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रीतस्य निष्कृतिम् ।
इति स्त्रीणां वदंतीनामुद्धवोऽगात्कृताह्निकः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नन्दशोकापनयनं नाम षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

राजन्! उनके मणिजटित आभूषण दीपोंसे प्रकाशित होनेके कारण बड़े सुन्दर दिखलायी पड़ने लगे। दधि-मंथनके समय रम्य-रज्जुके आकर्षणसे—बार-बार खींचनेसे, उनकी भुजा, कंकण, माला, नितंबदेश, कटिभाग, स्तन, हार और कुण्डल सब चंचल होने लगे। उनका कुंकुम-मंडित-मुख अरुण होनेके कारण विशेष सुन्दर लगने लगा। ॥ ४५ ॥

कमल-लोचन भगवानके चारु चरित्र गान करनेके कारण व्रज-सुन्दरियोंकी जो रसपूर्ण मंजुल-ध्वनि उत्पन्न हुई वह दधि-मंथनकी सुन्दर स्वर-लहरीके साथ मिल-कर आकाशमें फैल गयी, जिससे दसों दिशाओंका अमंगल नाश होने लगा ॥ ४६ ॥

जब सूर्योदय हुआ तो व्रज-वासी बाबा नंदके द्वारपर खड़े सुंदर रथ-को देखकर आपसमें पूछने लगे कि यह 'रथ' किसका है ॥ ४७ ॥

क्या अक्रूर फिर आया है? जो कंसकी अर्थ-सिद्धिके लिये हमारे प्यारे कमल-लोचन कृष्णको मथुरा ले गया था? ॥ ४८ ॥

क्या, अब हमारे प्राण-रहित शरीरसे वह अपना कोई अन्य अभीष्ट कार्य सिद्ध करना चाहता है? इस प्रकार स्त्रियोंके कहने-सुननेमें ही श्रीउद्धव स्नान-संध्यादि कर वहाँ (नंदके घर) आ गये ॥ ४९ ॥

श्रीशुक उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलंबबाहुं नवकंजलोचनम्।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्मुखारविंदं मणिमृष्टकुंडलम् ॥ १ ॥
शुचिस्मिताः कोऽयमपीव्यदर्शनः कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकास्तमुत्तमश्लोकपदांबुजाश्रयम् ॥२॥
तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने विज्ञाय संदेशहरं रमापतेः ॥ ३ ॥
जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम्।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान्प्रियचिकीर्षया ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—राजन्! नवीन कमलके समान नेत्रवाले, आजानुबाहु, पीताम्बरधारी, कमल मालिकाओंसे युक्त और मणि-जड़ित कुंडलोंसे शोभायमान मुखवाले भगवान्‌के अनुचर (उद्धव) को गोपियोंने देखा, व्रजकी स्त्रियोंने उन्हें निहारा ॥ १ ॥

उत्तमश्लोक भगवान्‌के चरण-कमलके आश्रयमें रहनेवाले उद्धवको अच्युत जैसी ही वेश-भूषा देखकर गोपियाँ विस्मयके साथ आपसमें पूछने लगीं कि यह मनोहर हासवाला कौन है? कहाँसे आया है? आदि कहती हुई उत्कंठा-वश उनको चारों ओरसे घेर लिया ॥ २ ॥

जब गोपियोंने जाना कि ये प्रिय कृष्णके सखा हैं और उनका संदेश लेकर आये हैं, तब विनम्र हो लज्जावश कुछ कुछ मुस्कराती तथा कटाक्षमय मधुर वचनों द्वारा उनका सत्कार करती हुईं, एकान्तमें ले जाकर उत्तम आसनपर उन्हें बैठाया और पूछने लगीं ॥ ३ ॥

गोपी बोलीं कि हम आपको जानती हैं कि आप यदुपतिके पार्षद (पासमें रहनेवाले, मंत्री, मीर मजिलिस) हो और आपको आपके स्वामीने माता-पिताकी प्रसन्नताके निमित्त भेजा है। इसीलिये आप यहाँ आये हैं ॥ ४ ॥

अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे ।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ॥ ५ ॥
अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडंबनम् ।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनस्स्विव षट्पदैः ॥ ६ ॥
निःस्वं त्यजंति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः ।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥ ७ ॥
खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम् ।
दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् ॥ ८ ॥

नहीं तो इस गौओंके व्रजमें अब उनकी प्यारी ऐसी कोई भी वस्तु नहीं दिखलायी पड़ती जो उन्हें यहाँकी याद दिलाये, परंतु हाँ, जिनके स्नेह-बन्धनमें बँधकर आपको यहाँ उनकी प्रसन्नतार्थ भेजा है सो ठीक ही है, क्योंकि स्नेहका श्रेष्ठ बन्धन मुनियोंसे भी कठिनतासे तोड़ा जाता है ॥५॥

जो अपने नहीं हैं, उनसे मतलब निकल जाने तककी ही मित्रता होती है—रहती है, जब प्रयोजन सिद्ध हो गया, तब मित्रता कैसी? उदाहरणरूपमें अन्य स्त्रियोंके साथ पुरुषोंकी, अथवा नवविकसित फूलोंके साथ भौंरेकी (जैसी) मित्रता रखी जा सकती है ॥ ६ ॥

धन-हीन पुरुषको वेश्या, असमर्थ राजाको प्रजा, विद्या पढ़ लेनेपर अध्यापकको विद्यार्थी, यजमानसे दक्षिणा ले लेनेके बाद ऋत्विज (यज्ञ करानेवाला), फल बीतनेपर पेड़ (वृक्ष) को पक्षी, भोजनके अनन्तर अतिथि, जल जानेके बाद वनको मृग, भोगे पीछे प्रेमस्वरूपा परस्त्रीको जार पुरुष छोड़ देते हैं, इसमें क्या कहना और सुनना ॥ ७ ॥

अथवा जिस प्रकार फलरहित वृक्षको पक्षी, भोजनके अनंतर जिस प्रकार अतिथि घरको, जले हुए वनको जिस प्रकार मृग और भोगके पश्चात् जिस प्रकार जार पुरुष स्त्रीको छोड़ देते हैं, उसी प्रकार हमको छोड़ दिया ॥ ८ ॥

इति गोप्यो हि गोविंदे गतवाक्कायमानसाः ।
कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः ॥ ९ ॥
गायंत्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः ।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः ॥ १० ॥
काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायंती कृष्णसंगमम् ।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

गोप्युवाच

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशांघ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुंकुमश्मश्रुभिर्नः ॥
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडंब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥ १२ ॥

इस तरह मन, वचन और शरीरसे गोविंदमें आसक्त गोपियोंने भगवान् कृष्णके दूत उद्धवको व्रजमें पाकर—उनके साथ संभाषण करते हुए अपने सब लौकिक कर्मोंको छोड़ दिया ॥ ९ ॥

पहिले वे अपने प्रियके कर्मों (कार्यों) को गान करने लगीं और फिर उनके बाल और किशोरावस्थामें किये गये कर्मोंको याद करके लज्जा छोड़ रुदन करने लगीं ॥ १० ॥

कृष्ण भगवान्के सुसंगमका ध्यान करती हुई वे गोपियाँ, किसी मधुकरको देख और उसे अपने प्रियका दूत मानकर कल्पना कर, यह कहने लगीं ॥ ११ ॥

गोपियाँ बोलीं कि हे मधुप ! तुम कपटीके मित्र हो, अतः हमारे चरणोंका स्पर्श न करो, क्योंकि तुम सौतके स्तनोंपर विलुलित मालाके कुंकुम (पराग) को लगा लाये हो । अरे, ऐसे मानिनीके उपायक प्रसादको वो तेरा मधुपति (श्रीकृष्ण) ही धारण करने लायक है, वही इस प्रसादको पाकर यदु-सभामें हँसने लायक है, जिसका कि तू दूत बना है ॥ १२ ॥

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान्भवादृक् ।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि वत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥ १३ ॥
किमिह बहु षडंघ्रे गायसि त्वं यदूना
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसंगः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयंतीष्टमिष्टाः ॥ १४ ॥
दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः ।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥ १५ ॥

अपनी मोहनेवाली अधर-सुधाका एक बार पान कराकर उन्होंने हमें छोड़ दिया, जिस तरह नव विकसित पुष्पोंका रस लेकर तू (उन्हें) छोड़ देता है । लक्ष्मी, उनके पाद-पद्मका सेवन क्यों करती है ? मालूम होता है कि वह उन उत्तम श्लोक (भगवान्) के वचनों-द्वारा चित्तके चुराये जानेपर ही ऐसा करती है ॥ १३ ॥

हे षडंघ्र ! हम बिना घर-द्वारवाली वनचरियोंके आगे (सामने) पुराने जाने-पहिचाने यदुपति (श्रीकृष्ण) का क्यों बहुल बखान (बड़ाई) करता है ? यह कीर्ति-कथा तो उस अर्जुनके सखाकी सखियोंको ही जाकर सुना, उनके आगे ही जाकर कह जो कि उनकी प्यारी हैं और जिनके स्तनोंका कामाग्निरोग उनके हृदयसे लगनेके कारण मिट गया है, वे ही तेरे मनोरथको पूरा करेंगी ॥ १४ ॥

त्रिभुवनमें कौन ऐसी स्त्री है जो उसे दुर्लभ हो ? जिसे कि वह प्राप्त न कर सके ? क्योंकि (उनका) कपटसंयुक्त मंद हाँसी और भौंहोंका विचित्र-विलास बड़ा सुंदर है—मोहक है । जिनके चरण-रजकी उपासना महालक्ष्मी नित्य किया करती हैं, उसके लिये हम क्या हैं ? फिर भी जो दीन-दुखियोंपर दया-दृष्टि रखते हैं—करते हैं उन्हें उत्तमश्लोक नामसे पुकारा जाता है, औरोंको नहीं ॥ १५ ॥

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेता किं नु संधेयमस्मिन् ॥ १६ ॥
मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वाऽवेष्टयद् ध्वांक्षवद्य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥ १७ ॥
यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्—
सकृददनविधूतद्वंद्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहंगा भिक्षुचर्यां चरंति ॥ १८ ॥

हमारे पैरोंपरसे अपने शीशको हटा, हम तेरी यह चाटुकारता—चापलूसी खूब जानती हैं। अरे! यह कपट विनयसे भरी दूतता तो तूने मुकुन्दहीसे न सीखी है? हाय, जिसके लिये हमने अपने पति, पुत्र और लोकको छोड़ा, वही अकृतज्ञ तथा चञ्चल-चित्त, हमें त्यागकर चला गया। क्या ऐसेके पास फिर हम जायँ ॥ १६ ॥

जिस लुब्धधर्माने व्याधकी तरह वानरराज (बाली) को बेधा—मारा, स्त्रीके वश होकर कामनी एक स्त्रीको विरूप किया और बलिकी दी हुई भेंट लेकर भी काककी तरह (उसे) बाँधा, हाय, ऐसे कालेकी प्रीति बड़ी बुरी है, अत्यन्त निकृष्ट है, पर छोड़ी नहीं जाती ॥ १७ ॥

जिनका अमृतमय लीला-चरित्र जरा-सा भी किसीके कान पड़ जाय, तो वह रागद्वेषादि द्वन्द्वधर्मोंको नष्ट कर अकिंचनरूपसे अपने दीन कुटुम्ब-को त्याग देता है और संसारसे दुखी हो आप भी दीन बना पक्षियोंकी तरह अपना ही पेट पालता हुआ भिक्षुककी भाँति इधर-उधर मारा-मारा फिरने लगता है, अतएव ऐसी कथा जिसके सुननेसे यह गति हो, सुनना ठीक न [illegible] ॥

वयमृतमिव जिह्म व्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः ।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमंत्रिन्भण्यतामन्यवार्ता ॥१९॥
प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुंधे माननीयोऽसि मेंऽग ।
नयसि कथमिहास्मान्दुस्त्यजद्वंद्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते ॥२०॥
अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते
स्मरति स पितृगेहान्सौम्यबन्धूंश्च गोपान् ।
क्वचिदपि स कथा नः किंकरीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगंधं मूर्ध्न्यधास्यत्कदा नु ॥२१॥

जैसे काले कपटी व्याधके सुमधुर गानपर श्रद्धाकर हरिणी बँध जाती है—मारी जाती है, उसी प्रकार हम भी उन (कृष्ण) की स-कपट बातोंको सत्य मान लुभा गयीं। अतएव उनके द्वारा बारंबार किये गये नख-क्षतोंके देखनेसे हमको बड़ी काम पीड़ा होती है, इसलिये हे दूतोंमें श्रेष्ठ! उन (कृष्ण) की चर्चा छोड़कर अन्य बातें कर ॥ १९ ॥

हे प्रियके सखा! और, तू जाकर फिर आया! क्या प्यारेने तुझे (हमें) अपने पास बुलानेको फिर भेजा है! प्रिय! तुम हमारे माननीय हो, अतः जो इच्छा हो वह माँगो! जिनका संग दुस्त्यज्य है—जिनके संगको पुर-स्त्रियाँ छोड़ना नहीं चाहतीं, उन (कृष्ण) के पास हमें फिर क्यों ले चलना चाहते हो! हे सौम्य! हमसे वह (कृष्ण) फिर न त्यागा जायगा, इसलिये उनके पास अब न ले चलो! फिर वधू लक्ष्मी तो उनके हृदयमें सदा बसती ही है—रहती ही है ॥ २० ॥

हे सौम्य! क्या आर्यपुत्र इस समय मथुरामें हैं? वे पिताके घरकी, बन्धुओंकी और गोपोंकी याद करते हुए कभी हम दासियोंकी कथा भी कहा करते हैं! हाय, अगरु (चंदन) से अलंकृत—सुगन्धित भुजाको वे हमारे शीशपर अब कब रखेंगे! ॥ २१ ॥

श्रीशुक उवाच

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः ।
सांत्वयन्प्रियसंदेशैर्गोपीरिदमभाषत ॥ २२ ॥

उद्धव उवाच

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः ।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः ॥ २३ ॥
दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥ २४ ॥
भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा ।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ॥ २५ ॥
दिष्ट्या पुत्रान्पतीन्देहान्स्वजनान्भवनानि च ।
हित्वा वृणीत यूयं यत्कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ॥ २६ ॥

श्रीशुकदेव बोले कि उद्धव, कृष्ण दर्शन-लालसासे उल्लसित गोपियों-को इस प्रकार कहते सुनते देख, उन (गोपियों) को प्रियके सन्देशोंसे सांत्वना देते हुए यह बोले ॥ २२ ॥

उद्धव बोले कि जिनके वासुदेव भगवान्में इस प्रकार मन अर्पित हो गये हैं—लग गये हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो गये, फिर वे लोक-पूजित क्यों न हों ! ॥ २३ ॥

दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय और संयम आदि जितने भी श्रेयस्कर धर्म हैं, उन सबमें श्रीकृष्ण भगवान्की भक्ति सिद्ध की जाती है—प्रतिपादित की जाती है ॥ २४ ॥

इन्हों (गोपियों) ने उत्तम श्लोक भगवान्के प्रति बहुत उत्त भक्ति की है, जो मुनियोंको भी दुर्लभ है ॥ २५ ॥

पति, पुत्र, देह, स्वजन और घर—इन सबको छोड़कर, इन्होंने उ परम पुरुष श्रीकृष्णको वरा—चाहा, जो बड़ा सुन्दर है ॥ २६ ॥

सर्वात्मभावोऽधिगतो भवतीनामधोक्षजे ।
विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः ॥ २७ ॥
श्रूयतां प्रियसंदेशो भवतीनां सुखावहः ।
यमादायागतो भद्रा अहं भर्तू रहस्करः ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित् ।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ॥ २९ ॥
तथाहं च मनःप्राणभूतेंद्रियगुणाश्रयः ॥२९-२॥
आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये ।
आत्ममायानुभावेन भूतेंद्रियगुणात्मना ॥ ३० ॥

आप सबका उन अधोक्षज भगवान्में विरहके कारण आत्मभाव हो गया है—हर समय उन्हें अपने पास देखती हो, अतः हे महाभागो ! तुमने मुझपर बड़ा अनुग्रह किया ॥ २७ ॥

अब आप सुखके देनेवाले अपने प्रियके संदेशोंको सुनें । हे मंगल-कारिणियो ! इसीके लिये मैं यहाँ आया हूँ और इसी कार्यके लिये मेरे स्वामीने मुझे यहाँ भेजा है ॥ २८ ॥

भगवान्ने कहा है कि हमारा और तुम्हारा किसी तरह, किसी समय, कभी भी और कहींपर भी वियोग नहीं है । जिस प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी-आदि पंचभूतोंका, इन पंच-भूतोंसे बने शरीरधारी प्राणीसे नहीं होता ॥ २९ ॥

उसी प्रकार मैं भी मन और प्राणसे भूतेन्द्रिय-गुणोंका आश्रय रहता हूँ, अर्थात् उनसे मैं पृथक् नहीं हूँ ॥ २९-२ ॥

मैं दिव्य-ज्ञान-संकल्पके प्रभावसे भूत-इन्द्रिय-गुणोंको, उनका रूप होकर अभिन्न जगत्‌को, पृथक् शरीर होनेके कारण माया-द्वारा सृजता हूँ—बनाता हूँ, पालन करता हूँ, अर्थात् रक्षा करता हूँ और नाश करता हूँ ॥ ३० ॥

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः ।
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते ॥ ३१ ॥
येनेन्द्रियार्थान्ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः ।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत ॥ ३२ ॥
एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम् ।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ॥ ३३ ॥
यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम् ।
मनसः संनिकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥ ३४ ॥
यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते ।
स्त्रीणां च न तथा चेतः संनिकृष्टेऽक्षिगोचरे ॥ ३५ ॥

आत्मा तो ज्ञानमय होनेके कारण शुद्ध स्वरूप है—पृथक् है और गुणोंसे रहित है—अलग है। अतः माया और प्रकृतिसे सम्बन्ध होनेके कारण (वह) जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-रूप अवस्थाओंमें प्रकाशित होता रहता है ॥ ३१ ॥

जैसे मनमें स्वप्नके अनतर स्वप्न जनित विषयोंका अनित्य-ज्ञान बना रहता है, वैसे ही जाग्रत्-अवस्थामें मन द्वारा इंद्रिय-जनित विषयोंका बोध, ध्यान बना रहता है—होता रहता है, अतएव उस अवस्थामें मनको रोकनेपर सावधान होनेके कारण मेरे स्वरूपको जानने लगता है ॥ ३२ ॥

बस, इस प्रकार मनका रोकना ही समस्त विद्वानोंका अभिमत है। यही वेदार्थ है, यही योग है, यही सांख्य है, यही शम-दम है और यही सत्य है, क्योंकि नदियोंकी समाप्ति—अंत, समुद्रमें ही तो होती है ॥ ३३ ॥

मैं तुम्हारी दृष्टिका प्रिय विषय बन इसलिये दूर रहता हूँ कि तुम्हारा मन एकाग्र हो जाय, क्योंकि एकाग्र मन होनेपर ही मेरा ध्यान होगा, मन स्थिर होनेपर ही मेरे ध्यानकी कामना होगी ॥ ३४ ॥

जैसा, प्रियतमके दूर रहनेके कारण स्त्रियोंका मन (उसमें) लगा रहता है, आवर्षण बना रहता है, वैसा मन पासमें—सामीप्यमें, नेत्रोंके आगे होनेके कारण नहीं लगता ॥ ३५ ॥

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत् ।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ॥ ३६ ॥
या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन्व्रज आस्थिताः ।
अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया ॥ ३७ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः ।
ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्संदेशागतस्मृतीः ॥ ३८ ॥

गोप्य ऊचुः

दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत् ।
दिष्ट्याप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना ॥ ३९ ॥
कच्चिद्गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम् ।
प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः ॥ ४० ॥

अतः सब विषयोंसे हटाये हुए एकाग्र मनको मुझमें लगानेसे मेरा ध्यान करने और स्मरण करनेसे थोड़े ही समयके अनंतर मुझको मिलोगी ॥ ३६ ॥

हे कल्याणियो ! व्रजमें बसते—रहते हुए जो वनमें रात्रिके समय (मैंने) क्रीड़ा की, जिनके साथ अनेकानेक खेल खेले, उनके अतिरिक्त जो और अलब्धरासा हैं वे मेरे पराक्रमका चिन्तवन कर मुझे पा गयीं ॥ ३७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले कि राजन्, गोपियाँ प्रियतमके शुभ-संदेशको इस प्रकार सुन और उस संदेशसे प्रियका स्मरण होनेपर, बड़ी प्रसन्न हो उद्धवसे बोलीं ॥ ३८ ॥

गोपियाँ बोलीं कि, यादवोंको क्लेश देनेवाला कंस मरा यह सुन्दर हुआ । अतः सर्वार्थ सिद्ध-प्राप्त, अर्थात् पूर्ण मनोरथी अपने प्रियोंके साथ अच्युत इस समय कुशल हैं, बहुत सुन्दर है ॥ ३९ ॥

हे सौम्य ! बलदेवके छोटे भैया नगर-निवासिनियोंकी मनोहर हास-युक्त लज्जा और उदार कटाक्षोंसे पूजित होकर कभी हमारी प्रीतिकी बातें भी करते हैं ? ॥ ४० ॥

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम् ।
नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः ॥ ४१ ॥
अपि स्मरति नः साधो गोविंदः प्रस्तुते क्वचित् ।
गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथांतरे ॥ ४२ ॥
ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-
वृंन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये ।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या—
मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ॥ ४३ ॥
अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा ।
संजीवयन्नु नो गात्रैर्यथेंद्रो वनमंबुदैः ॥ ४४ ॥
कस्मात्कृष्ण इहायति प्राप्तराज्यो हताहितः ।
नरेंद्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः ॥ ४५ ॥

वह रति विशेषज्ञ होनेके कारण सुन्दर स्त्रियोंका प्रिय, पूजित होकर उनके सुन्दर वाक्योंमें भूल कैसे न बँध जायगा ? अर्थात् अवश्य बँध जायगा ॥ ४१ ॥

हे साधु! कभी पुरस्त्रियोंके समूहमें प्रवृत्त (आसक्त) गोविंद, अपनी इच्छित कथाओंमें प्रसंगानुसार हम ग्रामणियों गँवारियोंको भी वे याद करते हैं ॥ ४२ ॥

वे (श्रीकृष्ण) कभी कुमुद, कुंद और इन्दु तथा चंदनसे सुशोभित वृन्दावनकी उन रम्य-रात्रियोंका भी स्मरण करते हैं, जिनमें हम प्यारियोंके साथ चरण नूपुर ध्वनिसे परिपूर्ण रास रचा था और जिसमें हमने उसकी मनोहर कथा गायी थीं ॥ ४३ ॥

वे दाशार्ह, अभी यहाँ आकर हमारे सतप्त गात्रको, जिस प्रकार मेघ वनको शीतल करता है, उसी तरह अपने अंगोंसे शीतल करेंगे ? ॥ ४४ ॥

कृष्ण यहाँ क्यों आयेंगे ! उन्होंने अपने शत्रुको मार लिया, उसका राज्य भी ले लिया, राजकन्याओंके साथ विवाह कर लिया और अपने सुहृदोंको पा भी लिया ॥ ४५ ॥

किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः ।
श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः ॥ ४६ ॥
परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिंगला ।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ॥ ४७ ॥
क उत्सहेत संत्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम् ।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरंगान्न च्यवते क्वचित् ॥ ४८ ॥
सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे ।
संकर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो ॥ ४९ ॥
पुनः पुनः स्मारयंति नंदगोपसुतं बत ।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः ॥ ५० ॥

वह आप्तकाम, अर्थात् पूर्णकाम महात्मा, हम जंगली स्त्रियोंसे अथवा अन्य स्त्रियोंसे कृतकृत्य हो सकेगा ? कुछ कार्य साध सकेगा ? क्योंकि वह लक्ष्मीका पति है ॥ ४६ ॥

निराशा बड़ी सुखद है, यह स्वैरणी (वेश्या) पिंगलाने कहा था और इसे हम भी जानती हैं, फिर भी कृष्ण-प्रति हमारी दुरत्यया (दुःखसे परिपूर्ण) आशा नहीं छुटती,—नहीं छुटती ॥ ४७ ॥

उन उत्तम श्लोक-द्वारा कहीं बातें किससे छोड़ी जाँयगी,—किससे त्यागी जाँयगी, क्योंकि (उनकी) बातोंमें आसक्त लक्ष्मी उनके न चाहनेपर भी (उनका) संग छोड़ना नहीं चाहती ॥ ४८ ॥

हे प्रभो, श्रीकृष्णने यमुना नदी, गोवर्धन गिरि और वनोंके इन प्रदेशोंमें संकर्षणके साथ बहुत चरित्र किये हैं ॥ ४९ ॥

वे सब स्थान (जहाँ जहाँ उन्होंने क्रीडा की थी) नंद-गोप-सुतको बार-बार याद करते हैं और हम भी लक्ष्मीनिकेत (घर) के उन चरण-चिह्नोंको (नदी, शैल और वनोंमें) देखकर उनको भूल नहीं सकतीं ॥५०॥

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः ।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं विस्मरामहे ॥ ५१ ॥
हे नाथ ! हे रमानाथ !! व्रजनाथार्तिनाशन !
मग्नमुद्धर गोविंद गोकुलं वृजिनार्णवात् ॥ ५२ ॥

श्रीशुक उवाच

ततस्ताः कृष्णसंदेशैर्व्यपेतविरहज्वराः ।
उद्धवं पूजयांचक्रुर्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम् ॥ ५३ ॥
उवास कतिचिन्मासान् गोपीनां विनुदन् शुचः ।
कृष्णलीलाकथां गायन् रमयामास गोकुलम् ॥ ५४ ॥
यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत्स उद्धवः ।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन्कृष्णस्य वार्तया ॥ ५५ ॥

उनकी मनोहर चाल, सुन्दर हँसी—उदार हास, कौतुकसहित देखना और मधुर बोलना हमारे हृदयोंमें बस रहा है,—रम रहा है, हम उन्हें कैसे भूलें ॥ ५१ ॥

हे नाथ, हे रमानाथ, हे व्रजनाथ, हे आर्तनाशन (दुःखोंसे छुड़ानेवाले), हे गोविंद, तुम्हारे विरह-दु ख-समुद्रमें डूबे हुए गोकुलका शीघ्र उद्धार करो ॥ ५२ ॥

श्रीशुक बोले कि गोपियोंने इस प्रकार कहने और सुननेके अनंतर श्रीकृष्णके संदेशोंसे अपने दुःखोंको कुछ कम कर, उद्धवकी आत्माको अधोक्षज भगवान्‌की आत्मासे भिन्न—पृथक् न मान उन (उद्धव) का पूजन किया ॥ ५३ ॥

और उद्धव भी, श्रीकृष्ण-लीलाकी कमनीय कथाओंके निरंतर गान-द्वारा गोपियोंका शोक-शमन करते हुए गोकुलमें कितने ही दिन विरमे रहे ॥ ५४ ॥

उद्धव, श्रीनदबाबाके व्रजमें जितने भी दिन रहे । वे दिन श्रीकृष्ण-की निरंतर बात-चीत होनेके कारण क्षण समान व्यतीत हो गये ॥ ५५ ॥

सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन्कुसुमितान्द्रुमान् ।
कृष्णं संस्मारयन्रेमे हरिदासो व्रजौकसाम् ॥ ५६ ॥
दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम् ।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥ ५७ ॥
एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविंद एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वांछंति यद्भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥५८॥

वे यमुना नदी, निकुंजादि, वन, गोवर्धनगिरिकी कंदरा और प्रफुल्लित वृक्षोंके जिनमें भगवान् श्रीकृष्णने क्रीड़ाएँ कीं, दर्शन करते-कराते श्रीकृष्णकी याद दिलाते रहे ॥ ५६ ॥

उद्धव, गोपियोंकी श्रीकृष्णमें आंतरिक अत्यंत आसक्तिके कारण उत्पन्न विपुल-विकलताको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें (गोपियोंको) नमस्कार कर इस तरह बोले ॥ ५७ ॥

इस पृथ्वीपर शरीरको अपना माननेवाले जीवोंमें इन गोप-वधूटियोंका जन्म ही धन्य है—इनका जन्म लेना ही सार्थक है, क्योंकि इन्होंने सबके आत्मा श्रीगोविंदमें अपने सब रूढि-भाव,* प्रसिद्ध भाव लगा दिये हैं जिन्हें कि संसारसे विरक्त रहनेवाले मुनि और संसारमें लिप्त, आसक्त हम सब चाहते हैं । अतः भगवत्कथा-रसके चाहनेवालोंका ब्राह्मण-कुलमें लेना ही कुछ विशेष कारण नहीं है—प्रयोजन नहीं है ॥ ५८ ॥

* रूढिभावके अर्थमें भी भागवतके टीकाकारोंका विभिन्न मत है, कोई इसका अर्थ प्रेम मानता है तो कोई स्वर्गादि सुख, कोई देहादिकी क्रियाओंको मानता है तो कोई जन्म-मरणसे निवृत्ति—आदि-आदि ।

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः ।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥५९॥

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितांतरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगंधरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकंठ—
लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजवल्लवीनाम् ॥६०॥

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥ ६१ ॥

अहो, कहाँ ये व्यभिचार-दृष्टिसे दूषित वनचरियाँ और कहाँ इनका परमात्मा श्रीकृष्णमें रूढ़ि-भाव—प्रेमाशक्ति ! कोई भी अज्ञानी हो और किसी जातिका क्यों न हो, ईश्वरसे प्रेम करनेपर उसका कल्याण होता ही है । जिस प्रकार अमृतके गुणको न जाननेवाला उसका सेवन करनेसे अमर हो जाता है ॥ ५९ ॥

भगवान्से नितान्त प्रेम (अत्यन्त प्रेम) करनेवाली लक्ष्मी और कमलगंध जैसी कान्तिवाली देव-कन्याएँ, निरंतर संगमें रहकर भी वह प्रसन्नता और प्रसाद न पा सकीं, जैसे कि रासोत्सवमें श्रीकृष्णकी भुजाओं-से आलिंगन कर व्रज-सुन्दरियोंने पाया था ॥ ६० ॥

यदि मैं, गोपियोंकी चरण रज सेवन करनेवाली वृन्दावनकी गुल्म-लता और ओषधि ही बन जाऊँ—तो मेरा जन्म सफल हो जाय, क्योंकि इन्होंने (स्वयं न छोड़े जानेवाले) दुस्त्यज स्वजनोंका और आर्य श्रेष्ठ पथका त्याग कर श्रुतियाँ भी जिसे ढूँढनेमें असमर्थ हैं ऐसे श्रीमुकुंद भगवान्को भजा है—पाया है ॥ ६१ ॥

या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।
कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥ ६२ ॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥ ६३ ॥

श्रीशुक उवाच

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥ ६४ ॥
तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः ।
नंदादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः ॥ ६५ ॥

इन गोपियोंने लक्ष्मी, आप्तकाम ब्रह्मा और शिव-द्वारा पूजित भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंका जिन्हें कि योगेश्वर सदा अपने अन्तःकरणमें ध्यान धरा करते हैं, रास-गोष्ठीके समय अपने स्तनोंपर रख और उनसे आलिंगन कर (अपने) पापोंका नाश किया था ॥ ६२ ॥

मैं, इन नंद-व्रज-स्त्रियोंकी निरंतर वंदना करता हूँ, क्योंकि इनके द्वारा गायी गयी हरि-कथा तीनों भुवनोंको पवित्र करनेवाली है ॥ ६३ ॥

श्रीशुक बोले कि इसके अनंतर दासार्ह (उद्धव), गोपियोंसे, यशोदासे और बाबा नंदसे आज्ञा लेकर और गोपोंसे मिलकर जानेके लिये—मथुरा वापिस आनेके लिये, रथपर बैठे ॥ ६४ ॥

नंदादिक उन्हें (उद्धवको) जाते देखकर अपनी आँखोंमें अनुराग-के आँसुओंको भर—प्रेमाश्रुओंसे अभिषिंचन कर, हाथोंमें उन्हें देनेके लिये अनेकानेक भेंटकी वस्तुएँ ले यह बोले ॥ ६५ ॥

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥ ६६ ॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मंगलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥ ६७ ॥
एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप ।
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम् ॥ ६८ ॥
कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् ।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे उद्धवप्रतियाने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ।



हमलोगोंके मनकी सारी वृत्तियाँ उन (श्रीकृष्ण) के चरणोंमें, वचन उनके नामोंका गान करनेमें और शरीर उनको प्रणाम करनेमें लगे रहें ॥ ६६ ॥

ईश्वरकी इच्छासे हमने जो कुछ भी मंगलमय आचरण और दानादि किये हैं उन कर्मों-द्वारा घूमते हुए—भ्रमते हुए हम किसी योनिमें जायँ, परंतु हमारी प्रीति परमेश्वर-श्रीकृष्णमें ही लगी रहे ॥ ६७ ॥

राजन्, उद्धवजी इस प्रकार कृष्ण भक्त गोपोंसे पूजा पानेपर पुनः श्रीकृष्ण-पालित मथुरामें आये ॥ ६८ ॥

श्रीकृष्णको प्रणाम करनेके अनंतर व्रज-वासियोंकी भक्तिकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर—उनकी भक्तिके उद्रेकमें आकर, वसुदेवजीको, राम (बलराम) को और महाराज उग्रसेनको नंदादिक-द्वारा दी गयी भेंटें दीं ॥ ६९ ॥

परिशिष्ट—(“ख”)*

ऊधौ कौ उपदेस सुनौं किनि कौंन दै।
निरगुँन स्याँम सँदेस पठायौ आँन दै॥

❀

कोउ आवत उहि ओर जहाँ नँद-सुवन पधारे।
सरस बेंनु-धुनि होत मनौं आए ब्रज प्यारे॥
धाए सब दल गाजि कैं, ऊधौ देखे जाइ।
लै आए ब्रजराज-घर आँनद उर न समाइ॥ १॥

❀

अरघ, आरती, तिलक, दूब, दधि माथें दीन्हीं।
कंचन-कलस भराइ, बहुरि परिकंमा कीन्हीं॥
गोप-भीर आँगन भई, जुरि बैठे इक जाति।
जल-झारी आगें धरी, पूँछति हरि-कुसलाति॥ २॥

❀

कुसल-छेंम बसुदेव, कुसल देवकि-कुबजाऊ।
कुसल-छेंम अकरूर, कुसल नीके बलदाऊ॥
पूँछि कुसल गोपाल की, रहे सकल गहि पाँइ।
प्रेंम-मगन ऊधौ भए, पेखत ब्रज के भाइ॥ ३॥

---

* सूरदासजीका ‘भ्रमरगीत’ बहुत प्रसिद्ध है और उसकी सुमधुर पदावली बहुतोंका कंठहार है। सूरसागरके उस भ्रमरगीतमेंसे कुछ संग्रह पूर्वीय सम्पादकोंकी सूझ-बूझके अनुसार छप चुका है, अतः उसे न दुहरा-कर इस श्रीसूरकी तत्सम एक नयी प्राप्त रचना विज्ञ पाठकोंकी भेंट परिशिष्ट “ख” रूपसे की जारही है, भूल-चूक लेनी-देनी।

मन में ऊधौ कहै, बूझिए क्यों गोपालहिं।
ब्रज कौ हेत-बिसारि, जोग सिखवैं ब्रज-बालहिं॥
इनकी प्रीति पतंग लौं, जारत है सब देह।
वे हरि-दीपक-जोति ज्यों, नेक न उनकै नेह॥ ४ ॥



ऊधौ, कर लै धरी, लिखी हरि जू की पाती।
पढ़ी परत नहिं नैंकु, रहे पौढ़ी करि छाती॥
पाती बाँचि न आवई, रहे नैन-जल-पूरि।
देखि प्रेम गोपीन कौ, ग्यान-गरब भयौ दूरि॥ ५ ॥



फिरि इत-उत बैहराइ, नीर नैननके सोधे।
ठाँनी कथा प्रबोधि, तबहि फिरि गोप-सँमोधे॥
जो ब्रत मुनिवर ध्यावहीं, पावत नर अवतार।
ते ब्रत सिख सब गोपिका, दूँहि जू बिषै-बिसार॥ ६ ॥



सुनि ऊधौ के बचन, रहीं कैं नीचे तारे।
मानों माँगति सुधा, आनि ब्यालनि-बिष जारे॥
हँम गँवारि का जानहीं, जोग-जुगति की रीति।
नँद-नंदन-ब्रत छाँडि कैं, को लिखि पूजै भीति॥ ७ ॥



अगमत अगाह अपार, आदि अव्यक्त है सोऊ।
आदि निरंजन नाँम ताहि, रंजै सब कोऊ॥
नैन नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म कौ बास।
अबनासी बिनसै नहीं, सहज जोति परगास॥ ८ ॥

ऊधौ, जो पग-पाँनि नाहिं ऊखल क्यों बाँधे।
नैंन, नासिका, मुख न, चोरि-दधि कौंने खाधे॥
तब जु खिलाए गोद में, बोलि तोतरे बैंन।
ऊधौ, ताहि बताव ही, जाहि न सूझै नैंन॥ ९॥

❀

माया अनित अधारी, ता लोचन दुइ नाखे।
ग्याँनी नैंन अनंत ताहि सूझैं परमाखे॥
बूझौ निगम-बुलाइ कैं, कहै भेद समुझाइ।
आदि-अंत जाकौ नहीं कौंन पिता, को माइ॥ १०॥

❀

ऊधौ, घर औ घूर, कहौ मन कहँ-कहँ धावै।
अपनौ घर परिहरै, कहौ को घूर बतावै॥
मूरख जादव जाति है, हमहिं सिखावै जोग।
हम सौं भूली कहत हैं, हम भूलीं कै लोग?॥ ११॥

❀

प्रेंम, प्रेंम तें होइ, प्रेंम तें पर है रहिए।
प्रेंम-बँधौ संसार, प्रेंम-परमारथ लहिऐ॥
एकै निसचै प्रेंम कौ जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचौ निसचै प्रेंम कौ, जाहिर मिलैं गुपाल॥ १२॥

❀

ऊधौ, कहि सत-भाव न्याइ तुम्हरे-मुख साँचै।
जोग-प्रेंम-रस-कथा, कहौ कंचन के काँचै॥
जाके पर है हुजिऐ, गहिऐ सोई नेंम।
मधुप, हमारी सौं कहौ, जोग भलौ कै प्रेंम॥ १३॥

❀

पाठान्तर—

१. हमहीं भूली कहत हैं, कै भूले सब लोग।
भूलौ हम तें कहत है, हम भूली धौं लोग॥

सुनि गोपिन के बैंन, नेंम ऊधौ तब भूले[1]।
ब्रज-बनिता-गुँन-गात, फिरत कुंजँन में फूले[2]॥
पुँनि गोपिन के पाँइ परि, कहत धन्न इहि नेंम[3]।
धाइ-धाइ द्रुम भेंटि हीं, ऊधौ काके प्रेंम॥ १४॥



धनि गोपी, धनि ग्वाल, धन्न सुरभी-बन-चारी।
धनि इहि पावन भूमि, जहाँ गोबिंद अभिसारी॥
उपदेसनि आयौ हुतौ, मोहि भयौ उपदेस।
ऊधौ जदुपति पैं चले, धरि गोपी कौ भेष॥ १५॥



भूले जदुपति नाम, कहत गोपाल गुसाँई।
एक बार ब्रज जाइ, देहु गोपिँन दिखराई॥
बृंदाबन-सुख-छाँड़ि कैं, कहाँ बसे हौ आइ।
गोबरधँन प्रभु जाँनि कैं, ऊधौ पकरे पाँइ॥ १६॥



ऊधौ, ब्रज की प्रेंम-नेंम बरनौं सब भाई।
उँमग्यौ नेंनन-नीर, बात कछु कही न जाई॥
'सूर' स्याँम भूलत भए, रह्यौ मेंन जल छाइ।
पोंछि पीत-पट सों कह्यौ, भल आए जोग-सिखाइ॥ १७॥



---

१. नेंम ऊधौ को भूल्यौ ......।
२. गावत गुँन गोपाल, फिरे कुंजन में फूल्यौ॥
३. सुँन गोपिन के पाँइ परि बदत धन्य पै नेंम।

परिशिष्ट—("ग")

उक्ति-समूह[1]

दोहा

ऊधौ जू सौं इक समैं, यहै कही ब्रजराज।
गोकुल-ग्राँम सिधारिए, परमारथ के काज॥ १॥

❀

उँनकी सौ अत-ही लगी, हँम सौं ऊधौ, प्रीति।
आते हँम कौं वे लहैं, जाइ सिखावौ रीति॥ २॥

❀

ऊधौ जू गोपींन कौं, जाइ देहु तुँम जोग।
जाते उनकौ बरु घटै, दारुन, दीरघ सोग॥ ३॥

❀

---

१. यह कलात्मक-कृति पहले लीथोमें छपी सुप्रसिद्ध हिंदी-लेखक पं० हरिशंकरजी शर्मा, लोहामंडी आगराके यहाँ देखनेमें आयी थी। अतः लोकोक्तियोंका इतना सुंदर संग्रहरूप कृष्ण-काव्य, विशेषकर 'उद्धव-गोपी'-संवादके रूपमें बड़ा सुंदर लगा। इसके पूर्व लोकोक्तियोंके कुंदनमें जड़ी एक रम्य-रचना "श्रीजगतानंद" कृत "उरखान भागवत दशम" देखनेमें आयी थी, वह भी अत्यन्त सुंदर थी। अस्तु, इन दोनों ग्रन्थ-रत्नोंके सुसंपादित रूपमें प्रकाशनकी चर्चा चली, पर वह हो न सका। इधर श्रीनंददासजीके "भ्रमरगीत" के साथ उसे देनेकी याद आयी, एक मित्रने इसके हस्तलिखित रूपमें प्राप्तिकी सूचना दी, अतः दौड़ा गया और येन-केन प्रतिलिपि कर ले आया, वही आज परिशिष्ट "ग" रूपमें प्रस्तुत है। रचना कैसी है, उसे विज्ञ पाठक देखें और समझें। —संपादक

आँनद सों ऊधो चले, आग्या लै ब्रजराज।
परमारथ मिलबौ भयौ,—"एक पंथ द्वै काज"॥ ४ ॥



ऊधो को आयौ सुँनौ, दौरीं देखन नारि।
"भूँखी ज्यौं बंगालिया, भातै-भात पुकारि" ॥ ५ ॥



कुसल-छेंम कों बूझि कैं, लै आँईं निज धाँम।
ऊधो सों फिर बूझि-हीं, कहा कह्यौ है स्याँम ॥ ६ ॥

उद्धव-वचन

हँम सों कही गुपाल ने, गोपिँन सों अति प्रीति।
जातें मो कों वे लहैं, जाइ बतावौ रीति ॥ ७ ॥



तब हँम सिच्छा दैन कों, आए गोकुल-ग्राँम।
मिलबे कौ ये जतँन है, जोग बतायौ स्याँम ॥ ८ ॥



तातें गोपी सकल तुँम, लेहु चारु यै जोग।
मिलि हौ तब तुँम कृष्ण सों, तजि हौ दारुँन सोग ॥ ९ ॥

गोपी-वचन

जोग लेहु री सार है, भली देत हौ सीख।
प्रेंम तजैं, जोगहिँ भजैं, "ज्यौंती-छोंडें भीख" ॥ १० ॥



ऊधो, हीरा-प्रेंम तजि, लैंहि गरे मैं काँच।
"जोई काछिँन-काछिऐ, सोई नँचिऐ नाँच" ॥ ११ ॥



ऊधो, लैंहि सुजोग कों, प्रेंम देंहिँ बिसराइ।
"घर की नाग न पूँजिऐ, बाँमी-पूँजैं जाइ" ॥ १२ ॥

कुंडलिया

बूझौ, ऊधौ जू सकल, हँमने तुम्हरौ ग्याँन ।
अबलँन के उपदेस कों, लाए ब्रज में ग्याँन ॥
लाए ब्रज में ग्याँन, हिए की नाँही जाँनत ।
"सूझै-बूझै नाँहिं गुलेल कौ, बितँन सु ठाँनत" ॥
'कहैं सदाँ सिवलाल', रावरौ भौत सँमूझौ ।
"रहौ मौन ह्वे सदाँ, बात इँन तें नहिँ बूझौ" ॥ १३ ॥



ऊधौ जू, गोपाल की, नाँहिं प्रीति में साख ।
"चार दिनाँ की चाँदनी, फेरि अँधेरौ पाख" ॥
'फेरि अँधेरौ पाख', राख तँन हँमने कीन्हों ।
ताकौ यै फल भयौ, जोग गोपिँन तुँम दीन्हों ॥
'कहैं सदाँ सिवलाल', तुँम्हें जाँन्यों हम सूधौ ।
रीति-करँन न अनीति भाँखिए आपन ऊधौ ॥ १४ ॥



दासी 'कुबजा' कंस की, ता कौ अधिक मिजाज ।
"नाज गगरिया में लखे, भयौ कुरिअटै-राज" ॥
'भयौ कुरिअटै राज', जँनम सों कुबरी बिगरी ।
वे चाँहें नहिँ कहैं, जाति हँम जाँनें सिगरी ॥
'कहै सदाँ सिवलाल', बनी यै जोरी खासी ।
"वे अहीर के पूत, करी बरबारी दासी" ॥ १५ ॥



आली, वा गोपाल कें, काहू की नहिं पीर ।
"काँम-सरें दुख-बीसरै, छाछ न देत अहीर" ॥
'छाछ न देत अहीर', प्रीति उननें कहँ पाई ।
"छेरी कौ जिय जाइ, नृपति के मनें न भाई" ॥

'कहै सदाँ सिवलाल', स्याँम के उर ना साली।
तुम कुर्धाँ-हिँ पचिमरौ, करौ नाहक सिर खाली॥ १६॥



ऊधौ, वे माँने नहीं, प्रीति जु हँम सौं राखि।
"नाव चढ़े झगराडूया, पैरन आँमे साखि"॥
'पैरन आँमे साखि', तैसोई तौ है सब सौं।
कथ न बूझियत बात, सुहागिल भाँखै सब सौं॥
'कहै सदाँ सिवलाल' स्याँन हँमरौ है सूधौ।
हँमें प्रेंम कौ नेंम, और नहिँ जाँनत ऊधौ॥ १७॥

दोहा

दासी सौं ऊधौ करी, हँम सौं प्रीति दुराइ।
"कूकुर चौक बिठारियौ, चाकी चाटैंन जाइ"॥ १८॥

कुंडलिया

स्याँम-सँदेसे के सुँनत, लग्यौ सखी, उर सेल।
"बपु चिकनियाँ वे भए, अंडी केरि फुलेल"॥
'अंडी केरि फुलेल', जोग कौ गरुऔ भाँखैं।
बसँन भँगौहे रँगौ, भली तुँम तँन में राखैं॥
'कहै सदाँ सिवलाल' लिखी यै कौंन पुराँनैं।
प्रेंम-हिँ सेवत अधिक, जोग हँम नाँहिन जाँनैं॥ १९॥



जाँनत-ही उनकौ सखी, है है बुद्धि सरिस्स।
"ढोलदार गुम्मज सुनौ, है अवाजदार फिस्स"॥
'है अवाजदार फिस्स', जोग गोपिँन कौं लाए।
सो ऊधौ, ब्रज-माँहिं, बड़े स्याँनी बन आए॥
'कहै सदाँ सिवलाल', आप-सौ औरँन माँनत।
ज्यों मूरख है आप, जगत मूरख ही जाँनत॥ २०॥



जा गुपाल सौं प्रीति कर, हँम चाँह्यौ रस-रास।
"नदी-किनारे रूखरा, जब-तब होइ बिनास" ॥
'जब-तब होइ बिनास', हितै ठाँनें सो भूलै।
हँम जाँनत-हीं नाँहिं, नेह यै दुख कौ मूलै ॥
'कहै सदाँ सिवलाल', डार मोंहिनी-जाल सौं।
बचँन न पायौ ऊधौ कोऊ, बा गुपाल सौं ॥ २१ ॥



बिगरौ हँमरौ ना तक्यौ, तोरी प्रीति चटाक।
"धोबी-बेटा चाँद सौ, सीटी और फटाक" ॥
'सीटी और फटाक', हँमारी कहा है बिँन कौं।
घर-बर-त्यागौ, काँनि गई, अब का है तिँनकौं ॥
'कहै सदाँ सिवलाल', देँह बदनाँमीं सिगरै।
"चाँहँ ताकी फटै, कहा धोबी कौ बिगरै" ॥ २२ ॥



पायौ जब सौं प्रेम हँम, नेँम रह्यौ न सुनाभ।
"आग-लगंते झोंपरा, जो निकसै सो लाभ" ॥
'जो निकसै सो लाभ', हँमारें नाँहिँ न इच्छा।
चाँहें उनसौं मिलौ, लेंहिं तौ तुँम्ह सौं सिच्छा ॥
'कहै सदाँ सिवलाल', हँमारें निसचै आयौ।
"लोई न्हाँई गंग, सोई हँमने फल पायौ" ॥ २३ ॥



आली, लागी होइ तौ, तौ मन पीर पिराइ।
"छुरी पराए पेट में, माँनौं भुस में जाइ" ॥
'माँनौं भुस में जाइ', जोग गोपिँन कौं अब-री।
करते रास-बिलास, ग्याँन जब हो कहँ तब-री ॥
'कहै सदाँ सिवलाल', "भीत गों कौ बँनमाली।
कुबजा सौं रति आप, देत सिच्छा हँमें आली ॥ २४ ॥



दीन्हो सोग हँमें सखि, कहँ जोग उपदेस ।
“जैसे कंथा घर रहे, तैसे गए बिदेस” ॥
‘तैसे गए बिदेस’, हँमारौ लहँनौ ना-री ।
लगरी ज्यों-ज्यों सखी, हँमें त्यों-त्यों भरि भारी”॥
‘कहै सदाँ सिवलाल’, इतौ अपराध न कीन्हौ ।
निज तँन दीरघ दंड सखी, गोपिँन कौं दीन्हौ ॥ २५ ॥



ऊधौ जू, तब-हीं सु किँन, जोग दियौ गोपाल ।
“औसर-चूकी डोंमिनी, गावै सरग-पताल” ॥
‘गावै सरग-पताल’, रास काहे सुख ल्याए ।
इतौ कहाँ जब स्याँम, सुधा-रस अधर-पिवाए ॥
‘कहै सदाँ सिवलाल’, जाँनतीं-ही हँम सूधौ ।
तब नहिं दीन्हीं स्याँम, देत सिच्छा अब ऊधौ ॥ २६ ॥



भाँखैं ऊधौ, कहाँ-लौं, देख्यौ अपनौ भाग ।
“घरकी मारी बन गई, बन-हूँ लागी आग” ॥
‘बन हूँ लागी आग’, धाँम-बँन भाजे तजि कैं ।
करी स्याँम सौं प्रीति, लयौ सुकलंक सिर बजि कैं ॥
‘कहै सदाँ सिवलाल’, काँन्ह ते बैर सु राखैं ।
इनँ करमँन कौ दोष, बुरौ क्यों उनकौ भाँखैं ॥ २७ ॥



ऊधौ, दासी राखि कैं, बातँन-मोंहि बड़े ।
“एक करेला कारए, दूँजें नीम चढ़े” ॥
‘दूजैं नीम चढ़े’, अहीर कौ पीर कहाँ-री ।
भूलीं हम-हीं सखी, कपट की खाँन मुरारी ॥
‘कहै सदाँ सिवलाल’, जाँनतीं हरि कौं सूधौ ।
“अरहर टटिया कुलफ,—गुजराती ऊधौ” ॥ २८ ॥



ऊधौ, कुबजा सों करी, प्रीति हँमें दै पींठ।
"साजँन, साजँन दुरि मिले, झूँठे परे बसीठ" ॥
'झूँठे परे बसीठ', लगौ-री आप बाट कौ।
"धोबी कौ कूकरा, भयौ ना घर-हि" घाट कौ" ॥
'कहै सदाँ सिबलाल', करौ ऐसौ बनमाली।
आप करत हैं भोग, जोग गोंपिँन कों आली ॥ २९ ॥



ऊधौ, आगें ना हत्ती, या सुग्याँन की खोइ।
"ज्यों-ज्यों भींजै काँमरी, त्यों-त्यों भारी होइ" ॥
'त्यों-त्यों भारी होइ', जोग वे हँमें सिखावें।
औरँन हँमैं सगुँन—आप 'कुलँन-चुथवावें' ॥
'कहै सदाँ सिबलाल', जाँनती हरि कों सूधौ।
कुबजा सों करि भोग, देति सिच्छा सों ऊधौ ॥ ३० ॥



ऊधौ, स्याँम-सुहाग की, कुबजा के सिर सिद्ध।
"घर कौ जोगी, जोगनाँ, आँन गाँउँ कौ सिद्ध" ॥
'आँन गाँउँ कौ सिद्ध', पठायौ हँमें जोग है।
लखिएँ ये सुबिबेक, वाहि दासी सु भोग है ॥
'कहै सदाँ सिबलाल', जाँनती-हीं हरि-सूधौ।
"मिल वायस औ हंस, भली जोरी सुभ ऊधौ" ॥ ३१ ॥

चौपई

ऊधौ, यहाँ जोग लै आये। "ज्यों भैंसिन मैं बींन बजाए" ॥
तहाँ जोग बिस्तारौ भाई। "थोथौ फटकें उड़-उड़ जाई" ॥ ३२ ॥



हदैं बसत ताकों तू अयौ। जीवँन-मूरि क्रूर लै गयौ ॥
लेहु प्राँन जो हँमरे पास। "गएँ अंक, का उर की आस" ॥ ३३ ॥

निस दिन प्राँन हँमारे उड़ैं। "फूटे-बासँन कब तक चुड़ैं" ॥
इक तौ मरती स्याँम बियोग। "ता पर कहत लेहुरी जोग" ॥ ३४ ॥



बुद्धिबती कुबजा-सी तिया। "गोंडिया गाँउँ कुँम्हार म्हैतिया" ॥
बृथाँ सु-जो करती है बैर। "जल मैं बसैं मगर सौं बैर" ॥ ३५



प्रीति करी हँम पायौ जोग। "भाग आपने कुबजा-भोग" ॥
"करॅम-हीन जब खेती करै। बैल मरै, कै सूखा परै" ॥ ३६ ॥
जाँनैं हँमरी सखी बलाइ। "अंधौ पीसै कुत्ता-खाइ" ॥
और कलंक लेहु ब्रजनाथ। "बगुला-मारैं टखना हाथ" ॥ ३७ ॥



देहु जोग सिर चूक सुधारौ। "चेरी करतब लातँन मारौ" ॥
ऊधौ कौं मत सूधौ जाँनों। या सौं कपटी औरन मानों ॥ ३८ ॥



आली, पु उँन मनुषँन-माँहे। "कोढ़ी मरै सँगाथी चाँहें" ॥
छोटे ऊधौ, बड़े तमाँसे। "हाथी लटै तऊ बटिहा से" ॥ ३९ ॥



ऊधौ, गोपिँन सों का काज। "सूनों घर भिड़ियेन कौ राज" ॥
इँन दुर्बॅन सौं छाती जरै। "बटी धार चमरा घर परै" ॥ ४० ॥



"टटुआ चढ़ि जीतै सग्राम। क्यों ग्वरचै तुरकेंन को दाँम" ॥
जिननैं प्रेम-सुधा-रस चख्यौ। "ऊधौ, मन न कछू अभिलख्यौ" ॥ ४१ ॥



नीच-प्रसंग स्याँम की भूल। "खजुही कुतिया, मखमल झूल" ॥
देखो, वा करता कौ खेल। "साँस-छेछुंदर परचौ फुलेल" ॥ ४२ ॥



ऊधौ जू, हँम कों यै भई। "बाँस खाइ, उतराई दई" ॥
ऊधौ, ब्रज कौ पैंडौ बेंड़ौ। "नाँच न आवै आँगन टेढ़ौ" ॥ ४३ ॥



आँनी बात चलावै कोंन। "भेंस न कूदी, कूदी गोंन" ॥
लीजै नेंम, प्रेंम कों छोर। "परधँन देखें रोवैं चोर" ॥ ४४ ॥



"नींकी अपनी नाँहिँ कँमाई। कैसें दोष देंइ-री माई" ॥
ह्वैनों ना हमरौ उन-साथ। "भरे सँमुदर घोंघा हाथ" ॥ ४५ ॥



ऊधौ जू, हँमरी यै भूल। "प्रीति करी, सो दुख कौ मूल" ॥
अब यै जीवँन काटौ खेई। "बोंधौ बनियाँ, सीधौ होई" ॥ ४६ ॥



हँम कों ऊधौ ग्याँन बतावै। "कोऊ मरै, मलारै गावै" ॥
कपटी कुबजा सोहत गाढ़ी। "गज-भर मियाँ, सवा गज डाढ़ी" ॥ ४७ ॥



जीवँन-मूरत स्याँम निहारौ। नेंनन आगें टरत न टारौ ॥
टँट परी चंदँन के घिस्सर। "कोरिँन के बेगारी मिस्सर" ॥ ४८ ॥



नेंन-मूँदि कें ध्याँनें धरें। "कुँइयाँ-डारे पाथर सरें" ॥
करी प्रीति सो स्याँमहिँ तैसी। ऊधौ जू, करिहै को ऐसी ॥ ४९ ॥



ऊधौ, हँमरें ना बिसवास। "टूटौ रिनियाँ घर में बास" ॥
कुबजा सों उन जोरी प्रीति। ऊधौ, यहै बड़ेन की रीति ॥ ५० ॥



जासों होत सरीर आग में। "डेढ़ बकायँन मियाँ बाग में" ॥
जोग नहीं जो हँमरौ काँम। मन में चुभ्यौ सलोंनों स्याँम ॥ ५१ ॥



ऊधौ जू, हँम कौं यै भई। "गडुआ-गदत ओरि ह्वै गई" ॥
कुबजा करी स्याँम पटरानी। प्रीति न नैंकौ हँम सौं माँनी ॥ ५२ ॥

जाँन परयौ इँनकौ मनसूबा। "जोगी बदैं बुभावैं तूंबा" ॥
कुबजा के जु अटारी-अटा। "नई जोगनी, गोड़ मैं जटा" ॥ ५३ ॥

जो चाँहैं सौ दासी करै। श्री गुपाल जू कौ मन हरै ॥
ऊधौ जू, कछु कहत न आवै। "घर कौ भेदी, लंका ढावै" ॥ ५४ ॥

ठाँनी प्रीति चार दिंन स्याँम। ऊधौ करीं हँमें बदनाँम ॥
हाइ, हमें दै ऑनाकोंनी। "बछिया थोरी, हत्या पौंनी" ॥ ५५ ॥

ऊधौ, भलौ बनौं यै जोग। जा कौं सकल हँसत हैं लोग ॥
स्याँम करी कुबजा सौं प्रीति। "अंधौ मुला, फटी मजीति" ॥ ५६ ॥

होत हँमारी छाती जरॅन। "मूँड़-मुड़ाउत ओरे परॅन" ॥ ५७ ॥

सोरठा

जहाँ, स्याँम की चाँह, प्रघटत ऊधौ जोग तहँ।
हँम डोम्यों कौ ब्याह, "गावत गीत मसीत के" ॥ ५८ ॥

कुंडलिया

आए ऊधौ, तुँम भले, देत जोग उपदेस।
"आपुँन मीयाँ मगते, द्वार खरे दरवेस" ॥
'द्वार खरे दरवेस', बेस अँग भूरि लगाएँ।
माथैं राखी जटा, अँगोहे बसॅन रँगाएँ ॥
'कहै सदाँ सिवलाल', धरँम यै कैसौ लाए।
अबलॅन कौं है जोग, बड़े ग्यॉनी बन आए ॥ ५९ ॥

चौपई

ऊधौ, हँम देखी अवगाहि। "लेखें-जोखें नदिया थाह" ॥
स्याँम नहीं गोपिँन के मीत। "होत अंकुरो खायौ सीत" ॥ ६० ॥

❀

अब काहे कौ दरद हँमारौ। "तेली-बैलै नाहर मारौ" ॥
हँमरें सदाँ प्रेंम कौ नेंम। "सोहै लौहि छाँड़ि ज्यों हेंम"॥ ६१ ॥

❀

ना ए पूरे, ना ए आधे। जोगी कूर मौंन ही साधे ॥ ६२ ॥

सोरठा

है अहीर की जाति, देत हँमें हरि जोग कों।
नाँइन नई जनाति, लऐं नहन्ना बाँस कौ ॥ ६३ ॥

छंद जमका

ऊधौ कों न काइल करौ, मत करौ तंग।
"नंग के घर नंग आए, पैहेर आए झंग" ॥ ६४ ॥

सोरठा

धरौ जोग बकसीस, ऊधौ जू, यै प्रीति फल।
"ऊखर-दीन्हौं सीस, चोटँन कौ अब डर कहा" ॥ ६५ ॥

❀

करौ बैठ उपहास, ऊधौ सों का बावरी।
"नाहिँन सूत-कपास, कोरी सों लाठी-लठा" ॥ ६६ ॥

चौपई

दरसँन देते बड़ी कृपाती। देखें पाती जरती छाती ॥
भेंटे स्याँम अरे जिह देह। ता में कहत लगाँमन खेह ॥ ६७ ॥

❀

भलौ करौ ऊधौ, उपदेस। "रँगे स्यार ने खायौ देस" ॥
यामें बात कहै कोउ कैंस। "जाकी लाठी ताकी भेंस" ॥ ६८ ॥

कुडलिया

तुम ग्यॉनी पूरे बनौ, हौं नहिं ग्यॉने पॉउ ।
"गुर के गुँम बादर करे, तोर-तोर कें खाउ" ॥
'तोर-तोर कें खाउ', चाउ है बड़ो ओग सौं ।
आपुँन बाँधे रोग, हटावौ हँम भोग सौं ॥
'कहैं सदॉं सिवलाल', मदॉ के हौ गुँम ग्यॉनी ।
"मूसर के नौं टका, बात हँमने अब जॉनी" ॥ ६९

चौपई

काहे खाली करतौ माथ। "धोएँ कुठला कीचैं हाथ" ।
ऊधौ जू, ब्रज में फिरि ऑंमे। कहियो जाइ तबै सुख पॉमे ॥ ७० ॥

❀

भार हँमारौ ऊँन सौं छूटै। "सॉप मरौ ना लाठी टूटै" ॥
ऊधौ इँन बातँन रस नॉहीं। समझ लेउ अपने मन मॉहीं ॥ ७१ ॥

❀

बूरौ न मॉनौं ऊधौ ब्रज कौ। "लका छोटौ बॉमन गज कौ" ॥ ७२

दोहा

भाषा-जुक्ति-समूह कौ, बरन्यो सिव परसाद ।
ऊधौ अरु गोपीन कौ, लैकर हिय संबाद ॥ ७३ ॥

❀

जाकौ सुँन रस-रंग कौ, होत बनाइ प्रकास ।
गोबिंद, गोपीजँन-सहित, करैं हृदै में बास ॥ ७४ ॥

❀

अष्टादस बसु षट गिनैं, संवत करौ बिचार ।
माधव सुकला पचमी, अदिति नखत गुरुवार ॥ ७५ ॥

अर्थात्

संवत् १८८६ वि०

॥ इति श्रीसदाशिवलालकृत "जुक्ति समूह" समाप्त ॥

श्रीहरिः

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाकी पुस्तकें

(सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[भ]क्त बालक–पृष्ठ ७६, सचित्र, इसमें गोविन्द, मोहन, धन्ना, चन्द्रहास और सुधन्वाकी कथाएँ हैं। मूल्य ... .३१

[भ]क्त नारी–पृष्ठ ६८, एक तिरंगा तथा पाँच सादे चित्र, इसमें शबरी, मीराबाई, करमैतीबाई, जनाबाई और रबियाकी कथाएँ हैं। मूल्य .३१

[भ]क्त-पञ्चरत्न–पृष्ठ ८८, एक तिरंगा तथा एक सादा चित्र, इसमें रघुनाथ, दामोदर, गोपाल, शान्तोबा और नीलाम्बरदासकी कथाएँ हैं। मूल्य ... ... .३१

आदर्श भक्त–पृष्ठ ९८, एक रंगीन तथा ग्यारह सादे चित्र, इसमें शिवि, रन्तिदेव, अम्बरीष, भीष्म, अर्जुन, सुदामा और चक्रिककी कथाएँ हैं। मूल्य ... ... .३१

भक्त-चन्द्रिका–पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र, इसमें साध्वी सखूबाई, महाभागवत श्रीज्योतिपन्त, भक्तवर विट्ठलदासजी, दीनबन्धुदास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर गाथाएँ हैं। मूल्य .३१

भक्त-सप्तरत्न–पृष्ठ ८८, सचित्र, इसमें दामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेष्ठी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और सालबेगकी कथाएँ हैं। मूल्य ... ... .३१

भक्त-कुसुम–पृष्ठ ८४, सचित्र, इसमें जगन्नाथदास, हिम्मतदास, बालीग्रामदास, दक्षिणी तुलसीदास, गोविन्ददास और हरिनारायणकी कथाएँ हैं। मूल्य ... ... .३[१]

प्रेमी भक्त–पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र, इसमें बिल्वमङ्गल, जयदेव, रूप-सनातन, हरिदास और रघुनाथदासकी कथाएँ हैं। मूल्य ... .३[१]

प्राचीन भक्त–पृष्ठ १५२, चार बहुरंगे चित्र, इसमें मार्कण्डेय, महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख, कण्डु, उत्तङ्क, आरण्यक, पुण्डरीक, चोलराज और विष्णुदास, देवम..., भद्रतनु, रत्नग्रीव, राजा सुरथ, दो मित्र भक्त, चित्रकेतु, वृत्रासुर एवं तुलाधार शूद्रकी कथाएँ हैं। मूल्य ... ...

भक्त-सौरभ–पृष्ठ ११०, एक तिरंगा चित्र, इसमें श्रीव्यासदासजी, मामा श्रीप्रयागदासजी, शंकर पण्डित, प्रतापराय और गिरधरकी कथाएँ हैं। मूल्य ... .

भक्त-सरोज–पृष्ठ १०४, एक तिरंगा चित्र, इसमें गङ्गाधरदास, श्रीनिवास आचार्य, श्रीधर, गदाधर भट्ट, लोकनाथ, लोचनदास, मुरारिदास, हरिदास, भुवनसिंह चौहान और अङ्गदसिंहकी कथाएँ हैं। मूल्य

भक्त-सुमन–पृष्ठ ११२, दो तिरंगे तथा दो सादे चित्र, इसमें विष्णुचित्त, विसोबा सराफ, नामदेव, राँका-बाँका, धनुर्दास, पुरन्दरदास, गणेशनाथ, जोग परमानन्द, मनकोजी बोधला और सदन कसाईकी कथाएँ हैं। मूल्य ... .

भक्त-सुधाकर–पृष्ठ १००, भक्त रामचन्द्र, लाखाजी, गोवर्धन, रामहरि, डाकू भगत आदिकी १२ कथाएँ हैं, चित्र १२, मूल्य

भक्त-महिलारत्न–पृष्ठ १००, रानी रत्नावती, हरदेवी, निर्मला, लीलावती, सरस्वती आदिकी ९ कथाएँ हैं, चित्र ७, मूल्य ...

भक्त-दिवाकर–पृष्ठ १००, भक्त सुव्रत, वैश्वानर, पद्मनाभ, किरात और नन्दी वैश्य आदिकी ८ कथाएँ हैं, चित्र ८, मूल्य ...

भक्त-रत्नाकर–पृष्ठ १००, भक्त माधवदासजी, भक्त विमलतीर्थ, महेशमण्डल, मङ्गलदास आदिकी १४ कथाएँ हैं, चित्र ८, मूल्य ...

ये बूढ़े-बालक, स्त्री-पुरुष—सबके पढ़ने योग्य, बड़ी सुन्दर शिक्षाप्रद पुस्तकें हैं। एक-एक प्रति अवश्य पास रखने योग्य है।

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर**

.क्त–पृष्ठ १५२, चार बहुरंगे चित्र, इसमें मार्कण्डेय, महा
ल्य और राजा शङ्ख, कण्डु, उत्तङ्क, आरण्यक, पुण्डरीक,
.ज और विष्णुदास, देवम..., भद्रतनु, रत्नग्रीव, राजा
, दो मित्र भक्त, चित्रकेतु, वृत्रासुर एवं तुलाधार शूद्रकी
; हैं । मूल्य ... ... ,५

२–पृष्ठ ११०, एक तिरंगा चित्र, इसमें श्रीव्यासदासजी,
श्रीप्रयागदासजी, शंकर पण्डित, प्रतापराय और
की कथाएँ हैं । मूल्य ... ...

२–पृष्ठ २०४, एक तिरंगा चित्र, इसमें गङ्गाधरदास, श्रीनिवास
, श्रीधर, गदाधर भट्ट, लोकनाथ, लोचनदास, मुरारिदास,
, भुवनसिंह चौहान और अङ्गदसिंहकी कथाएँ हैं । मूल्य .३७

–पृष्ठ ११२, दो तिरंगे तथा दो सादे चित्र, इसमें विष्णु-
.सोना सराफ़, नामदेव, राँका-बाँका, धनुर्दास, पुरन्दरदास,
य, जोग परमानन्द, मनकोजी बोधला और सदन
कथाएँ हैं । मूल्य ... ... .३७

–पृष्ठ १००, भक्त रामचन्द्र, लाखाजी, गोवर्धन,
.कू भगत आदिकी १२ कथाएँ हैं, चित्र १२, मूल्य .५०

त्न–पृष्ठ १००, रानी रत्नावती, हरदेवी, निर्मला,
सरस्वती आदिकी ९ कथाएँ हैं, चित्र ७, मूल्य ... .४५

.–पृष्ठ १००, भक्त सुव्रत, वैश्वानर, पद्मनाभ, किरात
। वैश्य आदिकी ८ कथाएँ हैं, चित्र ८, मूल्य ... .४५

–पृष्ठ १००, भक्त माधवदासजी, भक्त विमलतीर्थ, महेश-
गङ्गलदास आदिकी १४ कथाएँ हैं, चित्र ८, मूल्य ... .४५

.लक, स्त्री-पुरुष-सबके पढ़ने योग्य, बड़ी सुन्दर और
कें हैं । एक-एक प्रति अवश्य पास रखने योग्य है ।

मिलनेका पता—
गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

मिलनेका पता—
गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)